जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि

विषय-सूची

१ धर्म को आधुनिक युग की चुनौती

१ आइडियलिज्म (प्रत्ययवाद या आदर्शवाद) क्या है ?

आइडियलिज्म एक सन्दिग्धार्थक शब्द है और अनेक प्रकार के दृष्टिकोणों को प्रकट करने के लिए उसका प्रयोग किया जाता है। आइडिया (प्रत्यय) का अर्थ एक ऐसा एकांतव्यापी मानसिक बिम्ब (मेंटल इमेज) माना जाता है जो प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग होता है और बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद (मैंटलिज्म) और बर्कले के एम्पीरिसिज्म (अनुभववाद) शब्दों में इसी अर्थ में समस्त ज्ञान को आइडिया (प्रत्यय) बताने का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार ब्रह्माण्ड मे विद्यमान समस्त वास्तविक वस्तुएँ ऐसी ही चीजें हैं जिनसे आइडिया (प्रत्यय) बनते हैं। प्रत्यय या बिम्ब स्वतःपूर्ण सत्ताएं हैं ये एक ऐसे विश्व को जानने के मार्ग नहीं हैं जो उनसे अधिक मौलिक और वास्तविक है। 'आइडिया' शब्द का प्रयोग पूर्ण व्यापी प्रत्यय (युनिवर्सल नोशन) के अर्थ में भी किया जाता है। यह प्रत्यय वैयक्तिक और तत्कालीन नहीं होता बल्कि यह विद्यमान सत् का एक ऐसा गुण है जो अन्य सत् एवं दूसरे मनों के द्वारा ज्ञेय वस्तुओं में भी पाया जाता है। बर्कले की आइडिया-सम्बन्धी प्रथम उक्ति विज्ञानवादी अधिक है क्योंकि उसमें यह माना गया है कि सत्ता का अर्थ है स्वयं जानना या दूसरों के द्वारा ज्ञेय होना। किन्तु उसकी संशोधित उक्ति जिसमें 'पूर्ण व्यापी प्रत्यय' पर अधिक बल दिया गया है, उपर्युक्त दूसरी अर्थ मे आती है। काण्ट की दृष्टि में ज्ञान का अर्थ है इन्द्रियजन्य बहुविध प्रत्यक्ष अनुभव का विचार की विभिन्न श्रेणियों (पदार्थ भेद—कैटेगरी) द्वारा विस्तार। यद्यपि इससे उसका मुख्य आशय विभिन्न पदार्थों को एक ऐसा साधन मानने से है जिससे कि वस्तु मात्रों (थिंग इटसेल्फ) की परिधि में पड़ा हुआ विश्व ससीम मन पर अपने-आपको अभिव्यक्त करता है, किन्तु उसका अन्तर्निहित अर्थ यह भी है कि पदार्थ भेद केवल आत्मनिष्ठ और प्रासंगिक हैं जबकि यथार्थता एक विभिन्न पदार्थों में अविभाजित और अप्रत्ययी

इस विश्व है जिसके साथ हम अव्यवहित प्रत्यक्ष के द्वारा प्र-त-न सम्पर्क में आते है। पदार्थ-भेद की ये प्रवृत्तियां तो बाद के विचार में विकसित होती है। यद्यपि हेगल और उसके अनुयायी यथार्थ सत्ता को विचार के सम्बन्धों म निर्मित मानते है तथापि आधुनिक यथार्थवादी ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष से होने वाले विविध अनुभवों पर ही बल देते है। यद्यपि हेगेल के अनुयायी प्रत्ययवादियों की दृष्टि म वास्तविक सत्ता प्रत्ययो का द्वन्द्व है तथापि कोई भी आधुनिक दार्शनिक यह नही मानता कि अनुभव किया जाने वाला यह विश्व केवल प्रत्ययों से बना है। किन्तु क्रोचे की दृष्टि मे सत्ता मानसिक क्रिया है। यहाँ तक कि किसी बाह्य यान्त्रिक और प्राकृतिक वस्तु की अवधारणाए भी मन को स्वयं अपने (मन के) द्वारा दी गई दत्त सामग्री (डेटा) है। मन समस्त संज्ञानात्मक अनुभव में एक आन्तरिक प्रक्रिया के रूप मे अन्तर्निहित रहता है और ज्ञान को वस्तुनिष्ठ आकार प्रदान करता है। बाह्य वस्तु के साथ उसका परोक्ष सम्बन्ध नही होता जिसमे कि वह निष्क्रिय होकर उसे देखे। एक तीसरा अर्थ भी है जिसमे कि 'आइडिया' शब्द का इस्तेमाल किया जाता है। जब हम किसी वस्तु या कार्य के सम्बन्ध में यह प्रश्न करते है कि इसम क्या 'आइडिया' है ('ह्वाट इज दि आइडिया ?') तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि इसमें सिद्धान्त क्या है इसके अस्तित्व का अर्थ या प्रयोजन क्या है या इस कार्य का उद्देश्य या मूल्य क्या है ? इसका अभिप्राय क्या है ?[२] यह विचार या मूल्य कार्यकारी सृजनात्मक शक्ति है। एक आइडियलिस्ट (आदर्शवादी) विचारधारा यह स्वीकार करती है कि ब्रह्माण्ड का एक अर्थ है एक मूल्य है। आदर्शवादी या उद्देश्यवादी मूल्य ब्रह्माण्ड की गतिशील शक्तियाँ प्रेरक बल है। विश्व उद्देश्यों की एक प्रणाली के रूप मे ही बुद्धिगम्य है। इस दृष्टिकोण का इस प्रश्न से कोई सरोकार नही है कि कोई वस्तु मात्र एकाकव्यापी विश्व है या एक सामान्य (पूर्ण व्यापी) सम्बन्ध। ज्ञाता और ज्ञात अलग-अलग है या नही इस प्रश्न से भी इसकी शायद ही कोई संगति हो। यह दृष्टिकोण इस सिद्धान्त से भी बँधा हुआ नही है कि यह विश्व मन से असीम मन से या अनेक मनों के समूह से बना हुआ है। इस अर्थ मे 'आइडियलिज्म' (आदर्शवाद) का सम्बन्ध वास्तविक सत्ता की अन्तिम प्रकृति से है, फिर चाहे ज्ञाता मन के साथ उसका कोई भी सम्बन्ध

१ देखिए एच. विल्डन कार 'दि फिलासफी आफ बेनेडेटो क्रोचे' (१९१७) पृष्ठ १९ २०।
२. देखिए जे. एच. म्यूरहेड 'दि [illegible] दि [illegible]' (युनिवर्सिटी आफ कैलिफोर्निया पब्लिकेशन्स इन फिलासफी) खण्ड ८ १९२६।

हो। यह इस प्रश्न का उत्तर है कि इस समस्त विश्व का अन्तर्निहित सिद्धान्त उसका अर्थ और उद्देश्य क्या है? इसका उन विचारों और दृष्टिकोणों से कोई साम्य नहीं है जो वास्तविक सत्ता यानी विश्व को एक अविवेकात्मक अन्ध प्रयत्न या एक ऐसी भयंकर दयनीय भूल मानते हैं जिसका कोई प्रतिकार नहीं किया जा सकता। यह आइडियलिज़्म जीवन को अर्थपूर्ण और सोद्देश्य मानता है। इसकी दृष्टि में मनुष्य को एक ऐसे लक्ष्य की ओर जाना है जो केवल प्रत्यक्ष जगत् तक ही सीमित नहीं है। 'एज यू लाइक इट' में जब टचस्टोन कोरिन से पूछता है "गड़रिये, क्या तुममें कोई फिलासफी (दर्शन) है?" तो 'फिलासफी' से शेक्सपीयर का अभिप्राय किसी अमूर्त विचारों की दार्शनिक प्रणाली से या उसकी टेक्निकल दिशा से नहीं है बल्कि एक ऐसी मानसिक अभिवृत्ति से है जिसकी सर्वोत्तम व्याख्या 'आइडियलिस्टिक' (आदर्शवादी) शब्द से की जा सकती है। उसके प्रश्न का अभिप्राय यह है कि क्या तुममें वह आध्यात्मिक उच्चता, विशालता और गहराई है, वह विमर्शात्मक जिज्ञासा और आत्मचिन्तन की वृत्ति है, वह मानसिक उत्कण्ठा है जिससे मनुष्य उन आध्यात्मिक तत्त्वों को जान सकता है जो वस्तुतः *उसके सच्चे आवास-स्थल हैं। या तुम भी उन अविमर्शी लोगों की भाँति के हो* जो व्यापार या राजनीति या खेल में ही सन्तुष्ट रहते हैं, जिनका जीवन किसी आदर्श अर्थ से रहित शुष्क नीरस जीवन है? फिलासफी (दर्शन) का अर्थ है अवधारणा, चिन्तन, अन्तर्दृष्टि और फिलासफर (दार्शनिक) को तब तक शान्ति नहीं मिल सकती जब तक कि वह वस्तुओं और व्यक्तियों के संसार की वह कुंजी नहीं पा लेता जिसके द्वारा वह विविध अनुभवों की किसी-न-किसी रूप में एक उद्देश्य के अभिव्यंजक के रूप में व्याख्या कर सके।

जीवन का आदर्शवादी या प्रत्ययवादी दृष्टिकोण किसी एक ढाँचे (पैटर्न) में प्रकट नहीं किया जाता। यह बहुरूपी है और उसके आकार विविध प्रकार के हैं। फिर भी इन सब विविध और विरोधी दृष्टिकोणों के मूल में कुछ सामान्य बुनियादी धारणाएँ हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि वे सब एक ही भावना की उपज हैं। पूर्व और पश्चिम दोनों में आदर्शवादी विचारधारा का एक लम्बा और अविच्छिन्न इतिहास है। पूर्व में वेदों के आदिस्रोतों में जिनमें उपनिषद् भी शामिल हैं और पश्चिम में सुकरात और प्लेटो ने इस सिद्धान्त को व्यापक और सर्वांगीण रूप में प्रस्तुत किया है। हिन्दू-विचारधारा के यथार्थवादी दर्शनों न्याय और वैशेषिक, सांख्य, योग और मीमांसा का उपनिषदों की आदर्शवादी

परम्परा के बुनियादी आशय से कोई गम्भीर मतभेद नहीं है। यह परम्परा यह है कि सच्चे अर्थों में वास्तविक सत्ता से उच्चतम मूल्य पृथक् नहीं है। परम ब्रह्म सत्, चित् और आनन्दमय है। पश्चिम में भी सुकरात और प्लेटो से लेकर बोसांके और अलेग्जेण्डर[1] तक उच्च मूल्य और सत्ता के बीच चरम सम्बन्ध के आदर्शवादी दृष्टिकोण की एक अविच्छिन्न परम्परा विद्यमान है। प्लेटो की दृष्टि में ब्रह्माण्ड का अर्थ है अच्छाई (शिव) की प्राप्ति। ब्रह्माण्ड उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही विद्यमान है।

जैसा कि हेगेल ने कहा है, एक अर्थ में समस्त दर्शन आदर्शवादी है। प्रतीयमान और वास्तविक में, तथ्य और सत्य में, सत्ता और तत्त्व में भेद करके दर्शन यह स्वीकार करता है कि प्रपंचमय जगत् से परे एक आदर्श जगत् भी है। यहाँ तक कि चरम भौतिकवाद भी एक तरह से आदर्शवाद ही है, भले ही वह एक स्थूल किस्म का हो, क्योंकि उसमें जिस भौतिक वस्तु के रूप में समस्त सत्ता को स्वीकार किया गया है वह मूर्त वास्तविक वस्तु नहीं है, बल्कि एक अमूर्त प्रत्यय है। आधुनिक भौतिक विज्ञान हमारे अव्यवहित अनुभव में आने वाले संसार को छायाओं और बिन्दुओं के संसार में परिणत कर देता है। आयन, इलेक्ट्रान और इड (माइक्रोप्लाज्म या जननद्रव्य का सूक्ष्मतम एकक) इनका प्रपंच नहीं है फिर भी वास्तविक वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया जाता है क्योंकि वे हमारी चिन्तन की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। हम मूर्त (कंक्रीट) की ओर लौटने की चाहे जितनी कोशिश करें हमें वास्तविक सत्ता को अन्ततः मूर्त के रूप में प्रस्तुत करना कठिन प्रतीत होता है। प्रत्यय सदा हमेशा हमारे साथ रहते हैं क्योंकि वे वास्तविक सत्ता का तात्त्विक अंग हैं और यदि हम आदर्शों या मूल्यों के रूप में उनकी व्याख्या करें तो उससे हमारे सामने ब्रह्माण्ड का एक प्रत्ययवादी दृष्टिकोण उपस्थित होता है। यदि हम विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के आपसी विवाद के कोलाहल से बहक नहीं और उनको रूप प्रदान करने वाली गहरी धाराओं को देखें तो हम उनमें आदर्शवाद की अन्तर्दृष्टि पर आग्रह की सबल प्रवृत्ति देखेंगे भले ही उसे प्रकट करने की उनकी भाषा और शैली अलग अलग हों। आदर्शवाद को आज हमारी समस्याओं पर विचार कर हमें उनका सामना करने में सहायता

१ मैंने यहां अलेग्जेंडर का उल्लेख या जिक्र इसलिए किया है कि [illegible] और [illegible] के [illegible] के बारे में [illegible] [illegible] की [illegible]

देनी होगी। इसलिए आज यह वक्त आ गया प्रतीत होता है जबकि इस बात को नए सिरे से कहने की आवश्यकता है।

आज का परिवर्तमान संसार हम पर बलात् जो कठिनाइयाँ और विसंगतियाँ लाद रहा है उनकी गहराइयों को जिन लोगों ने अनुभव नहीं किया वे इस बात को नए सिरे से पुनः कहने की सार्थकता को नहीं समझ सकते। यद्यपि ये कठिनाइयाँ अत्यन्त स्पष्ट हैं फिर भी कभी-कभी अत्यन्त स्पष्ट पर भी बल देना आवश्यक हो जाता है। समस्या को जानना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि उसके समाधान को जानना। एक तरह से दर्शनशास्त्र का हमें अपनी समस्या के प्रति सजग बनाना ही उसके समाधान में हमारी सहायता करता है। आज हमारे जीवन और विचार में कौनसे मुख्य तत्त्व सक्रिय हैं? इस पहले अध्याय में इन तत्त्वों पर ही संक्षिप्त विचार करना चाहता हूँ।

२ वैज्ञानिक पद्धति

हमारे पुराने संसार को इतना अधिक बदलने वाली सभी शक्तियों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक विज्ञान है, जिसने अपनी पद्धतियाँ और निष्कर्ष हम पर थोपकर उस वातावरण को ही बदल डाला है जिसमें हम रहते चलते फिरते या सोचते हैं। विज्ञान की कठोर पद्धति का हमसे यह तकाजा है कि हम किसी तर्क वाक्य को तभी स्वीकार करें जबकि हम उसे सिद्ध कर सकने की स्थिति में हों। जब कभी हम कोई बात कहते हैं तो यह मालूम करना हमारा कर्तव्य हो जाता है कि जो लोग उसकी परीक्षा करेंगे वे उसे प्रमाणों से पुष्ट कर सकेंगे या नहीं। किन्तु दूसरी ओर धर्म में जैसा कि फ्रायड ने कहा है, 'कुछ सिद्धान्त अर्थात् तथ्यों और बाह्य (या आन्तरिक) वास्तविकता की परिस्थितियों के सम्बन्ध में कुछ कथन होते हैं जो हम कुछ ऐसी बात बताते हैं जिनकी हमने स्वयं खोज नहीं की होती है और उन बातों का यह दावा होता है कि उन पर विश्वास कर लिया जाए।[1] 'यदि हम यह प्रश्न करें कि उनका विश्वसनीयता का यह दावा किस बात पर आधृत है तो हमें तीन उत्तर मिलते हैं जिनकी खूबी यह है कि उनमें आपस में लगभग कोई संगति नहीं है। उन कथनों के विश्वसनीयता के दावे का पहला आधार यह होता है—क्योंकि हमारे प्राचीन पूर्वज लोग उन पर विश्वास करते रहे हैं इसलिए हमें भी उन पर विश्वास करना चाहिए। दूसरा आधार यह

[1] दि फ्यूचर ऑफ़ ऐन इल्यूज़न, अंग्रेजी अनुवाद (१९२८), पृष्ठ ४३।

कि हमारे पास इन बातों को सिद्ध करने के लिए ऐसे प्रमाण हैं जो हमें उस प्राचीन काल से पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्राप्त हुए हैं। और तीसरा आधार यह कि इन बातों की सचाई पर आपत्ति करने का पूर्ण निषेध है। पुराने जमाने में इन कथनों पर सन्देह करने की उच्छृङ्खलता पर अत्यन्त कठोर दण्ड दिए जाते थे और आज भी समाज इस उच्छृङ्खलता की पुनरावृत्ति को देखने के लिए उद्यत नहीं है। दूसरे शब्दों में धार्मिक सिद्धान्त 'भ्रम' हैं। उनके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है और न किसी को उन्हें सत्य मानने या उन पर विश्वास करने के लिए मजबूर किया जा सकता है।[1] यदि अपने २ ई पू के पूर्वजों के ज्योतिर्विज्ञान-सम्बन्धी तर्कों को हम आज स्वीकार नहीं करते तो कोई कारण नहीं कि हम उनके धार्मिक विचारों को अधिक प्रामाणिक मानें। आप्त प्रामाण्य की पद्धति आलोचनात्मक विश्लेषण के सामने टिक नहीं सकती। जब आप्तों में भी आपस में मतैक्य नहीं होता तो हम आप्तों के प्रामाण्य से भी आगे ज्ञान को विषय हो जाते हैं। किसी आप्त लेखक की बात पर विश्वास करने के लिए जब हमसे कहा जाता है तो उसका आधार यही होता है कि उसके पास सत्य को ज्ञान के अन्य स्रोतों से जानने के लिए हमारी अपेक्षा अधिक अच्छे अवसर थे। किन्तु जब न्यू टेस्टामेंट(बाइबिल) और कुरान में ही मतभेद हो जाता है तब हम यह नहीं मान सकते कि उनमें से एक के प्रणेता के पास सत्य को जानने के अवसर दूसरे से बेहतर थे। तब हम किसी और कसौटी का यानी उनकी विषय-वस्तु की तर्कयुक्तता का आश्रय लेना पड़ता है। तब हमें धार्मिक आप्त को अतिप्राकृत मानने की प्रवृत्ति का परित्याग करना होगा।

स्वतन्त्र चिन्तन की भावना और अपने लिए किसी भी बात को स्वयं सोचकर निश्चय करने का अधिकार जिसका यह अर्थ जरूरी नहीं है कि दूसरों से भिन्न तरीके से ही सोचा जाए, नष्ट नहीं किये जा सकते। यही कारण है कि आप्त प्रामाण्य के रक्षक लोग आलोचनात्मक मनोवृत्ति के लोगों पर घूसे-आम दबाव नहीं डालते बल्कि वे अक्सर उक्त आप्त व्यक्ति के पक्ष में तर्क और बुद्धि को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं।

यदि विज्ञान के क्षेत्र में यह सही है कि जैसे-जैसे समय बीतता जाता है वैसे-वैसे हम सत्य के अधिक निकट आते जाते हैं तो धर्म के बारे में यह बात क्यों सही नहीं है? हम यह क्यों सोचें कि केवल धर्म ही ऐसी वस्तु है जिसमें सत्य का

१ दि फ्यूचर ऑफ़ एन इल्यूजन अंग्रेजी अनुवाद (१६२८), पृष्ठ ४४ ४५, ५५ ।

अतीत में ही सही अवधारण हो गया था और उसके बाद वह उस अतीत काल से हमें अपने पूर्वजों से प्राप्त हुआ है और हम यत्नपूर्वक उसकी रक्षा करनी चाहिए ताकि कहीं हम भटककर उससे दूर न चले जाएं ? स्वर्णिम-युग वस्तुतः भविष्य की कल्पना में है काल्पनिक अतीत में नहीं।

हमारे वैज्ञानिक सिद्धान्त जो पुराने सिद्धान्तों को खंडित कर उनके स्थान पर प्रतिष्ठित हुए हैं क्रमिक प्रगति की लम्बी शृंखला में कड़ी मात्र हैं और यह सम्भव है कि समय आने पर नये सिद्धान्त उन्हें भी अपदस्थ कर दें। उनका एक मात्र औचित्य इस बात में है कि ज्ञात व सम्बद्ध तथ्यों के लिए वे पर्याप्त हैं। सत्य की खोज के लम्बे सफर में वे क्षणिक बीच की मंजिल हैं किन्तु वे चरम और पूर्ण सत्य नहीं हैं। किन्तु दूसरी ओर धर्म यह दावा करता है कि वह निरपेक्ष और पूर्ण है। हमसे कहा जाता है कि धर्म के सत्य अपरिवर्तनीय हैं और हमारा कर्तव्य है कि हम उनकी रक्षा करें। किन्तु सचमुच ऐसे कोई पूर्ण सत्य हैं भी तो वे स्वयं के ज्ञान के उस पार हैं। हमारे सत्य तो हमेशा अस्थायी और व्यावहारिक सत्य होते हैं।

विज्ञान का यह तकाज़ा है कि तथ्यों से सिद्धान्तों का आगमन (इंडक्शन) किया जाए, सिद्धान्तों से तथ्यों का निगमन (डिडक्शन) नहीं। हम तथ्यों को अपने सामने रखना चाहिए और उनसे अपने निष्कर्ष निकालने चाहिएं। यह नहीं कि हम निष्कर्षों से प्रारम्भ करें और फिर तथ्यों से खिलवाड़ करें। धर्म के विषय में तर्क का अर्थ है अपने पूर्वाग्रहों की पुनर्व्याख्या करना। हम हिन्दू या ईसाई मुसलमान इसलिए हैं कि हम हिन्दू या ईसाई के रूप में पैदा हुए हैं और हमारे माता-पिता पर हिन्दू या ईसाई की छाप लगी हुई है। विज्ञान में इससे भिन्न प्रक्रिया है। आधुनिक मनोवृत्ति का यह आग्रह है कि तत्परता और आत्म-निरपेक्षता का यह रुख सभी मानवीय विषयों में अपनाया जाना चाहिए। धर्म की यह धारणा कि विश्व का स्रष्टा ईश्वर इस सबका दयालु पिता है जीवन की कठिनाइयों और कष्टों को मन से बाहर करके उपेक्षित कर देने के लिए गढ़ गया मिथ्यावाद है। धर्म कामनाओं का ही सबसे में नष्ट भाव रहता है विश्व को वह वैसा ही समझता है जैसा कि हम उसे देखना चाहते हैं और साथ ही वह जीवन के दुःख दर्द को साधारण ज्ञान के क्षेत्र से बाहर मानता है उसकी ये सभी प्रवृत्तियां वस्तुवादी विज्ञान के सर्वथा विपरीत हैं।

विज्ञान नियम के पालन पर बल देता है। यदि नियम सर्वत्र हैं और

समस्त काल में प्रव्यभिचारी रूप से लागू होते हैं तो संसार में कोई रहस्यात्मकता या चमत्कार नहीं रह जाता। केवल अशिक्षित लोग ही यह विश्वास करते हैं कि भूत-प्रेत रोग पैदा करते है और ओझा उन्हें दूर करते हैं। विश्व एक नियम में बँधा हुआ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। पश्चिम में विश्व की यह कल्पना चौथी शताब्दी ई० पू० की ज्योतिर्विज्ञान-सम्बन्धी खोजों के परिणामस्वरूप पैदा हुई किन्तु भारत में ब्रह्माण्ड की नियमबद्धता अर्थात् ऋतु को वैदिक काल से ही स्वीकार किया जाता रहा है। प्रोफेसर एडिंगटन ने क्वांटम सिद्धान्त में अनिर्धारणात्मकता (इण्डिटर्मिनैन्सी) के उसूल से यह जो अनुमान लगाया है कि कारण-कार्य का नियम पूर्णतः सत्य और सार्वभौम नहीं है उससे हमें बहुत विचलित होने की आवश्यकता नहीं है। एडिंगटन का कहना है कि भौतिक विज्ञान के बहुत से नियम सामान्य सांख्यिकीय (स्टेटिस्टिकल) हैं और किन्हीं विशिष्ट इलैक्ट्रानों के व्यवहार के सम्बन्ध में कोई निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती सिर्फ समूह के रूप में ही उनके व्यवहार की भविष्यवाणी की जा सकती है। इस प्रकार यदि स्वयं प्राकृतिक प्रक्रियाएँ ही पूर्ण निर्धारणात्मक नहीं हैं यदि प्रकृति की साधारण घटनाओं के मूल में भी स्वतन्त्र इच्छा (फ्री विल)-जैसी किसी वस्तु को मानने की गुंजाइश है यदि एक भी जगह ऐसी है जहाँ बिलकुल नपे-तुले और निश्चित निर्धारण का नियम पूरी तरह घटित नहीं होता तो हमें विज्ञान का अपना समस्त प्रयत्न त्याग देना होगा। फिर भी कारणों और व्याख्याओं की निरन्तर खोज इस बात का निर्णायक प्रमाण है कि विज्ञान कारण-कार्य के सिद्धान्त में विश्वास रखता है भले ही उसके कितने ही बड़े अपवाद नजर आएँ। ऐसी दशा में यह सम्भव है कि जहाँ नहीं हमें नियम घटित होता नजर न आता हो वहाँ उसका कारण हमारी प्रेक्षण की भूल हो। यह स्वीकार किया जा सकता है कि वैज्ञानिक भावी घटनाओं की भविष्यवाणी करने के लिए ऐसे सिद्धान्तों का आश्रय लेते हों जिनका पूरी तरह सामंजस्य स्थापित न कर सके हों या जिन्हें वे पूरी तरह हृदयंगम न कर सके हों। इसका अर्थ सिर्फ इतना ही है कि हम अभी और खोज और अनुसन्धान करने की आवश्यकता है क्योंकि अभी कुछ ऐसे तथ्य विद्यमान हैं जिनके नियमों को हम खोज नहीं सके हैं। किन्तु इस समय हम यह नहीं कह सकते कि ऐसे भी तथ्य हैं जिन पर कोई नियम लागू नहीं होते क्योंकि तब उसका अर्थ यह होगा कि एस भी तथ्य हैं जिनकी कोई अपनी प्रकृति अथवा स्वभाव नहीं है। तब वे तथ्य वास्तविक जगत् की नियमबद्धता की संकल्पना के चरम अपवाद होंगे।

व्यावहारिक दृष्टि से एक निश्चित नियमबद्धता प्राकृतिक विज्ञान का एक बुनियादी तत्त्व है। जिस समय हमें ब्रह्माण्ड के व्यवस्थित और निश्चित नियमों में बँधा हुआ होने का पूर्ण निश्चय नहीं था तब हमारा विज्ञान चमत्कार के समकक्ष था तब प्रकृति की एक सर्वांगव्यापी व्याख्या सम्भव थी। किन्तु आज यह बात विचार-कोटि से भी बाहर है। ईश्वर की विशेष कृपा का सिद्धान्त व्यवस्थितता और नियमबद्धता के सर्वथा विपरीत है।

सत्रहवीं शताब्दी के वैज्ञानिक देकार्त, कैपलर, गैलीलियो और न्यूटन संसार को एक विशाल यन्त्र मानते थे किन्तु वे यह स्वीकार करते थे कि उस यन्त्र की रचना ईश्वर ने की है और वह उसके मन के नियत नियमों के अनुसार ही कार्य करता है। उनकी मान्यता थी कि परम्परागत मान्यताओं के अनुसार स्वर्ग में पृथ्वी के किसी स्वेच्छाचारी राजा से भी अधिक स्वैरवृत्ति से शासन करने वाला देवराज भी एक ऐसे ईश्वर के आगे झुक जाता है जिसकी सर्वोच्च प्रभुसत्ता सुनिर्धारित और सुप्रतिष्ठित नियमों में बँधी हुई है। लेकिन अठारहवीं सदी के वैज्ञानिक अपने तर्क में और भी कठोर थे और इसीलिए यान्त्रिक ढंग से सुव्यवस्थित ब्रह्माण्ड में वे किसी का भी बाहरी हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करते थे। उनका देवता इस ब्रह्माण्ड के ताने-बाने से बिलकुल बाहर होता था, विश्व के कामों में उसका कोई हस्तक्षेप नहीं था। वह शासक था, नियामक नहीं। प्राचीन ग्रीस में एपिक्युरस का यद्यपि यह विश्वास था कि पृथ्वी पर घटित होने वाली कोई भी घटना, चाहे वह ब्रह्माण्ड के इतिहास का अंग हो या मानव-जगत् के जीवन का, ईश्वरीय प्रभाव का परिणाम नहीं होती, तो भी उसने देवताओं को एकदम ही निर्मूल नहीं कर दिया था। उसने ग्रह-नक्षत्रों के अन्तरालवर्ती शून्य अन्तरिक्ष में उनके लिए स्थान निर्दिष्ट कर दिया था, जहाँ रहकर वे मनुष्य की ओर कोई ध्यान नहीं देते। हालाँकि हम मानव अपनी दुर्बलता के कारण उन्हें पूजा के योग्य सुन्दर वस्तु मानते हैं और उनके गौरवपूर्ण विधान को दृढ़ता से अनादि-अनन्त शाश्वत मान लेते हैं।[1] तथा नियम के अनुसार काम करने वाले और कभी काम ही न करने वाले देवताओं में आसानी से भेद नहीं किया जा सकता। काम न करने वाला और केवल चमत्कार के रूप में

1 जिन्हें ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त है और जो अमर हैं, वे न स्वयं दुःख अनुभव करते हैं और न किसी को दुःख देते हैं, क्योंकि वे न क्रोध के वशीभूत होते हैं और न कृपा के; क्योंकि ये सब चीज़ें दुर्बलता में ही होती हैं। (बर्नी) एपिक्युरस : दि एक्स्टैण्ट रिमेन्स (१९२६), पृष्ठ ९५)

सिंहासन पर आरूढ़ देवता अधिक समय तक जीवित शक्ति नहीं रह सकता। इसी लिए देववाद अदेववाद में परिणत हो जाता है। कारण यदि विश्व के यन्त्र को गतिशील रखने के लिए देवता की आवश्यकता नहीं है तो उसे आरम्भ में गति देकर चलाने के लिए भी उसकी क्या आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त जैसे-जैसे वैज्ञानिक व्याख्या के क्षेत्र का विस्तार होता जाता है वैसे-वैसे धार्मिक रहस्य की आवश्यकता भी कम होती जाती है। हम आम तौर पर ईश्वर की कल्पना का सहारा वहीं लेते हैं जहाँ हमारा ज्ञान अपनी सीमा पर पहुँच जाता है। सामान्य व्यवहार में हम लोग 'यह ईश्वर की लीला है' या 'भगवान् ही जानता है' आदि जो वाक्य आम तौर पर कहते हैं वे यह सिद्ध करते हैं कि अज्ञान ही हमारे ईश्वर के ज्ञान का स्रोत है। ईश्वर वह नाम है जो हम काँपते हुए अज्ञात और अव्याख्येय सत्ता को प्रदान करते हैं। वह हमारे 'अज्ञान का धरातल' है, हमारे ज्ञान की अपूर्णता का द्योतक है। रहस्य का राज्य जिसके सम्मुख मानव अपने-आपको दुर्बल और असमर्थ समझता है धीरे-धीरे अपनी सीमाओं को पीछे हटाता जाता है। इस प्रकार हम विश्व को जान सकते हैं और यह अनुभव किये बिना कि हम अज्ञात शक्तियों पर पूर्णतः निर्भर हैं, अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

आधुनिक भौतिकवाद तर्कानुसारी दर्शन का परिणाम उतना नहीं है जितना आधुनिक विज्ञान की आश्चर्यजनक विजयों का परिणाम है। आधुनिक विज्ञान ने विशेषकर गणितशास्त्र भौतिक विज्ञान और ज्योतिर्विज्ञान ने ब्रह्माण्ड की जो तस्वीर हमारे सामने उपस्थित की है वह विश्व की धार्मिक कल्पना में किसी भी प्रकार कम स्वीकरणीय प्रतीत नहीं होती।

१ विज्ञान की उपलब्धियाँ

आधुनिक विज्ञान भौतिक पदार्थ के सम्बन्ध में हमारी पुरानी अवधारणाओं को आमूलचूल परिवर्तित कर रहा है। अब भौतिक पदार्थ के मूल उपादान घटक परमाणु नहीं रहे बल्कि धनात्मक और ऋणात्मक वैद्युतिक प्रभार हो गए हैं जो अपने वैद्युतिक आवेशों (चार्ज) में तो परस्पर समान हैं किन्तु ठोस द्रव्य भार (मास) की दृष्टि से बुनियादी तौर पर परस्पर भिन्न हैं—धनात्मक प्रभार ऋणात्मक प्रभार से १८४२ गुना भारी होते हैं। प्रकृति में पाये जाने ९२ तत्त्व उनके अणु रचनाओं में विद्यमान धनात्मक और ऋणात्मक वैद्युतिक प्रभारों की संख्याओं में अन्तर

से ही निर्धारित किये जाते है। इन सम्बन्धों में परिवर्तन करना ही इन तत्त्वों के परिवर्तन और रूपान्तरण के लिए, उदाहरण के तौर पर उनकी रेडियमधर्मिता को बदलने के लिए पर्याप्त है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि भौतिक पदार्थ की नयी अवधारणा ने पुराने भौतिकवाद को बदल दिया है। इसका यदि यह अर्थ है कि पुराना परमाणु सिद्धान्त अब नहीं टिक सकता तो यह सही है। किन्तु यदि इसका अर्थ यह हो कि इस नयी अवधारणा मे आत्मा और प्रकृति का भेद कम हो गया है तो यह बिलकुल गलत है। यदि यान्त्रिक सिद्धान्त अन्य दृष्टियों से ठीक आधार पर टिका हुआ है तो परमाणु का वैद्युतिक ऊर्जा में विश्लेषण उसे छू भी नहीं सकता।

आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान ने टॉलेमी की कल्पना के उस छोटे-से पुराने और आरामदेह ब्रह्माण्ड को जिसका अतीत-जीवन कुल छः हजार वर्ष का था मिथ्या सिद्ध कर दिया है। आज हम यह विश्वास नहीं कर सकते कि ४ ४ ई पूर्व एक मगलवार को ईश्वरीय आदेश से सहसा ही यह ब्रह्माण्ड बन गया। ज्योतिर्विज्ञान ने देश (स्पेस) का विस्तार कर उसे असीम बना दिया है जहाँ दूरियाँ प्रकाश वर्षों म नापी जाती है और पृथ्वी को ब्रह्माण्ड के केन्द्र के उच्च पद से बदखल कर एक छोटे-से सौर-परिवार में जो स्वय शीत तारकीय क्षेत्र मे अनन्त दूरी तक फैले अन्य असंख्य परिवारो से घिरा हुआ है एक क्षुद्र ग्रह का स्थान दे दिया है। ब्रह्माण्ड उससे कही बडा है जितनी कि हमने पहले कभी कल्पना की थी। हमारी पृथ्वी जिस महान् सूर्य की परिचारिका है वह हमारे तारामण्डल के करोडों तारों मे एक कणिका-मात्र है और यह महान् तारामण्डल भी स्वय विस्तीर्ण देश में फैले लाखों तारामण्डलो मे से एक है फिर भी आश्चर्य की बात यह है कि इस देश (स्पेस) का भी सान्त होना असम्भव नहीं है और यह हो सकता है कि प्रकाश की एक किरण इसके चारो ओर परिक्रमा कर अन्त मे फिर अपने प्रारम्भ-स्थल पर लौट आए।

इस सबकी एक विशुद्ध यान्त्रिक व्याख्या की जाती है। प्रकृति की एकता विज्ञान को समस्त सत्ता के एक ऐसे एकत्रीय (यूनिटरी) आधार की ओर सकेत करती है जिसके साथ प्रत्येक वस्तु का अन्तत पूरी खोज के बाद सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। किन्तु इस एकत्रीय सत्ता को बुद्धियुक्त मानना अनिवार्य नहीं है। जीवनरहित भौतिक कण असख्य वर्षों तक तोडफोड करते रह और सयोग अपनी

१ जीन्स दि मिस्टीरियस यूनिवर्स ग्रन्थ (१९ ०)।

पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया से असंख्य नीहारिकाओं का सूर्यों का और अन्ततः हमारे सौर-परिवार का निर्माण किया जिसमें हमारी यह पृथ्वी समुद्र हवा और रमस भी शामिल है। सर जेम्स जीन्स हमें बताते हैं कि हमारा सौर-परिवार एक साधारण नीहारिका के निकट से एक साधारण तारे के अचानक गुजर जाने से ब्रह्माण्ड में हुए एक आकस्मिक और अजीब परिवर्तन के फलस्वरूप बन गया।[1]

हमारे सौर-परिवार में जीवन क्या है? यह पृथ्वी पर विद्यमान है और सम्भव है बुध और मंगल पर भी हो। फिर भी पृथ्वी पर जीवन ने जो महत्त्व प्राप्त कर लिया है उसने हमारी ब्रह्माण्ड की सामान्य दृष्टि को विकृत कर दिया है। समस्त ब्रह्माण्ड के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो जीवन केवल एक उपोत्पाद (बाई प्रोडक्ट) है एक विराट् योजना की जिसका हमारी आशाओं और आकांक्षाओं के साथ कोई नियत या सीधा सम्बन्ध नहीं है एक छोटी-सी चीज है। यह केवल हमारे सौर-परिवार में ही है और उसमें भी शायद यह केवल हमारे ही ग्रह में है। इस प्रकार जो जीवन केवल एक स्थानीय और सहज ऊपरी चीज है वह ब्रह्माण्ड का लक्ष्य नहीं हो सकता जैसा कि हममें से कुछ लोग सोचते हैं।[2] प्रयोजन और उत्पादन ध्येय और साधन में उचित-सम्बन्ध होना आवश्यक। तारे स्पष्टतः किसी अन्य प्रयोजन के लिए ही अपने मार्गों पर गति कर रहे हैं।

यह विचार बहुत समय तक प्रचलित रहा है कि ब्रह्माण्ड को एक यन्त्र मानना भौतिक पदार्थ के क्षेत्र में तो चल जाता है किन्तु जब हम ऐन्द्रियिक (आर्गेनिक) जीवन पर विचार करते हैं तब यह हमारा साथ नहीं देता। शरीर की इन्द्रियों का अपने कार्यों के साथ जो सूक्ष्म सामंजस्य है अर्थात् आँखों का दर्शन के साथ और कानों का श्रवण-क्रिया के साथ उसके लिए एक भिन्न व्याख्या की आवश्यकता है। किन्तु पेली और बटलर ने ईश्वर को एक महान् शिल्पी सिद्ध करने के लिए उसके आकलन यन्त्र-निर्माण और समंजन के जो उदाहरण

दिखलाने आर्थोजिकल के मुख्य तथ्यों का अध्ययन-किया है वे अनेमिक। १८ (यामनिन) के इस कथन में मबकाने में शिथिल निराश का आनन्द ले सकते हैं "और ईश्वर ने दो महान् ज्योति बनाये बड़ा प्रकाश दिन पर शासन करने के लिए और छोटा रात पर शासन करने के लिए और उसने तारे भी बनाये।

२ 'यह विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता कि ब्रह्माण्ड की रचना मुख्यतः हमारे जैसे जीवन के उत्पादन के लिए की गई होगी। यदि ऐसा होता तो हमें इस ब्रह्माण्ड-यन्त्र की विशालता और उसके उत्पादन (जीवन) में परिमाण की दृष्टि से अधिक अच्छा अनुपात दिखाई देता। (जीन्स दि मिस्टीरियस युनिवर्स (१९३), पृष्ठ १-७)।

खूब सावधानी से चुनकर लिए थे उनके बारे में अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि वे सिर्फ परिवेश (एनवायरनमेंट) के साथ समंजन के सिद्धान्त के ही क्रियात्मक रूप हैं। प्रकृति ने अपनी जीवन की अदम्य पिपासा के कारण पृथ्वी को असंख्य रूपों से भर दिया है। जीवों की सन्तानें कभी एक जैसी नहीं होतीं उनमें अपने माता-पिता से और एक-दूसरे से भी कुछ-न-कुछ असादृश्य होता है। जो भिन्नताएँ व्यक्तियों को अधिक आसानी से जीवित रहने में सहायता देती हैं उन्हीं में अतिजीवन (सर्वाइवल) की प्रवृत्ति होती है। जो व्यक्ति इन भिन्नताओं रहित होते हैं वे विलुप्त हो जाते हैं। डार्विन का मत था कि इन छोटी भिन्नताओं के लगातार दीर्घ काल तक संचित होते रहने से एक नयी जीव जाति (स्पीशीज़) का जन्म होता है। यद्यपि इस सिद्धान्त की विस्तृत बारीकियों में संशोधन हुआ है—यह माना जाने लगा है कि ये भिन्न किस्म लगातार नहीं चलती और न ही क्रमिक या सूक्ष्म मंजिलों में चलती है—तो भी मोटे तौर पर इस सिद्धान्त में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। समस्त चेतन प्रकृति में निरन्तर विकास की जो कहानी हम देखते हैं वह एक स्वयं-चालित यन्त्र की क्रिया की द्योतक है। प्राकृतिक जगत् से बाहर का कोई सिद्धान्त इसकी व्याख्या करने के लिए आवश्यक नहीं है। एक ऐसी बन्द दुनिया में जो लौह-जैसे नियत नियमों से शासित है कोई आध्यात्मिक सिद्धान्त हस्तक्षेप नहीं कर सकता। यद्यपि हमारे प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में इस बात के विस्तृत चित्र खींचे गए हैं कि किस प्रकार कुछ भ्रष्ट देवताओं ने ईश्वर की प्रारम्भिक इच्छा को व्यर्थ कर दिया था, किस प्रकार एक काल्पनिक देवता का गलत चुनाव करने से युगों तक मानव को असह्य कष्ट उठाने पड़े और उससे आगे आने वाली समूची पीढ़ियाँ विनाश और भ्रष्टता का शिकार हो गईं। किन्तु इन सब पीड़ाओं से उन मानवों के लिए जो असंख्य शताब्दियों में से गुज़र कर होने वाले विकास की प्रक्रिया के विचार से परिचित हैं, लेशमात्र भी सत्य नहीं है। हम यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि जीवों की जातियाँ एक सुव्यवस्थित क्रम से विकास के ऊँचे सोपान से चढ़ जाती हैं। बहुत सी जातियों का ह्रास हो जाता है और कुछ-की-कुछ बन और विलुप्त हो जाती हैं। ज्यों ही जीवन का कोई रूप अपने पूर्ण विकास की स्थिति में पहुँचता है त्यों ही उसका ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। इसने जो स्थिति प्राप्त की है वह दुर्घटनाओं और सनकियों की एक बर्बर पद्धति का परिणाम है। संघर्ष और कष्ट, रोग और मृत्यु इतने प्रबल सत्य हैं कि यदि वास्तव में ही ब्रह्माण्ड में कोई प्रयोजन निहित है तो

भाग्य नियति या आकस्मिक संयोग अथवा लापरवाह देवता भले ही यह शक्ति हों कोई दयालु परमात्मा नहीं है। मानव जीवित प्राणियों की दीर्घ शृङ्खला की नवीनतम कड़ी के सिवाय कुछ नहीं है और यह भी इस ग्रह पर एकदम निर्दोष विकसित सर्व-गढ़ाए परिष्कृत रूप में उत्पन्न नहीं हुआ बल्कि यह भी आहिस्ता आहिस्ता परिस्थितियों के आघातों से बढ़कर परिष्कृत किया जा रहा है। पूर्व पाषाण युग का अर्ध-मानव पिथेकैन्थ्रोपस मानव एवं पिल्टडाउन में पाई जानेवाली मानव अस्थियाँ यह सिद्ध करती हैं कि प्राचीन मानव पशु के कितना निकट था। जब हम मानवता के विकास को एक विचित्र आकस्मिक संयोग के रूप में और उसके सारे इतिहास को ब्रह्माण्ड के इतिहास की एक घटना के रूप में देखते हैं तो ईश्वर की मानव के रूप में कल्पना बहुत भद्दी और असंगत लगती है। काल के अचिन्तनीय रूप से लम्बे विस्तार की तुलना में मानवता का इतिहास पलक की एक झपक से अधिक बड़ा नहीं। मानव प्राणी देश (स्पेस) के एक इतने छोटे कण-मात्र में सीमित है कि ऐसा प्रतीत होता है मानो ब्रह्माण्ड की मुख्य योजना में उसका कहीं स्थान ही न हो। हम यह बात निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि मनुष्य जीवन का अन्तिम और सर्वोच्च अभिव्यक्त रूप है। जीवन की शृङ्खला में मानव के बाद और भी कड़ियाँ हो सकती हैं जो मानव से उतनी ही भिन्न हों जितना कि यह इस शृङ्खला के प्रारम्भिक जीवन-रूप अमीबा से भिन्न है। मनुष्य तो पृथ्वी पर अपेक्षाकृत बहुत बाद में आया है। उसने पृथ्वी पर शासन उसके जीवन के हजारवें भाग से भी कम समय तक किया है। दैत्याकार सरीसृप प्राणियों और डाइनोसौर जन्तुओं ने लाखों वर्षों तक पृथ्वी पर शासन किया है और सम्भव है उन्होंने भी आशा की हो कि उनका अस्तित्व कभी नष्ट नहीं होगा। मानव भी आज यही समझता है कि वह जीव-विज्ञानी विकास की अन्तिम विजय है और वह अनन्त काल तक ऐसा ही रहेगा।

हो सकता है कि मानव भी प्रयोग के जो अपनी दिशा के सम्बन्ध में सर्वथा सुनिश्चित नहीं है, असफल परीक्षणों में से एक हो। यदि हम यह मान भी लें कि पृथ्वी पर मानव ही जीवन के विकास की चरम अवस्था है और जीवन का विकास उससे ऊपर नहीं हो सकता तो उस दशा में विज्ञान हमारे सामने मानव के विनाश का खतरा लेकर उपस्थित है। हमें विज्ञान ने बताया है कि सौर परिवार एक घड़ी की तरह है जिसकी चाबी धीरे-धीरे खत्म होती जा रही है और जिसमें नए सिरे से चाबी नहीं भरी जा सकती। हो सकता है कि हमारे

जीवन-काल में यह भले ही न रुके, किन्तु सम्भवतः एक दिन यह रुकेगी अवश्य।[1] वैज्ञानिक साक्ष्य से यह संकेत मिलता प्रतीत होता है कि ब्रह्माण्ड या अनन्त धीमी गति से मंजिल पार कर सरकता-सरकता अपनी वर्तमान स्थिति में आया है; समस्त जीवन के पूर्ण विनाश वाली विश्वव्यापी मृत्यु की परिस्थितियों की ओर बढ़ रहा है।

जिन मूल्यों के लिए हम संघर्ष कर रहे हैं वे जुगनू की चमक हैं जो पल भर में अदृश्य हो जायेंगे। ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया सिर्फ कणों और आकारों के बुनने और उधेड़ने की प्रक्रिया है जिसमें वे मूल्य जिनकी हम कामना करते हैं बहुत थोड़े समय के लिए एक क्षीण रूप धारण करते हैं। आचार-सम्बन्धी नैतिक सिद्धान्त केवल मानवीय व्यवहार के पथ निर्देशन के लिए सामान्य नियम हैं और जिस विकासोन्मुख समाज में उनका जन्म होता है उसी के कारण उनका महत्त्व और सार्थकता होती है। हमारी कर्तव्य की भावना मूलतः "समूह जीवन की नैसर्गिक बुद्धि" है जो पशुओं और अन्य प्राणियों में भी पाई जाती है। इस नैसर्गिक बुद्धि का अनुसरण करते हुए व्यक्ति के हितों को समूह के हितों के साथ उपाश्रित कर दिया जाता है। अन्तरात्मा का अनुसरण करने की कल्पना विशुद्ध सामाजिक भावना की उपज है, उसके लिए किसी अतिप्राकृत शक्ति (सुपरनेचुरल पावर) की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं है। मानवीय व्यवहार का एक भी ऐसा कार्य नहीं है जिसका समाज ने एक समय अनुमोदन और दूसरे समय निन्दा न की हो। यद्यपि प्रतिमान (पैमाने) स्थिर नहीं रहते बदलते रहते हैं तो भी जीवन उनके बिना अर्थहीन प्रतीत होता है और इसीलिए नैतिक मान्यताओं और नैतिक आचार का आविष्कार कर लिया जाता है। और विज्ञान हमें बताता है कि भ्रम

[1] [illegible]

जिस प्रकार पैदा होते हैं। नैतिकता एक कामचलाऊ व्यवस्था है और उसे मान्यता देना सामाजिक आवश्यकता है। नैतिकता क्योंकि परम्परा का परिणाम है इसलिए समाज को उसे बदलने या यथोचित करने का अधिकार है। ऐसा कोई ईश्वर नहीं है जो हमें व्यवहार की एक नियत पद्धति पर चलने के लिए आदेश देता हो। नैतिक नियम सिर्फ इसी अर्थ में वस्तुनिष्ठ (आब्जैक्टिव) हैं कि वे किसी व्यक्ति-विशेष से बँधे हुए नहीं हैं इस अर्थ में नहीं कि वे निरुपाधिक (किन्हीं शर्तों से न बँधे हुए) आदेश हैं या वे यह स्वीकार करके चलते हैं कि 'अच्छाई' एक अविश्लेषणीय और अन्तिम गुण है।

इस प्रकार आस्तिकता का पक्ष नैतिकता की दिशा से निर्बल हो जाता है। यदि हम यह तर्क करें कि हमारे भीतर जो नैतिक आकांक्षाएँ हैं वे अन्ततः एक दिन पूर्ण होंगी ही तो यह तर्क दोषपूर्ण है क्योंकि इसमें हम साध्य को ही साधन मानकर चलते हैं, अर्थात् हम यह पहले ही मान लेते हैं कि यह संसार तर्कपूर्ण है और निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति की ओर नियत गति से जा रहा है जबकि वास्तव में इसी बात को हमें सिद्ध करना है। मनुष्य अपनी अन्तरात्मा से कर्तव्य की जो भावना अनुभव करता है उससे या उसकी एक पूर्ण सत्ता की अवधारणा से एक नैतिक सत्ता या ईश्वर की अनिवार्यता सिद्ध नहीं होती।

स्पेंगलर का कहना है कि सांस्कृतिक एककों (कलचरल यूनिट) की पौधों के साथ तुलना की जा सकती है। वे भी पौधों की भाँति वृद्धि की मंज़िलों में से गुज़रते हैं, फूलों की तरह खिलते हैं और फिर मुरझा जाते हैं। एक अपरिवर्तनीय नियम चाहे आप उसे नियति कहें और चाहे सामष्टिक आत्मा, जातियों और संस्कृतियों के उत्थान और पतन को शासित करता है। इतिहास तारों की भाँति नियत कक्षा-पथों में चक्राकार गति करता है। और उसकी प्रतिविधि भी तारों की गतिविधि की भाँति पूर्व-निर्धारित होती है।

मनुष्य के इतिहास और ब्रह्माण्ड के विराट् विस्तार के सम्बन्ध में आज हम ज्ञान की जिस स्थिति में पहुँच चुके हैं उसमें यह कल्पना कि पृथ्वी या मानव जाति (स्पीशीज़) या कोई ऐतिहासिक व्यक्ति-विशेष ही समस्त विश्व या उसकी घटनाओं के केन्द्र-बिन्दु हैं, बेतुकी नहीं तो असाधारण अवश्य प्रतीत होती है। हमारी पृथ्वी अत्यन्त लघु और संकीर्ण है और उस पर हमारी नागरिकता और भी तुच्छ वस्तु है। पृथ्वी को ब्रह्माण्ड का केन्द्र मानना, मनुष्यों को दर्शनशास्त्र का केन्द्र मानना और बुद्ध या ईसा को धर्म का केन्द्र मानना—ये सभी एक-जैसी

कल्पनाएँ हैं।[1] मनुष्य जैसा कि प्रोफेसर एडिंगटन ने कहा है सिर्फ इसी अर्थ में सब चीजों का केन्द्र है कि वह अपने परिमाण और द्रव्यमान की दृष्टि से परमाणु और तारे के मध्य में है। वह एक परमाणु से लगभग उतना ही गुना बड़ा है जितने गुना तारा उससे (मानव से) बड़ा है। विज्ञान के नवीन ज्ञान ने जिन लोगों के मन और बुद्धि को चकरा दिया है उन्हें कट्टर सनातन-पन्थी धर्मशास्त्रों के रचयिता ऐसे ही लगते हैं जैसे नींद में बड़बड़ाने वाले लोग।

मानव और अधिक विकास की सीढ़ी पर पहुँचे एप की शारीरिक रचना में पाई जाने वाली समानता की बारीकियाँ और उनकी रक्त-परीक्षा के आश्चर्य-जनक परिणाम मानव और एन्थ्रोपॉयड की निकट समरूपता को सिद्ध करते हैं। मनुष्य का प्राणित्व उसके मूल उद्गम, जन्म से पूर्व गर्भ में विकास, जन्म, वृद्धि, जरा और मरण के तथ्यों से स्पष्ट है। हम केवल यह मानकर कि प्रकृति ने जीव विज्ञानशास्त्रियों के साथ दिल्लगी करने के लिए एक विराट् विनोद किया है, इन तथ्यों को उड़ा नहीं सकते। यह काफ़ी हद तक निश्चित है कि हम दोनों के पूर्वज एप या उन्हीं की जाति के दूसरे प्राणी हैं।

मानव प्राणियों के समूह में एक प्राणी है—यह बात न नयी है और न बहुत रहस्य की। किन्तु नयी बात यह है कि वह एक प्राणी से अधिक कुछ नहीं है। प्रोफेसर वाटसन का व्यवहारवादी मनोविज्ञान इसकी पुष्टि करता है। उनका मत है कि मनोविज्ञान भी शरीर-क्रिया विज्ञान ही है, फर्क सिर्फ यही है कि शरीर क्रिया-विज्ञान का सम्बन्ध जहाँ प्राणी के अंगों के कार्यों—मसलन उसकी पाचन प्रणाली, उसकी रक्त-संचार प्रणाली और उसके स्नायु-संस्थान—से है, वहाँ व्यवहारवाद की अधिक दिलचस्पी प्राणी के अंगों के बजाय समूचे प्राणी के दिन रात के आठों पहर के व्यवहार से है। मनुष्य पशुओं और कृमियों को छोड़कर

१ स्वर्गीय प्रोफेसर बोसान्के ने कहा था कि ईसा को मानव-जगत् के इतिहास का केन्द्र मानना भारतीय और मध्य युगों के लोगों द्वारा प्रस्तुत की गई विश्व की तस्वीर में तो ठीक बैठ सकता है जिसमें विश्व को एक नाभि की तरह छोटी और सँकरी-सी चीज़ माना गया है, जिसमें मानवीय इतिहास सिर्फ कुछ हजार वर्ष का छोटा-सा इतिहास है और जिसमें विश्व के इतिहास की समाप्ति पर ईसा की वापसी की कल्पना की गई है, किन्तु आज के ज्ञान की यह कल्पना बहुत बर्बर और बेतुकी लगती है, क्योंकि इसकी भाव वैज्ञानिक ज्ञान की कल्पनाओं से जरा मेल नहीं बैठता। (गिफोर्ड ले. एस. बौरुट स्मिथ द्वारा मॉर्निंग पोस्ट, अक्तूबर, १९२१ में पृष्ठ १०८ पर उद्धृत।

२ बिहेवियरिज्म (१९२५), पृष्ठ ११।

तैयार की गई एक मशीन है जो दोहन के लिए तैयार है।[1] यहाँ तक कि पुराने परम्परागत मनोविज्ञान में वर्णित आत्मा और चेतना का सम्बन्ध है, प्रोफेसर वाटसन उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।[2] उनके मत में भाषा मांसपेशियों के संकोचन-विरोचन की एक शृंखला है। विचार भी उसी तरह एक घटना है जैसे कोई भी अन्य घटना। यह टेनिस खेलने की भाँति ही एक प्रेरक क्रिया-संघटन है, एक प्रकार का व्यवहार (क्रिया) है जिसमें वाक्-पेशियों की गति तो होती है किन्तु स्वर नहीं निकलता (अस्वर गति)। (विचार) एक प्रकार से मूक वचन अर्थात् ऐसा भाषण है जिसमें आवाज नहीं निकलती या 'गुप्त पेशी क्रिया वाला सम्भाषण' है। पावलोव ने भूलभुलैयों में फँसाकर चूहों पर जो परीक्षण किये हैं उनसे उसने वैज्ञानिक रीति से यह सिद्ध करने का दावा किया है कि बुद्धि उद्दीपन और प्रतिवेदन (स्टिमुलस और रिस्पॉन्स) के सिवाय और कुछ नहीं है। मान

1. [illegible]

2. [illegible]

रूप में मनोविज्ञान के लिए बड़े-बड़े दावे करता है। अपने जागृत जीवन के प्रत्येक क्षण में हम विविध प्रकार के उद्दीपनों की एक अविरत धारा को अनुभव करते हैं जो विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा हम तक पहुँचते हैं। इन प्रत्यक्ष ऐन्द्रियिक अनुभवों और उनसे सम्बद्ध विचारों और बिम्बों से ही हमारी चेतना बनती है। इस चेतना की देहरी के पार हमारे पास तथ्यों और मन पर पड़ी छापों (इम्प्रेशनों) का एक भण्डार है जिसमें से हम इच्छानुसार जब चाहें चुनाव कर सकते हैं। इस भण्डार के कुछ भागों तक कम और कुछ तक अधिक आसानी से पहुँचा जा सकता है, किन्तु यदि प्रयत्न किया जाए तो छिपे हुए दूरस्थ तथ्यों और इम्प्रेशनों को भी पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। इस भण्डार को मन का अवचेतन प्रदेश कहा जाता है, जबकि चेतना उससे बिलकुल अलग है जिसे चेतन प्रदेश कहा जाता है। मन का एक तीसरा प्रदेश भी है जिसे अचेतन (अनकॉन्शस) प्रदेश कहा जाता है जिसमें हमारे शैशव और बाल्यावस्था में प्राप्त इम्प्रेशन या एक प्रकार से हमारे जीवन के खोये हुए या विस्मृत अनुभव होते हैं संचित रहते हैं। यद्यपि हम इन अनुभवों को सामान्य चिन्तन के द्वारा उठाकर चेतन प्रदेश में नहीं ला सकते तथापि वे हमारे व्यवहार पर गहरा प्रभाव डालते हैं। मनोविज्ञान-विश्लेषकों की दृष्टि में अचेतन मन ही वास्तविक मन है। उनका कहना है कि दबे हुए भाव और तत्त्व ही गतिशील तत्त्व और मन की प्रेरक शक्तियाँ हैं।[1]

इन सिद्धान्तों का धार्मिक प्रश्न से गहरा सम्बन्ध है। यदि 'मन चेतना और आत्मा उसी तरह जीवित मस्तिष्क के ही अभिव्यक्त रूप हैं जिस तरह ज्वाला जलती हुई मोमबत्ती का अभिव्यक्त रूप है' तो मस्तिष्क के नष्ट हो जाने पर इन सबका अन्त हो जाएगा। प्राकृतिक चयिता के प्रभाव के अन्तर्गत मानवीय जाति (स्पीशीज) का धीरे-धीरे विकास यह सिद्ध करता है कि मानव भी शेष प्रकृति का एक अंश है। उसके धार्मिक अन्तर्ज्ञान सिर्फ एक नसावलि के प्राणी के स्वप्न-मात्र हैं। डार्विन-जैसे उत्कर्ष विचारक ने भी अपनी आत्मकथा (१ ७) में लिखा है किन्तु तब यह सन्देह पैदा होता है कि क्या मनुष्य का मन जिसके बारे में मेरा यह पूर्ण विश्वास है कि वह निम्नतम प्राणियों के मन म

१ यह कल्पना सही नहीं है कि स्वप्नावस्था और मनोविश्लेषक [illegible] को [illegible] शैलियाँ हैं। [illegible] का अर्थ क्या है।

मन से धीरे-धीरे विकसित हुआ है, जब इतने बड़े-बड़े निष्कर्ष निकालता है तो उस पर विश्वास किया जा सकता है ? मानवीय मन अस्तित्व के लिए किए गए संघर्ष की उपज है। यह औज़ार बनाने और अन्न की खोज करने का एक साधन है जो परीक्षणों और गलतियों में से गुज़रकर दूसरों के साथ समंजन करना सीखता है। उसका काम का ढंग परीक्षणात्मक, उसके साधन उपयोगितावादी और उसके विचार कामचलाऊ होते हैं।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अनुसार चेतन तर्क मानसिक विकसित प्राणियों में भी बहुत मामूली भूमिका अदा करता है। मानवीय मन की मानसिक बुनियादी प्रवृत्तियाँ तर्कहीन होती हैं। चिन्तन का अर्थ वास्तव में तर्क करना (रीज़निंग) उतना नहीं, जितना कि औचित्य-स्थापन (रैशनलाइज़ेशन) है। हम आम तौर पर ऐसी सम्मतियों के पक्ष में, जो तर्क प्रदत्त आधारों से भिन्न आधारों पर आश्रित होती हैं, तर्क पेश किया करते हैं। मनुष्य का व्यक्तित्व ऐसी नैसर्गिक वृत्तियों की क्रीडास्थली है जो दमनात्मक प्रभावों से नियन्त्रण में रहती है। इन दमनात्मक प्रभावों में से कुछ प्रभाव धार्मिक विश्वासों के धर्मों से उत्पन्न होते हैं। यदि अचेतन मन की गहराइयों में ही पतिशील प्रेरक तत्त्व निहित हैं तो नैतिक प्रयत्न और धार्मिक आकांक्षाएँ सिर्फ भ्रम ही हैं।

तर्क का आश्रय अनेक बार गहरी बैठी हुई नैसर्गिक वृत्तियों और आकांक्षाओं से जन्य कार्यों के समर्थन के लिए, लिया जाता है। काल्पनिक सत्ताओं के प्रति हमारी धार्मिक प्रतिक्रियाएँ हमारी अविवेकात्मक प्रकृति के मनोवैज्ञानिक कार्य हैं। धार्मिक विश्वास और सिद्धान्त प्रक्षेप और प्रतिगमन (प्रोजैक्शन और रिग्रेशन) के प्रयत्नों द्वारा उत्पादित मान्यतादायक साधन हैं और उनका सम्बन्ध किसी वस्तु-निष्ठ वास्तविक सत्ता से नहीं है। ईश्वर केवल अव मन का एक कार्य है। सर्वमैथुनिकतावाद के सिद्धान्त के अनुसार यह तर्क दिया जाता है कि धर्म भी प्रारम्भ से 'मैथुनिक आनन्द का ही दूसरा नाम था' और यहाँ तक कि अनेक उच्च धर्मों में भी यौगिक भावनाओं को आदर्श बना दिया गया है। रहस्यवादी अनुभव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विकृत व्यक्तियों की विकृत इच्छाओं के प्रक्षेप हैं। जब हम ईश्वर को एक सम्मत पिता के रूप में देखते हैं तो हमारे मन में एक प्रतिगमनात्मक विचार होता है। शैशव और बाल्यावस्था में हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति और हानि से अपनी रक्षा के लिए अपने माता-पिता की ओर निहारते हैं। जब हम परिपक्व अवस्था में पहुँच जाते हैं तब हम

यह कल्पना करते सकते हैं कि जैसे माता पिता घर पर शासन करते हैं वैसे ही एक परमपिता जगदीश्वर, जो हम सबको जानता है और हम सबकी फिक्र करता है ऐसी व्यवस्था करता है कि उसकी सब सन्तानों का अन्ततः कल्याण हो।[1] इसलिए उस समय भी जबकि हमारे सामने जीवन के कठोर सत्य उपस्थित होते हैं हम अपने आपको एक भावुकतापूर्ण सुरक्षा की स्थिति के भ्रम में डाले रखते हैं। हमारी भावना यह रहती है कि यदि तुम मुझे कत्ल कर दोगे तब भी मैं तुम पर अपना विश्वास बनाये रखूँगा। इस प्रकार हम वास्तव में प्रौढ़ आयु के शिशु हैं और ईश्वर एक तरह से सारी मानवता को 'स्तन्यपान कराने वाली एक धाय' है।

इस प्रकार ईश्वर के विचार को जो पुरातत्वविशारदों के अनुसार मानवीय इतिहास के प्राचीनतम युगों से निरन्तर प्रभावशाली रहा है एक मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया जाता है। ईश्वर का भय पापी की लज्जा और मुक्ति की भावना आदि धार्मिक प्रपंचों की भी इसी प्रकार व्याख्या की जाती है। फ्रॉयड का यह निश्चित विश्वास है कि धर्म मानव-समाज के मनोवैज्ञानिक विकास की एक विशेष सीढ़ी के साथ जुड़ा हुआ भ्रम है। समाज उसे धीरे-धीरे उतार फेंकने की प्रक्रिया में रत है क्योंकि उसके मनीषी सदस्य बौद्धिक अपरिपक्वता की उस मंजिल से ऊपर उठ रहे हैं जिसके साथ इस भ्रम का सम्बन्ध है।[2]

आजकल धर्म पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर बहुत जोर दिया जाता है। यद्यपि धर्म के आधुनिक मनोवैज्ञानिक अध्ययन का प्रवर्तक कान्ट था तो भी इसके मुख्य प्रतिनिधि विलियम जेम्स और स्टेनली हॉल स्टारबक और ल्यूबा

१ तुलना कीजिए पृ ५—'स्वयं फ्रॉयड के रूप में ईश्वर की कल्पना विश्लेषणात्मक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से मनोवैज्ञानिक है और 'ईडिपस ग्रन्थि' का ही रूपान्तर है और इसमें यही बात आ कि इसका उद्देश्य मनुष्य द्वारा अपने शैशवकाल के पिता को हटाकर उसके स्थान पर एक महान् पिता को इस ढंग से प्रतिष्ठापित करना है कि व्यक्ति अपने छोटे-से परिवार के क्षेत्र से बाहर निकलकर मानव-समाज के विशाल क्षेत्र में अपना आश्रयहीनता और निर्भिन्नता से हो सके।' (मनोविश्लेषणवादी थ्योरी ऑफ दि सब्जेक्टिविटी) (१९१९), पृष्ठ ५६।

२. इस ... ने एक महत्त्वपूर्ण आधार पर तर्क किया है कि धर्म का इतिहास प्रायः बाद वाले लिखे गये हैं, जिन्होंने मानवीय मामलों में एक ... भाग अदा किया है, और जो कभी कभी हानिकर भी सिद्ध हुआ है, इतिहास ... ... गयी है। ... के लोक-तन्त्र का उनसे कुछ सरोकार नहीं होता। ... ... १९।

एवं को और प्रैट है जो सब अमरीकी हैं। ब्रिटेन से भी इसमें काफी योग मिला है।[1] किन्तु धार्मिक सत्य ईश्वर आदि की वास्तविकता के विरुद्ध निष्कर्ष विशेष रूप से उन लोगों ने निकाले हैं जो फ्रॉयड के सिद्धान्तों के अनुयायी हैं। लॉयबा ने अपनी पुस्तक 'ए साइकोलोजिकल स्टडी ऑफ रिलिजन' में कहा है कि धार्मिक अनुभव केवल एक आत्मनिष्ठ (सब्जेक्टिव) स्थिति है और उसका अन्तर्निहित तत्त्व एक भ्रम है। यद्यपि वह भ्रम वास्तविकता की-सी प्रबलता के साथ होता है तो भी वह भ्रम ही है। बहके हुए और अशिक्षित लोग नीचे से उठने वाले स्वरों को ऊपर से आती हुई आवाज समझ लेते हैं। ऊपर स्वर्ग से जो वाणी हम तक पहुँचती है वह स्पष्टतः मानवीय वाणी ही है।[2] इसके बजाय स्वर्ग से आने वाले देवदूतों के सन्देश नहीं हैं बल्कि स्पष्टतः ऐसी निराश आत्माओं के उद्गार हैं जो विशुद्ध आराम पाने के लिए उनके हृदय से निकलते हैं। जब मनुष्यों का आन्तरिक नैसर्गिक उत्साह और साहस उनके इर्द-गिर्द के जीवन में ठण्डा पड़ जाता है तब अति प्रकृत आश्वासन बहुत लोकप्रिय हो जाते हैं। मनुष्यों को होने वाले रहस्यमय धार्मिक अनुभवों से निश्चितता की जो प्रतीति होती है वह वास्तव में संदिग्ध है क्योंकि ये अनुभव परस्पर विरुद्ध होते हैं। यदि धर्म का प्रयोजन गम्भीर संकटों के समय और भविष्य की आशंकाओं की घड़ियों में हमारे भीतर पुनः विश्वास पैदा करना है तो वह मनुष्य के मन पर सुझावों का प्रभाव डालकर और उसकी कल्पना को मग्न कर अपना कार्य करता है। पूर्व और पश्चिम दोनों में एक खास किस्म के धार्मिक सम्प्रदायों में संवादात्मक कल्पना को प्रबुद्ध करने वाली पद्धतियाँ बहुत आम रही हैं।[3] यदि हम किसी वस्तु विशेष के विचार

1. सेल्बी : दी साइकोलोजी ऑफ रिलिजन (१९२४ में प्रकाशित) एवं स्टारबक्स : दी साइकोलोजी ऑफ रिलिजन (१९२४) [illegible] (१९११)।
2. तुलना कीजिए टामस हॉब्स 'यह कहना कि ईश्वर ने उससे स्वप्न में कहा है और यह कहना कि उसने यह स्वप्न देखा है कि ईश्वर उससे बात कर रहा है—इनमें कोई अन्तर नहीं है। यह कहना कि उसने कोई रहस्यपूर्ण वस्तु देखा है या रहस्यपूर्ण वाणी सुनी है यह कहने के बराबर है कि उसने जागने और सोने के बीच स्वप्न देखा है।' लेवियाथन पुस्तक ३, अध्याय XXXII (अंग्रेज़ी [illegible] की नेचुरलिज़्म ऐण्ड रिलिजन (१९२१) में पृष्ठ ८८ पर उद्धृत)।
3. भारत और यूनान दोनों के [illegible] रहस्यमय अनुभूतियों और स्वप्नों एवं रहस्यमय अनुभवों के दर्शन और धार्मिकों के [illegible] मनोवेद की दृष्टि से देखने [illegible] है।

पर अपना ध्यान केन्द्रित कर दें उदाहरणार्थ रौरव नरक की आग की लपटों पर तो कुछ समय बाद हम उन्मुख अपनी हथेलियों पर झुलसने वाली आग अनुभव करने लगते हैं। इसी प्रक्रिया से हमने ईश्वर को ही नहीं उसके शत्रु शैतान और उसके भूत प्रेत और डाकिनियों के गिरोह को देखा है। 'जो विश्वास करता है उसके लिए सब-कुछ सम्भव है।' हमें जैसा ज्ञान का प्रकाश दिया जाता है हम उसके अनुसार अपनी मनःस्थिति बना सकते हैं।

मनोवैज्ञानिकों की दिलचस्पी उन परिस्थितियों का पता लगाने में जरूर है जिनसे हम अपनी कल्पना की सृष्टि को वास्तविक तथ्य मान लेते हैं किन्तु उनके सत्यात्मक मूल्य या ज्ञान में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं है। जब हमें मालूम हो जाता है कि अमुक वस्तु भ्रम है तो हम उसकी सत्यता पर बहस नहीं करते। जब हम यह बताते हैं कि वे कौनसी परिस्थितियाँ थीं जिनमें सती प्रथा और मन्त्र-तन्त्र पर विश्वास किया जाता था तब हम उन धार्मिक ग्रन्थों के वचनों का और उन बड़े बड़े लोगों का उल्लेख करते हैं जिनको प्रामाणिक मानकर यह विश्वास किया जाता था और साथ ही हम जन-साधारण के भोलेपन आदि का भी उल्लेख करते हैं जो उस विश्वास में सहायक थे। इसी प्रकार मनोविज्ञानशास्त्री भी हमें बताते हैं कि किन परिस्थितियों में लोग धार्मिक बातों पर विश्वास करते हैं।

धर्म संसार में मानवीय भावना के प्राकृतिक दोषों और कठिनाइयों की कुछ क्षति-पूर्ति करता है और उसके द्वारा मनुष्य इस संसार की अनिश्चितता, अस्थिरता और असहायता से बचकर एक ऐसे संसार में जा सकता है जहाँ ईश्वर की दिव्य मानता के कारण ये सब दोष खत्म हो जाते हैं। तात्त्विक और वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो धर्म एक पूर्ण पुरुष और पूर्ण समाज के सम्बन्ध में एक तथ्यात्मक स्थिति से मुक्त होकर विशुद्ध आदर्श के अनुभव को प्राप्त करने के साधनों के सम्बन्ध में अपने विचारों को प्रकट करने का मनुष्य का प्रयत्न है। मनुष्य की दृष्टि में देवता वास्तव में वैसे ही आदर्श मानव प्राणी हैं जैसे कि वे स्वयं बनना चाहते हैं।

धर्म का [illegible] देखना [illegible] कर दें [illegible] [illegible] नहीं है। श्री [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] में नहीं है फिर भी हमारा [illegible] [illegible] कि हम [illegible] [illegible] के सम्बन्ध [illegible] [illegible] है।

हमारी ईश्वर-सम्बन्धी भावना हमारे ऊपर पड़ने वाले समाज के दबाव के कारण है।[1] प्रचलित नैतिक आचार के समर्थन में हम एक ऐसे ईश्वर की दुहाई देते हैं जिसे हम जानते नहीं।

४ तुलनात्मक धर्म-समीक्षा

तुलनात्मक धर्म-समीक्षा और ऊँचे दर्जे की आलोचना जो अपेक्षाकृत हाल के जमाने की चीजें हैं, अब अपना भी मोल इस प्रकार लेने लगी हैं मानो धर्म का विघटन अपने-आपमें पर्याप्त निर्णायक नहीं था। तुलनात्मक धर्म-समीक्षा से हम अपने धार्मिक विश्वास के अतिरिक्त अन्य विश्वासों का भी बिना उन्हें स्वीकार या तिरस्कार किये अध्ययन कर सकते हैं। इस तुलनात्मक अध्ययन से हम अपने सुदूर पूर्वजों के सीधे-सादे विश्वासों से लेकर, जिन्होंने कि इस महान् पारिवेशिक रहस्य के अनुभवों को पहले-पहल सूत्रबद्ध किया, आज के जीवित विश्वासों तक ईश्वर सम्बन्धी हमारे समस्त विश्वासों के इतिहास की समीक्षा कर सकते हैं। प्रतीत होता है कि हर वस्तु पर मनुष्य ने देवत्व का आरोप कर दिया है। प्रकृति की शक्तियों सूर्य तारों अग्नि आग और पृथ्वी एवं प्रजननकारी ऊर्जाओं को देवता बना दिया गया है। वीर-पूजा और मानवीय देवताओं ने देवताओं की इस संख्या में और भी वृद्धि कर दी है। ईश्वर के चित्र हमने अपने मन में उतने ही बनाये हुए हैं जितने कि हम स्वयं हैं। ज़ीनोफ़ेनीज़ का जो यूरोप का धर्म का सबसे पहला महान् तुलनात्मक अध्ययनकर्ता था सन्देहवाद प्रतिदिन पुष्ट होता जा रहा है।

[1] जिस प्रकार परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए [illegible] माता मेरी के लिए प्रसाद की मन्नत मानता है, यद्यपि कैथोलिक या प्रोटेस्टेंट छात्र परीक्षा में सफलता के लिए सिर्फ एक अच्छा शिक्षक नियुक्त करता है। किन्तु क्या इन दोनों की प्रथम दिलचस्पी और प्रयोजन में कोई वास्तविक अन्तर है ? ([illegible] रिलिजस [illegible] (१९१५) पृष्ठ ४)।

[2] इस सिद्धान्त की प्रभावकारी आलोचना के लिए देखिए [illegible] (१९११)।

[3] यदि बैलों घोड़ों और शेरों के हाथ होते और वे मनुष्यों की भाँति अपने हाथ से चित्र और कलाकृतियाँ बना सकते तो घोड़े घोड़ों के रूप में और बैल बैलों के रूप में देवताओं का चित्रण करते और उनके शरीर अपनी तरह-तरह की आकृतियों में बनाते। इथियोपियन लोग ईश्वर का काला और चपटी नाक वाला चित्रण करते हैं; [illegible] लोग कहते हैं कि उनके ईश्वर की आँखें नीली और बाल लाल हैं। [illegible]

नृतत्वशास्त्र जिससे हमें सुनहरी शाखाओं और प्राणियों राजाओं और स्वर्गीय युगल आदि की ईश्वर की भाँति पूजा की प्राचीन परम्पराओं की दिलचस्प जानकारी मिलती है यह सिद्ध करता है कि हमारे आज के अनेक जीवित देवताओं के पूर्वज बहुत ही निम्न कोटि के थे। नृतत्वशास्त्र हमें बताता है कि धर्म के नाम से हमें प्राचीन काल से प्राप्त हुई कुछ परम्पराएँ वास्तव में आदिमयुगीन कर्म काण्डों से ही प्रारम्भ हुई थी। आदिमयुगीन लोग अपने देवताओं को खाया करते थे ताकि उन्हें उनसे शक्ति प्राप्त हो और ईसाइयों में ईसा के शरीर को खाने और उसके रक्त को पीने की जो प्रथा है वह भी इस पुरानी प्रथा से सर्वथा असम्बद्ध नहीं है। धार्मिक साहित्य में दी गई कहानियाँ ईश्वर की सुनाई हुई नहीं हैं और यदि हम आज भी उन्हें ईश्वरीय कहानियाँ मानकर ही उनसे चिपटे हुए हैं तो उससे यही सिद्ध होता है कि धनतियों का उन्मूलन बहुत कठिनाई से होता है।

कोई भी देवता अन्तिम और अपरिवर्तनीय तथा कोई भी धर्म पूर्ण नहीं प्रतीत होता। एक समय था जब मोलोक और बाल के बड़े-बड़े मन्दिर बनाये गए थे वे अपने समय के शक्तिशाली देवता थे और उनके पूजकों की संख्या बहुत बड़ी थी वे आदेश और निषेध जारी किया करते थे जिनकी व्याख्या करने में कितने ही पुजारियों ने अपना सारा जीवन व्यतीत कर दिया था। उनकी शक्ति और सत्ता से इनकार करना कुफ्र समझा जाता था और हजारों व्यक्तियों ने इस अपराध में मौत और अत्याचार सहे किन्तु आज कौन ऐसा व्यक्ति है जो उनकी पूजा करना तो दूर, उनको स्वीकार भी करे? मिस्र का रा और बेबिलोन का सम्राट आइसिस और अपोलो जियस और एथीना जानस और वेस्टा जिन्हें लाखों व्यक्ति भय और सम्भ्रम की दृष्टि देखते थे और जो कुछ हजार वर्ष पूर्व स्वयं ब्रह्मा के समकक्ष समझे जाने वाले देवता थे कहाँ गए? उनके दिन लद गए आज उनकी वेदिकाओं पर पूजा के धूप-दीप से धुआँ नहीं उठता। हम उन लोगों के भोलेपन पर हँसते हैं जो यह समझते हैं कि और सब देवता खत्म हो जाएँगे सिर्फ उन्हीं का देवता अनन्त काल तक बना रहेगा। अतीत की खण्डित मूर्तियों से भी उनके कोई खबर नहीं मिलती। धर्म का इतिहास परस्पर-विरोधी प्रणालियों के

मध्ये तीसरा संस्करण, (२) पृ० ४। स्पिनोज़ा का कहना है यदि किसी त्रिकोण में सोचने की शक्ति हो तो वह यही कहेगा कि ईश्वर त्रिकोणा है और वृत्त कहेगा कि ईश्वर वृत्ताकार है और इस प्रकार हर वस्तु ईश्वर पर अपनी ही विशेषताओं का आरोप करेगी और अपने-आपको ईश्वर जैसा मान अन्य चीजों को निम्न और बुरा समझेगी। [illegible]
रखी। [illegible]

बारे में वैज्ञानिक आलोचना और ऐतिहासिक ज्ञान का तकाजा है कि हम उन्हें अस्वीकार कर दें और वास्तव में इस बात का कोई तर्क-संगत कारण नहीं है कि हमें उन्हें स्वीकार करना ही चाहिए। सत्य किसी भी इलहाम से बड़ी चीज है।

५. आस्तिकवाद के पक्ष में प्रमाण

ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में दिये जाने वाले सब तथाकथित प्रमाण दोष-पूर्ण हैं, बशर्ते कि प्रमाण से हमारा अभिप्राय ऐसे सबूत हों जो किसी भी विवेकशील व्यक्ति के लिए उसी प्रकार विश्वसनीय हों जिस प्रकार गणित के तर्क वाक्य के प्रमाण होते हैं। दार्शनिक तर्क एक सर्वथा पूर्ण सत्ता के रूप में ईश्वर की कल्पना से प्रारम्भ होता है। ऐसी सर्वथा पूर्ण सत्ता अस्तित्वमय होनी चाहिए क्योंकि अस्तित्वहीन होने का अर्थ है अपूर्णता और उस अस्तित्वहीन अपूर्ण सत्ता से अधिक पूर्ण सत्ता की जो विद्यमान (अस्तित्वमय) हो कल्पना की जा सकती है। किन्तु यह तर्क वाक्य उस मूल सिद्धान्त के विरुद्ध है जिससे कि तर्क प्रारम्भ हुआ था। इसलिए ईश्वर का अस्तित्व है। कान्ट का कहना है कि सत्ता अच्छाई या बुद्धि मत्ता जैसा गुण नहीं है इसलिए वह हमारे मन में किसी भी विचार की संकल्पना के साथ अभिन्न नहीं हो सकती। बहुत-सी चीजें ऐसी हैं जिनका अस्तित्व केवल हमारी कल्पना में ही है। हमारे मन में एक पूर्ण वृत्त की कल्पना है किन्तु उसका अर्थ यह नहीं कि पूर्ण वृत्त-जैसी वस्तु का वास्तव में अस्तित्व है। ईश्वर का विचार भी इसका अपवाद नहीं है। ईश्वर का अस्तित्व उसकी कल्पना से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

कार्य-कारण सम्बन्ध का तर्क भी इससे अधिक सन्तोषजनक नहीं है। यह तर्क कुछ ऐसी धारणाओं के आधार पर चलता है जो तर्क के आगे नहीं टिक सकतीं—ये धारणाएँ हैं (१) कार्य-कारण सम्बन्ध का सिद्धान्त प्रमाण-सिद्ध है (२) यह सिद्धान्त विश्व के भागों पर ही नहीं समग्र विश्व पर भी लागू होता है (३) विश्व का एक आदि कारण माना जा सकता है, जो कि कार्य-कारण सम्बन्ध के सिद्धान्त के विपरीत होने के कारण एक अपवाद है और (४) यह आदि-कारण ईश्वर है। कार्य-कारण की एक अनन्त शृङ्खला की कल्पना करना असम्भव नहीं है। यदि कार्य कारण सम्बन्ध का अर्थ यह माना जाए कि जिस वस्तु की हम कल्पना कर सकते हैं उसका अस्तित्व अनिवार्य है तो सारा तर्क ही प्रमाणापेक्ष हो जाता है। हम यह मान लेते हैं कि विश्व की रचना की गई है और फिर यह तर्क करते हैं कि

उसका कोई रचयिता होना चाहिए। यदि ईश्वर को हम अनादि अनन्त और अनिवार्य मानते हैं तो स्वयं विश्व को भी अनादि अनन्त और अनिवार्य मानना सम्भव है। इसके अतिरिक्त कार्य-कारण सम्बन्ध प्रकृति की घटनाओं से सम्बद्ध है और हम उसके द्वारा प्रकृति से बाहर सब वस्तुओं के मूल स्रष्टा स्रोत तक नहीं जा सकते। यह विश्व जिसे हम जानते हैं एक सापेक्ष और काल्पनिक तथ्य है। यह भी कल्पना की जा सकती है कि विश्व-जैसी कोई चीज है ही नहीं और है भी तो सिर्फ तर्कहीन और सर्वथा आकस्मिक संयोग-जन्य है। इसलिए यह कल्पना भी की जा सकती है कि ईश्वर जैसी कोई चीज नहीं है। अधिक-से-अधिक कार्य कारण सम्बन्ध के नियम की खातिर, ईश्वर एक काल्पनिक सत्ता है। किन्तु धर्म म जो ईश्वर है वह निरपेक्ष पूर्ण सत्ता है वह किसी भी अर्थ मे काल्पनिक नहीं है। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि नैतिक तर्क इसलिए नहीं टिक पाता कि नैतिक भावना के विकास को एक प्राकृतिक चुनाव की प्रक्रिया से सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है।

सोद्देश्यता की युक्ति भी जीव विज्ञान-सम्बन्धी विकास के सिद्धान्त के गहरे प्रभाव से दोषपूर्ण हो गई है। मानवीय जीवन की सोद्देश्यता का प्रश्न असंगत है। प्रश्न यह है कि अकेले मानव-जीवन का ही कोई उद्देश्य क्यों है अन्य प्राणियों के जीवन का कोई उद्देश्य क्यों नहीं है? यह प्रतीत नहीं होता कि ब्रह्माण्ड का कोई निश्चित उद्देश्य है और उसकी पूर्ति के लिए वह प्रयत्न कर रहा है। उत्पन्न होना जीना मर जाना और फिर नये सिरे से पैदा होना—यही प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक कि सब-कुछ इस प्रकार नष्ट नहीं हो जाता जैसे कोई भी कार्य पूर्ण नहीं हुआ —यह है ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया उसकी नियति। यदि यह मान भी लें कि विश्व किन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति में लगा हुआ है तो भी उससे हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि कोई-न-कोई उद्देश्य-निर्धारक मन भी होना चाहिए। हम फिर विश्व के एक प्राकृतिकवादी दृष्टिकोण की ओर लौट आते हैं जिसमें इन बातों पर बल दिया गया है कि यह संसार एक यन्त्र है और यन्त्रवत् उसके कार्य निर्धारित हैं मानव उसमें अत्यन्त नगण्य है वैयक्तिक नैतिकता सर्वथा असंगत है व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है और नैतिक पैमाने समष्टि द्वारा निर्धारित होते हैं और विश्व अनुक्रियात्मक भावना के प्रति उदासीनता दिखायी गई है। जहाँ बुद्धिमान और मनीषी लोग धर्म के आधार पर ही सन्देह प्रकट करते हैं और धार्मिक वृत्ति के लोगों के लिए धर्म से कोई बड़ी आशाएँ

मानव का इतिहास है जिसमें से हरेक का यह कट्टरतापूर्ण दावा था कि वही अन्तिम है वही परम सत्य है—एक ऐसा दावा जो उनकी बहुसंख्या को देखते हुए बेतुका ही था।

यदि धर्म का तुलनात्मक अध्ययन हमें कोई सबक देता है तो वह यही है कि हर धर्म भ्रान्त और अपूर्ण मानवीय साधनों में ढाला और गढ़ा गया है और जब तक वह जीवित है तब तक वह बदलता रहेगा। आत्मा का धर्म है विकास और अभी जब हम जीवन का सिर्फ एक ही पार्श्व देख रहे होते हैं, चक्र घूम जाता है और अतीत की छाया उसके बीच में आ जाती है।

'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को ही ब्रह्माण्ड का प्रतिरूप मानने के दम्भीय विश्वास ने सर्वात्मवाद के ऐसे-ऐसे अजीब सिद्धान्तों को जन्म दिया जिनसे प्रायः हर चेतन और अचेतन वस्तु में मानवीय गुणों का *अध्यारोप कर दिया गया। हमने पत्थरों को सजीव और वृक्षों को संवेदनशील* माना। यहाँ तक कि जब हमारे मन में मानवीय व्यक्तित्व की अवधारणा अधिक स्पष्ट हो गई तब भी सब वस्तुओं को मनुष्य के समान मानने की प्रवृत्ति ने हमारा पीछा नहीं छोड़ा। हमने अपने देवताओं को मानवीय आवेशों से युक्त कर दिया और वे हमारे मामूली-से पाप के लिए भी हम पर क्रोध और प्रतिशोध का वज्र पात करते। इसीलिए यह मान्यता है कि मनुष्य का मन विराट् ब्रह्माण्ड-सत्ता के अनुरूप है।

२ सूक्ष्म आलोचना

वेद, त्रिपिटक, बाइबिल और कुरान आदि जो धर्म-ग्रन्थ धर्मों की चरम सत्यता की घोषणा करते हैं और अपने-आपको अभ्रान्त बताते हैं, उन्हें भी प्राय लोगों के प्रश्नोत्तरों और अशोक के लेखों की भाँति आलोचनात्मक और ऐतिहासिक भावना से परखा जाता है। ये सब मानवीय हाथों से लिखे गए मानवीय अभिलेख हैं और उनमें गलती की सम्भावनाएँ हैं। केवल धार्मिक ग्रन्थ ही नहीं, सब धर्मों की स्मृतियाँ भी अपौरुषेय और सीधे देवताओं से प्राप्त मानी जाती हैं। यहूदी और गैर-यहूदी, ग्रीक और ग्रीकेतर सभी यह दावा करते हैं कि उनके नियम-कानून सबसे पहले देवताओं ने ही बनाये थे। किन्तु आज हम जानते हैं कि इन सबकी उत्पत्ति मानव प्राणियों के परस्पर-विरोधी आवेगों और अपना मार्ग टटोलने वाले अन्धे के-से तर्क से हुई है। धार्मिक-ग्रन्थ भी इसके अपवाद नहीं हैं। वे उन परम्परा

संघर्ष का इतिहास है जिसमें से हरेक का यह कट्टरतापूर्ण दावा था कि वही अन्तिम है वही चरम सत्य है—एक ऐसा दावा जो उनकी बहुसंख्या को देखते हुए वैसे ही बेतुका था।

यदि धर्म का तुलनात्मक अध्ययन हमें कोई सबक देता है तो यह नहीं है कि हर धर्म भ्रान्त और अपूर्ण मानवीय साधनों में ढाला और गढ़ा गया है और जब तक वह जीवित है तब तक वह बदलता रहेगा। आत्मा का धर्म है विकास और अभी जब हम जीवन का सिर्फ एक ही पार्श्व देख रहे होते हैं, चक्र घूम जाता है और अतीत की छाया उसके बीच में आ जाती है।

'यथा पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड' के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को ही ब्रह्माण्ड का प्रतिरूप मानने के दयनीय विश्वास ने सर्वात्मवाद के ऐसे-ऐसे अजीब सिद्धान्तों को जन्म दिया जिनसे प्राय: हर चेतन और अचेतन वस्तु में मानवीय गुणों का अध्यारोप कर दिया गया। हमने पत्थरों को सजीव और वृक्षों को संवेदनशील माना। यहाँ तक कि जब हमारे मन में मानवीय व्यक्तित्व की अवधारणा अधिक स्पष्ट हो गई तब भी सब वस्तुओं को मनुष्य के समान मानने की प्रवृत्ति ने हमारा पीछा नहीं छोड़ा। हमने अपने देवताओं को मानवीय आवेगों से युक्त कर दिया और वे हमारे मामूली-से पाप के लिए भी हम पर क्रोध और प्रतिशोध का वज्र-पात करते। इसीलिए यह मान्यता है कि मनुष्य का मन विराट ब्रह्माण्ड-सत्ता के अनुरूप है।

५. सूक्ष्म आलोचना

वेद, त्रिपिटक, बाइबिल और कुरान आदि जो धर्म-ग्रन्थ धर्मों की चरम सत्यता की घोषणा करते हैं और अपने-आपको अभ्रान्त बताते हैं उन्हें भी आज प्लेटो के प्रश्नोत्तरों और अशोक के लेखों की भाँति आलोचनात्मक और ऐतिहासिक भावना से परखा जाता है। ये सब मानवीय हाथों से लिखे गए मानवीय अभिलेख हैं और उनमें गलती की सम्भावनाएँ हैं। केवल धार्मिक ग्रन्थ ही नहीं सब धर्मों की स्मृतियाँ भी अपौरुषेय और सीधे देवताओं से प्राप्त मानी जाती हैं। यहूदी और गैर-यहूदी, ग्रीक और ग्रीकेतर सभी यह दावा करते हैं कि उनके नियम-कानून सबसे पहले देवताओं ने ही बनाये थे। किन्तु आज हम जानते हैं कि इन सबकी उत्पत्ति मानव प्राणियों के परस्पर-विरोधी आवेगों और अपना मार्ग टटोलने वाले अन्धे-से तर्क से हुई है। धार्मिक-ग्रन्थ भी इसके अपवाद नहीं हैं। ये सब परम्

हमारी ईश्वर-सम्बन्धी भावना हमारे ऊपर पड़ने वाले समाज के दबाव के कारण है।[1] प्रचलित नैतिक आचार के समर्थन में हम एक ऐसे ईश्वर की दुहाई देते हैं जिसे हम जानते नहीं।

४ तुलनात्मक धर्म-समीक्षा

तुलनात्मक धर्म-समीक्षा और ऊँचे दरजे की आलोचना जो अपनाहाल हाल के जमाने की चीज है अब अपना भी नाम इस प्रकार देते लगी है मानो धर्म का विघटन अपने-आपमें पर्याप्त निर्णायक नहीं था। तुलनात्मक धर्म-समीक्षा में हम अपने धार्मिक विश्वास के अतिरिक्त अन्य विश्वासों का भी बिना उन्हें स्वीकार या तिरस्कार किये अध्ययन कर सकते हैं। इस तुलनात्मक अध्ययन से हम अपने सुदूर पूर्वजों के साथे-साथे विश्वासों से लेकर, जिन्होंने कि इस महान् पारिवारिक रहस्य के अनुभवों को पहले-पहल सूत्रबद्ध किया आज के जीवित विश्वासों तक ईश्वर सम्बन्धी हमारे समस्त विश्वासों के इतिहास की समीक्षा कर सकते हैं। प्रतीत होता है कि हर वस्तु पर मनुष्य ने देवत्व का आरोप कर दिया है। प्रकृति की शक्तियों सूर्य तारे अग्नि पवन और पृथ्वी एवं प्रजननकारी ऊर्जाओं का देवता बना दिया गया है। वीर-पूजा और मानवीय देवताओं ने देवताओं की इस सख्या में और भी वृद्धि कर दी है। ईश्वर ने जिन हमने अपने मन में उतने ही बनाये हुए हैं जितने कि हम स्वयं हैं। जीनोफेनीज का जो यूरोप का धर्म का सबसे पहला महान् तुलनात्मक अध्ययनकर्ता था सन्देहवाद प्रतिदिन पुष्ट होता जा रहा है।

जिस ज्ञान परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए मात्र मेरी के लिए मसाद की मन्नत मानता है वर्जिन मेरी का प्रोटेस्टेंट ज्ञान परीक्षा में सफलता के लिए सिर्फ एक अच्छा शिक्षक नियुक्त करता है। किन्तु क्या इन दोनों की मूलभूत विचारपद्धति और प्रयोजन में कोई वास्तविक अन्तर है ?' (ल्यूक, दी डिफिकल्ट रिलिजन एण्ड इन्स कॉम्प्लीसिटी ट्रुथ्स (१९), पृष्ठ)।

१ इस सिद्धान्त की प्रभावशाली आलोचना के लिए क्लीमेंट वेब की पुस्तक ग्रुप थियरीज ऑफ रिलिजन एण्ड दी रिलिजन ऑफ दी इन्डिविजुअल (१९१६)।

२ 'हाँ यदि बैल घोड़े और शेरों के हाथ होते और वे मनुष्यों की भाँति अपने हाथ से चित्र और कलाकृतियाँ बना सकते तो घोड़े-घोड़ों के रूप में और शेर शेरों के रूप में देवताओं को चित्रित करते और उनके शरीर अपनी तरह-तरह की आकृतियों में बनाते। इथियोपियावासी अपने ईश्वर को काला और चपटी नाक वाला चित्रित करते हैं थ्रेसियन लोग कहते हैं कि उनके ईश्वर की आँखें नीली और बाल लाल हैं।' बर्नेट, अर्ली ग्रीक फिलॉ-

रार्यों और उपायों का संग्रह है जिन्हें सम्यक् दृष्टि-सम्पन्न ऋषियों ने इसलिए निर्धारित करना जरूरी समझा ताकि उनसे मनुष्यों को अच्छा जीवन बिताने पर परस्पर मिलकर रहने में सहायता मिल सके। धर्म-ग्रन्थ इतिहास की उपज हैं और उनके कुछ भाग प्रक्षिप्त हैं या कम-से-कम इतने पुराने नहीं हैं जितने कि वे समझे जाते हैं। यह बात अच्छी तरह सिद्ध नहीं की जा सकी कि ऋषियों या पैगम्बरों को ये ज्ञान इन्हीं शब्दों में प्राप्त हुए। हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि इनमें से एक भी धर्म-ग्रन्थ सीधा ईश्वर का ही वचन है। ईसाई धर्म-ग्रन्थों की स्थूल और सूक्ष्म आलोचनाओं ने यह सिद्ध किया कि बाइबिल में पौराणिक गाथाएँ, दन्तकथाएँ और प्रचलित परम्पराएँ हैं और विकास के अनेक स्तरों से गुजरते हुए उसमें अभिवृद्धि हुई है। किन्तु इस ऐतिहासिक वर्णन समझना पड़ेगा। मनीषी हिन्दुओं और बौद्धों में आलोचनात्मक रवैया काफी आम रहा है। उन्होंने अपने पवित्र ग्रन्थों का विश्लेषण किया है और यह निर्धारित किया है कि उनका कौनसा भाग किस युग से सम्बद्ध है। वेद कोई एक पुस्तक नहीं बल्कि साहित्यिक संग्रह है जिसमें विविध शैलियों वालों और मूल्यों वाली साहित्यिक रचनाएँ हैं। उनके प्रेरणाजन्य होने का अर्थ यह नहीं है कि वे ईश्वर से ही बोलकर लिखाए हैं या लेखक ने जिस समय उन्हें लिखा उस समय उसकी सामान्य शक्तियाँ तिरोहित हो गई और उनका स्थान कुछ असाधारण दिव्य शक्तियों ने ले लिया। उनके विभिन्न स्तरों में एक के बाद एक अनेक पीढ़ियों की आशाओं और विश्वासों भयों और कल्पनाओं का संग्रह है। उनका महत्त्व इस बात में नहीं है कि वे बहुत प्राचीन हैं या ईश्वरीय वचन हैं बल्कि उनकी विषय-वस्तु की महत्ता में है। कार्ल्यू के ने समस्त चीनी जगत् को यह कहकर चकित कर दिया था कि वे सब धार्मिक पाठ जिनके बारे में यह परम्परा चली आ रही है कि कन्फ्यूशियस ने उन्हें बाकी सम्पत्तियों के लिए पवित्र विरासत के रूप में व्यवस्थित करके प्रकाशित कराया वास्तव में जान-बूझकर की गई जालसाजी है। उसकी 'दि रिफॉर्म ऑफ कन्फ्यूशियस' नामक पुस्तक में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कन्फ्यूशियस द्वारा लिखे गए पुराने ग्रन्थ वास्तव में प्राचीन ग्रन्थ नहीं हैं और न उनके द्वारा सम्पादित हैं बल्कि उनमें अपनी शिक्षाओं को जो उस जमाने में क्रान्तिकारी थीं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रदान करने के लिए वे बातें स्वयं गढ़ ली थीं। ऐसे दूसरे धर्म-ग्रन्थ में जो ईश्वरीय ज्ञान बताया जाता है ऐसी बहुत सी चीजें हैं जिनमें

१ हिबर्ट लेक्चर्स : दि माइंड ऑफ चाइना, ६८ की व्याख्या (१९९१) ... १०१।

संघर्ष का इतिहास है जिनमें से हरेक का यह कट्टरतापूर्ण दावा था कि वही अन्तिम है, वही चरम सत्य है—एक ऐसा दावा जो उनकी बहुसंख्या को देखते हुए वैसे ही बेतुका था।

यदि धर्म का तुलनात्मक अध्ययन हमें कोई सबक देता है तो वह यही है कि हर धर्म भ्रान्त और अपूर्ण मानवीय साधनों में ढाला और गढ़ा गया है और जब तक वह जीवित है तब तक वह बदलता रहेगा। धारणा का अर्थ है विकास और अभी जब हम जीवन का सिर्फ एक ही पक्ष देख रहे होते हैं, चक्र घूम जाता है और अतीत की छाया उसके बीच में आ जाती है।

यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को ही ब्रह्माण्ड का प्रतिरूप मानने के दयनीय विश्वास ने सर्वात्मवाद के ऐसे-ऐसे अजीब सिद्धान्तों को जन्म दिया जिससे प्राय: हर चेतन और अचेतन वस्तु में मानवीय गुणों का अध्यारोप कर दिया गया। हमने पत्थरों को सजीव और वृक्षों को संवेदनशील माना। यहाँ तक कि जब हमारे मन में मानवीय व्यक्तित्व की अवधारणा अधिक स्पष्ट हो गई तब भी सब वस्तुओं को मनुष्य के समान मानने की प्रवृत्ति ने हमारा पीछा नहीं छोड़ा। हमने अपने देवताओं को मानवीय आवेगों से युक्त कर दिया और वे हमारे मामूली-से पाप के लिए भी हम पर क्रोध और प्रतिशोध का वज्र पात करते। इसीलिए यह मान्यता है कि मनुष्य का मन विराट् ब्रह्माण्ड-सत्ता के अनुरूप है।

५. सूक्ष्म आलोचना

वेद, त्रिपिटक, बाइबिल और कुरान आदि जो धर्म-ग्रन्थ धर्मों की चरम सत्यता की घोषणा करते हैं और अपने-आपको अभ्रान्त बताते हैं उन्हें भी प्लेटो के प्रश्नोत्तरों और अशोक के लेखों की भाँति आलोचनात्मक और ऐतिहासिक भावना से परखा जाता है। ये सब मानवीय हाथों से लिखे गए मानवीय अभिलेख हैं और उनमें गलती की सम्भावनाएँ हैं। केवल धार्मिक ग्रन्थ ही नहीं सब धर्मों की स्मृतियाँ भी अपौरुषेय और सीधे देवताओं से प्राप्त मानी जाती हैं। यहूदी और गैर-यहूदी, ग्रीक और [illegible], सभी यह दावा करते हैं कि उनके नियम-कानून सबसे पहले देवताओं ने ही बनाये थे। किन्तु आज हम जानते हैं कि इन सबकी उत्पत्ति मानव प्राणियों के परस्पर-विरोधी आवेगों और अपना मार्ग टटोलने वाले अन्धे के-से तर्क से हुई है। धार्मिक-ग्रन्थ भी इसके अपवाद नहीं हैं। ये उन परम्

उसका कोई रचयिता होना चाहिए। यदि ईश्वर को हम अनादि अनन्त और अनिवार्य मानते हैं तो स्वयं विश्व को भी अनादि, अनन्त और अनिवार्य मानना सम्भव है। इसके अतिरिक्त कार्य-कारण सम्बन्ध प्रकृति की घटनाओं से सम्बद्ध है और हम उसके द्वारा प्रकृति से बाहर सब वस्तुओं के मूल स्रष्टा और तक नहीं जा सकते। यह विश्व जिसे हम जानते हैं एक आपेक्ष और काल्पनिक तथ्य है। यह भी कल्पना की जा सकती है कि विश्व-जैसी कोई चीज है ही नहीं और है भी तो सिर्फ तर्कहीन और सर्वथा आकस्मिक संयोग-जन्य है। इसलिए यह कल्पना भी की जा सकती है कि ईश्वर जैसी कोई चीज नहीं है। अधिक-से-अधिक कार्य कारण सम्बन्ध के नियम की खातिर, ईश्वर एक काल्पनिक सत्ता है। किन्तु धर्म में जो ईश्वर है वह निरपेक्ष पूर्ण सत्ता है वह किसी भी अर्थ में काल्पनिक नहीं है। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि नैतिक तर्क इसलिए नहीं टिक पाता कि नैतिक भावना के विकास को एक प्राकृतिक चुनाव की प्रक्रिया से सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है।

सोद्देश्यता की युक्ति भी जीव विज्ञान-सम्बन्धी विकास के सिद्धान्त के गहरे प्रभाव से दोषपूर्ण हो गई है। मानवीय जीवन की सोद्देश्यता का प्रश्न असंगत है। प्रश्न यह है कि अकेले मानव-जीवन का ही कोई उद्देश्य क्यों है अन्य प्राणियों के जीवन का कोई उद्देश्य क्यों नहीं है? यह प्रतीत नहीं होता कि ब्रह्मांड का कोई निश्चित उद्देश्य है और उसकी पूर्ति के लिए वह प्रयत्न कर रहा है। उत्पन्न होना, जीना, मर जाना और फिर नये सिर से पैदा होना—यही प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक कि सब-कुछ इस प्रकार नष्ट नहीं हो जाता जैसे कोई भी कार्य पूर्ण नहीं हुआ—यह है ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया उसकी नियति। यदि यह मान भी लें कि विश्व किन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति में लगा हुआ है तो भी उससे हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि कोई-न-कोई उद्देश्य-निर्धारक मन भी होना चाहिए। हम फिर विश्व के एक प्रकृतिवादी दृष्टिकोण की ओर लौट आते हैं जिसमें इन बातों पर बल दिया गया है कि यह संसार एक यन्त्र है और तदनुसार उसके कार्य निर्धारित हैं मानव उसमें परतन्त्र अवयव है वैयक्तिक नैतिकता सर्वथा असंगत है क्योंकि स्वतन्त्र नहीं है और नैतिक पैमाने समष्टि द्वारा निर्धारित होते हैं और जिसमें अनुभवात्मक भावना के प्रति उदासीनता दिखायी गई है। बड़े बुद्धिमान और मनीषी लोग धर्म के आधार पर ही सन्देह प्रकट करते हैं और धार्मिक वृत्ति के लोगों के लिए कम से कोई बड़ी बाधाएँ

बारे में वैज्ञानिक आलोचना और ऐतिहासिक ज्ञान का तकाजा है कि हम उन्हें अस्वीकार करें और वास्तव में इस बात का कोई तर्क-संगत कारण नहीं है कि हमें उन्हें स्वीकार करना ही चाहिए। सत्य किसी भी इलहाम से बड़ी चीज है।

५ आस्तिकवाद के पक्ष में प्रमाण

ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में दिये जाने वाले सब तथाकथित प्रमाण दोषपूर्ण हैं बशर्ते कि प्रमाण से हमारा अभिप्राय ऐसे सबूत हों जो किसी भी विवेकशील व्यक्ति के लिए उसी प्रकार विश्वसनीय हों जिस प्रकार गणित के तर्क वाक्य के प्रमाण होते हैं। दार्शनिक तर्क एक सर्वथा पूर्ण सत्ता के रूप में ईश्वर की कल्पना से प्रारम्भ होता है। ऐसी सर्वथा पूर्ण सत्ता अस्तित्वमय होनी चाहिए, क्योंकि अस्तित्वहीन होने का अर्थ है अपूर्णता और उस अस्तित्वहीन अपूर्ण सत्ता से अधिक पूर्ण सत्ता की जो विद्यमान (अस्तित्वमय) हो कल्पना की जा सकती है। किन्तु यह तर्क वाक्य उस मूल सिद्धान्त के विरुद्ध है जिससे कि तर्क प्रारम्भ हुआ था। इसलिए ईश्वर का अस्तित्व है। कान्ट का कहना है कि सत्ता अच्छाई या बुद्धिमत्ता-जैसा गुण नहीं है इसलिए वह हमारे मन में किसी भी विचार की संकल्पना के साथ सम्मिलित नहीं हो सकती। बहुत-सी चीजें ऐसी हैं जिनका अस्तित्व केवल हमारी कल्पना में ही है। हमारे मन में एक पूर्ण वृत्त की कल्पना है किन्तु उसका अर्थ यह नहीं कि पूर्ण वृत्त-जैसी वस्तु का वास्तव में अस्तित्व है। ईश्वर का विचार भी इसका अपवाद नहीं है। ईश्वर का अस्तित्व उसकी कल्पना से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

कार्य-कारण सम्बन्ध का तर्क भी इससे अधिक सन्तोषजनक नहीं है। यह तर्क कुछ ऐसी धारणाओं के आधार पर चलता है जो तर्क के आगे नहीं टिक सकतीं—ये धारणाएँ हैं (१) कार्य-कारण सम्बन्ध का सिद्धान्त प्रमाण-सिद्ध है (२) यह सिद्धान्त विश्व के भागों पर ही नहीं समग्र विश्व पर भी लागू होता है (३) विश्व का एक आदि-कारण माना जा सकता है, जो कि कार्य-कारण सम्बन्ध के सिद्धान्त के विपरीत होने के कारण एक अपवाद है और (४) वह आदि-कारण ईश्वर है। कार्य-कारण की एक अनन्त शृङ्खला की कल्पना करना असम्भव नहीं है। यदि कार्य-कारण सम्बन्ध का अर्थ यह माना जाए कि जिस वस्तु की हम कल्पना कर सकते हैं उसका अस्तित्व अनिवार्य है तो सारा तर्क ही प्रमाणापेक्ष हो जाता है। हम यह मान लेते हैं कि विश्व की रचना की गई है और फिर यह तर्क करते हैं कि

से अलग कर हम उस एकमात्र मनादि ममनस्तता को नष्ट कर देते है जिसे हम जानते हैं अर्थात् महत जीवन की अनादि अनन्तता।

मुक्ति का अर्थ आम तौर पर, दूसरे लोक में जाना किया जाता है, न कि इसी पृथ्वी पर ईश्वर के राज्य का निर्माण। धर्म का अर्थ जितना संसार से भागना किया जाता है उतना संसार को पाना या संसार में विचरण करना नहीं।

धर्म हमसे कहता है कि हम ईश्वर की वस्तुओं को सीजर (अर्थात् राजा या संसार) की वस्तुओं से अलग रखें। उसके (धर्म के) सिद्धान्तों को सांसारिक व्यवस्था में मानव के स्वार्थपूर्ण आवेग के उन्मुक्त खेल में हस्तक्षेप नहीं करने देना चाहिए। यदि एक ओर धर्म हमसे भ्रातृत्वपूर्ण प्रेम को अपनाने बल प्रयोग से बचने और धन-सम्पत्ति की उपेक्षा करने के लिए कहता है तो दूसरी ओर ऐसा लगता है कि धार्मिक लोग युद्ध विजय और उपयोगिता पर बल देते रहे हैं। दोनों में समझ-बूझकर किये गए इस पार्थक्य का अर्थ सांसारिक और पारलौकिक यानी दुनियादारी और धर्म दोनों को ही नीचे गिराना है। धर्म किन्हीं कट्टर सिद्धान्तों का अनुपालन या कर्मकाण्डों का आडम्बर नहीं है बल्कि वह ऐसा प्रेम है जिसमें मनुष्य आत्म-बलिदान कर देता है वह ऐसी शक्ति है जो दूसरे को कारागार में बन्द नहीं करती कारा-मुक्त करती है। जो लोग यह कहते हैं कि हम ईसा मसीह का राज्य नहीं हैं और उसके उदाहरण का अनुकरण करने और अपनी स्थल-सेनाओं को विघटित और अपनी नौ-सेनाओं को खत्म कर शहीद बनने की हमें आवश्यकता नहीं है जो यह कहते हैं कि धर्म व्यवहार में लाने की चीज नहीं है, वे वास्तव में धर्म का ऐकान्तिक विनाश करने में सहायता देते हैं।

धर्म की गहराइयों में हमेशा जीवन के प्रति एक नकारात्मक दृष्टिकोण रहता है—एक त्याग और उत्सर्ग का दृष्टिकोण जिसमें प्राणों का उत्सर्ग भी शामिल है। हमें बताया जाता है कि महान् देवताओं ने—जिनकी संख्या काफी है और जो विश्व के सभी भागों के हैं— हम लोगों के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग किया है और फिर हमसे कहा जाता है कि हम उनके लिए प्राणों का बलिदान करें। "क्या तू यह नहीं जानता कि हममें से इतने अधिक लोगों ने जिन्होंने ईसा मसीह के धर्म की दीक्षा की उसकी मृत्यु के कारण ईसाई धर्म स्वीकार किया। सन्त पाल के गृहस्थ-जीवन-सम्बन्धी ये प्रसिद्ध कठोर वचन 'कि मैं चाहता हूँ कि सभी लोग मेरे ही जैसे होते' अर्थात् ब्रह्मचारी और अविवाहित होते अन्य धर्म

१ सर जेम्स फ्रेजर दि गोल्डन बॉव (१९१९)।

अपना शक्ति लगा देते हैं वहां आदर्शवादी उसके क्रियात्मक मूल्य और व्यावहारिकता पर आपत्ति करते हैं।

७ धर्म की व्यावहारिक अनुपयोगिता :

धर्म यह मानकर कि एक पूर्ण ईश्वर ब्रह्माण्ड का शासक है मनु प्रयत्न के लिए उत्साह नष्ट कर देता है। प्लेटो की दृष्टि में पुण्य या अच्छाई वे सत्य और वास्तविक हैं आकाश में सूर्य की भांति सदा चमकती रहती है। मनु जोकि अपनी अज्ञानता से अंधेरी गुफा के भीतर रहता है और अपनी मूर्खता औ स्वार्थ की जंजीरों में जकड़ा रहता है अपने मन के भावों और वासनाओं प्रकाश से गुफा की दूरतम दीवारों पर पड़ने वाली परछाइयों को ही वास्तवि समझ लेता है वह यह नहीं जानता कि अच्छाई और सत्कार्य-जैसी भी कोई है जो समस्त प्रकाश और जीवन का स्रोत है। यदि उसकी आंख खोल दी तो वह वास्तविक सत्य को देख सकेगा। उसे अपने मन में विश्वास करना अपनी शक्तियों की आशाओं के सिवाय और किसी से संघर्ष नहीं करना। होना चाहिए वह पहले से ही है। हेगेल का कहना है "अनन्त उद्देश्य की प्राप् इसी बात में है कि हम उस भ्रम को दूर कर दें जो हमें यह आभासित कराता कि वह उद्देश्य पूर्ण नहीं हुआ। अच्छाई, निरपेक्ष और पूर्ण अच्छाई शाश्वत रू से विश्व में अपने-आपको सार्थक और साकार करती चली आ रही है और इस परिणाम यह है कि उसे हमारी प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में वह साकार हो गई है। धर्म वह है जो विद्यमान है, न कि जो होना चाहिए, जैसा कि बैरन फॉन ह्यूगेल ने कहा है। धर्म का सम्बन्ध उन वस्तुओं से है जो वस्तुतः हमारे चारों ओर के तत्त्वों हमें आवृत करके विद्यमान हैं या हमारे भीतर प्रवेश कर रही हैं और चाहे उसे पहचान न पाते हम बच जाते हैं। धर्म जो-कुछ विद्यमान है उसकी स्वीकृति पर बल देता है, न कि अविद्यमान की उपलब्धि पर। अच्छाई की उपल भविष्य की आवश्यकता नहीं है बल्कि एक सार्वकालिक और शाश्वत सत दिखता है। इस प्रकार धर्म को सृजनात्मकता के बजाय धारणा और चिंतन जब हमें उस संसार के जिसमें हम रहते हैं, कष्टों के प्रति सहिष्णु बना देता है अभावों-अपूर्णता को काल से पृथक कर और आध्यात्मिक सिद्धि को शक्ति की

१ हेगेल की पुस्तक 'लॉजिक ऑफ हेगल' अंग्रेजी अनुवाद (१८९२), पृ० ३७३।

विक्षुब्ध करने वाली पहेलियों का उत्तर दे सकता है। धर्म जिज्ञासा और आलो-
चना से घबराता है। ज्ञान का भय तभी से चला आ रहा है जबकि आदम और
हव्वा अदन के बगीचे में रहते थे। प्रोमीथियस को जिसने ज्ञान को चुराकर
लोगों के सम्मुख प्रकट करने का साहस किया था एक चट्टान के साथ जंजीर से
जकड़ दिया गया था। फाउस्ट की कहानी इस व्यापक विश्वास की साक्षी है कि
ज्ञानी लोगों और अन्धकार की शक्तियों में एका है। जब हम यह मान लेते हैं कि
हमने समस्त मानवता के लिए और सर्वदा के लिए समस्त आध्यात्मिक ज्ञान का
आदि और अन्त पा लिया है तब स्वभावतः हम यह भी मान लेते हैं कि यह
हमारा कर्तव्य है कि हम उन धारणाओं को शक्ति या उससे भी अधिक सूक्ष्म
उपायों से दूसरों पर लादें। धर्म के नाम पर नर-नारियों को इसलिए मौत के
घाट उतार दिया गया कि वे यह विश्वास करते थे कि मानव-देह में दुष्ट आत्मा
का वास है या इसलिए कि वे ईसाई त्रैतवाद के रहस्य को गलत समझते थे।
धर्मशास्त्रों को अपौरुषेय नहीं मानते थे या इसी प्रकार के अन्य कट्टर सिद्धान्तों
में भोलेपन से अविश्वास करते थे। धर्म को अन्तिम रूप से सत्य या पूर्ण मानने
के दुराग्रह का ही यह परिणाम था कि प्राचीन काल में अनेक सन्तों को न्याया-
लयों में मृत्युदण्ड दिया गया। यह कठमुल्लापन को जीवन की पवित्रता से भी
ऊपर प्रतिष्ठित कर देता है।

आर्थिक और राजनीतिक ताकतें जहाँ लोगों को परस्पर निकट ला रही
हैं वहाँ धर्म मानव को विभाजित करने और एक-दूसरे का शत्रु बनाने वाली
आन्तरिक दीवारों को कायम रखने का भरसक यत्न कर रहे हैं। हिन्दुओं की
दृष्टि में बौद्ध नास्तिक हैं उसी तरह जैसे धर्मेश्वरवादी यहूदियों की दृष्टि में
प्रारम्भिक ईसाई नास्तिक थे। कैथोलिक लोग किसी को प्रोटेस्टेंट समझने के
बजाय नास्तिक जल्दी समझ लेंगे। धर्म लोगों के मन में एक भारी घृणा के लिए
गहरा भ्रम पैदा कर देता है। हर धर्म में अपने आप धर्म-युद्ध अन्धविश्वास और
कट्टरता को बल पूर्वक नष्ट करने की प्रवृत्ति होती है। सब के धर्म और पन्थ
वही हैं सिर्फ उनके नाम भिन्न-भिन्न होते हैं। एक धर्म में जिस बात का स्वी-
कार करने के कारण लोगों की निन्दा की जाती है दूसरे धर्म में उसी को अस्वीकार
करने के कारण दूसरे लोग निन्दा के पात्र बनते हैं। धर्म में आस्था ऐसा मालूम
होता है मानो नैतिक विवेक और सहिष्णुतापूर्ण भावुकता को नष्ट कर देती
है। धार्मिक आस्था अन्य धर्मों का विनाश करने के लिए उत्तेजित करती है

ग्रन्थों में भी पाए जाते हैं। संसार के सभी देशों के धार्मिक सन्त और पैगम्बर मानो ईश्वर की इस बात के लिए भर्त्सना करते हैं कि क्यों उसने हमारे खून को इतना गरम बनाया, क्यों हममें विषय-वासना पैदा की, क्यों नहीं हम सबको यौनवासनाहीन, नपुंसक और [illegible] हाड़-मांसहीन भूत-प्रेत बना दिया। वे मानवीय प्रकृति को एक कुत्सित वस्तु समझते हैं जिसे काट-छाँटकर ऐसा विकृत कर देना चाहिए कि ईश्वर की प्रतिमा में वह खटके नहीं। धार्मिक व्यक्तियों ने अपने भीतर दुखी होने और आत्मपीड़न करने की नैसर्गिक वृत्ति अनुचित रूप से विकसित कर ली है। जान पड़ता है उनमें पाप के लिए नये उपादान ढूँढने की एक विह्वल लालसा है।[1] धर्म का यह आदेश कि 'तुम त्याग कर दो', आज के इस नये आदेश के सर्वथा विपरीत है कि 'तुम उपभोग करो' जिस पर कि हमारे आज के छोटे-बड़े सभी पैगम्बर सहमत हैं।[2]

धर्म यह मानकर चलता है कि मनुष्य को आवश्यक सत्य का पूर्ण ज्ञान दे दिया गया है और अब इससे अधिक जिज्ञासा और अनुसन्धान की आवश्यकता नहीं है। वह ऐसी भ्रान्ति मनुष्य के मन में पैदा कर देता है जैसी कि टर्टुलियन के मन में उस समय पैदा हो गई थी जब कि उसने अभिमान से कहा था कि एक ईसाई धर्म को माननेवाला मैकेनिक भी बुद्धिमान-से-बुद्धिमान दार्शनिकों को

[1] [illegible] का कहना है : 'जो कुछ मनुष्य को [illegible] है वे सब मनुष्य में [illegible] कम बात है जिनमें धार्मिक विश्वास जितना अधिक होता है।' श्री [illegible] को उद्धृत, 'मिररेरो यारट' भाग ११, ४ में।

[2] [illegible] के सम्बन्ध में क्या [illegible] १९१४ में ब्रिटिश एसोसिएशन में दिये गए प्रोफेसर बेटसन के अध्यक्षीय भाषण के निम्नलिखित उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है : 'मनुष्य को अभी अभी यह प्रतीत होने लगा है कि वह क्या है—वह वास्तव में एक नया [illegible] प्राणी है जिसमें आनन्द के उपभोग की बहुत बड़ी शक्तियाँ हैं [illegible] कि वह [illegible]-पूर्वक उनका परित्याग न करे। अभी तक आत्मविश्वास और पाप के सम्बन्ध में [illegible] इन शक्तियों को निरुत्साहित करता रहा है। [illegible] धर्म मानने को [illegible] किन्तु [illegible] है। और यह [illegible] बात है कि [illegible] और [illegible] के रूप में [illegible] का प्रभाव आधुनिक संसार पर धीरे-धीरे [illegible] रहा है। [illegible] और मृत्यु के [illegible] अधिक [illegible] —[illegible] अधिक [illegible] भी [illegible] है—[illegible] अधिक [illegible] करने के लिए [illegible] है।

समाज के कल्याण या विश्व-शान्ति की खातिर नहीं बल्कि इसलिए कि इस प्रकार का काम उन्मत्त व्यक्ति के अपने ईर्ष्यालु देवता को प्रिय लगता है। पूजा जितनी पक्षपातपूर्ण होती है, भावों का आडम्बर भी उतना ही बड़ा प्रतीत होता है। एक सांघातिक तर्क द्वारा यह मान लिया जाता है कि ईर्ष्यालु देवता ने उन सब लोगों के विनाश का विधान कर दिया है, जो उसे दूसरे नामों से पुकारते हैं। यह विचार कि ईश्वर ने अपने-आपको किसी एक पैगम्बर, जैसे बुद्ध, ईसा या मुहम्मद पर ही अभिव्यक्त किया है और दूसरों को या तो ईश्वरीय ज्ञान उसी पैगम्बर से प्राप्त करना होगा अन्यथा उनका आध्यात्मिक विनाश हो जाएगा पुराने ज़माने का विचार नहीं है। एक धर्म का दूसरे धर्मों से बढ़कर कोई शत्रु नहीं है। हममें धर्म के प्रति भी एक प्रकार की देश भक्ति की-सी भावना बना डाली है जिसमें धर्म का अपना असम्य विधान है अपनी ध्वजा है और अन्य धर्मों के विधान और ध्वजा के प्रति विद्वेष भी है। जिन स्वतन्त्र विचारकों को ईश्वर की प्रिय विशिष्ट जातियों और विशिष्ट पैगम्बरों के सिद्धान्त का खण्डन करने और ईश्वर के सम्बन्ध में विचार-स्वातन्त्र्य का प्रतिपादन करने का साहस होता है उनसे जाति-बहिष्कृतों का-सा व्यवहार किया जाता है। इसमें आश्चर्य की बात नहीं कि कभी-कभी समझदार व्यक्ति भी यह समझने लगते हैं कि धार्मिक भय अहंकार और घृणा से मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय है धर्म का ही परित्याग कर देना। वे सोचते हैं कि यदि संसार से सब धर्मों को निर्वासित कर दिया जाए तो वह सही अर्थों में अधिक धार्मिक हो जाएगा।[२]

८ धर्म और राजनीति :

आधुनिक सभ्यता का राजनीतिक पक्ष ग्रीक लोगों के नगर राज्य का ही

१ जान के सिरप ने १९१० में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'आई एम आई द डिसिप्लिन' में कहा है 'गैलिलि के उस शिशु (ईसा) ने हमारे हाथ में एक ज्योति थमा दी थी और संसार में वही एकमात्र ज्योति है। मैं यह कह सकता हूँ क्योंकि मैं सारे संसार में घूमा हूँ और मैंने निकट से दूसरे के अन्य धर्मों को देखा है। वास्तव में ही उनके पास ऐसी कोई ज्योति नहीं है जो उनका पथ आलोकित कर सके।'

२ थियुक्टर्स के एक नाटक में एक नर्स जो बड़ी कट्टर ईसाई है एक नास्तिक बालक को ईसाई बनाने की चेष्टा करती है। वह उससे ईश्वर के प्रेम के बारे में बातें करती है। वह उसे उत्तर देता है 'यह विचित्र बात है कि तुम जैसे ही ईश्वर और प्रेम की बातें करती हो, तुम्हारी आवाज़ कठोर हो जाती है और तुम्हारी आँखें घृणा से भर जाती हैं।'

आखिर स्वतन्त्रता भी तो अपनी कीमत माँगती है।

१ वर्तमान आवश्यकता

यह स्पष्ट है कि वर्तमान अशान्ति का जितना बड़ा कारण धर्म की नैतिक प्रभावहीनता और उत्तम जीवन को समुन्नत करने में उसकी असफलता है, उतना ही बड़ा कारण परम्परागत विश्वासों पर निरन्तर पड़ रहा नये ज्ञान का दबाव भी है। कुछ किशोरे बुद्धिवादी ऐसे भी हैं जो धर्म का उपहास करना फ़ैशन का अंग समझते हैं। उनकी दृष्टि में धर्म की फ़िक्र करना पुराना दकियानूसीपन है और उसकी आलोचना करना आधुनिकता और प्रगतिशीलता है। एक लोक तन्त्रीय देश के पढ़े-लिखे लोग जो अवश्य ही पूर्णतः शिक्षित नहीं हैं जब परम्परा गत नियमबन्ध के औचित्य को समझ नहीं पाते तो उसे ठुकरा देना अपना कर्तव्य मानने लगते हैं। संशयवादिता के लिए कोई बड़ी कीमत नहीं चुकानी पड़ती यह निहायत सस्ती है। आज तो हिम्मत और साहस की जरूरत विश्वास के लिए है। धर्म को अस्वीकार करने वाले इन लोगों के अलावा ऐसे लोगो की भी काफ़ी बड़ी संख्या है जो धार्मिक विश्वास से ऊपर उठ चुके हैं फिर भी उससे नाता तोड़ने मे इसलिए घबराते हैं कि कहीं धर्म का पालन करने वाले उनके शत्रु न हो जाएँ। हमारी चिन्ता का विषय वे लोग हैं जो धर्म पर विश्वास करना चाहते हैं किन्तु कर नहीं पाते। उनकी आत्माएँ अधिक संवेदनशील हो गई हैं इसलिए उनकी कठिनाइयाँ भी अधिक हैं और उनके प्रश्न और सन्देह भी अधिक गहन हैं। उनके सन्देह एक प्रकार से उनकी आन्तरिक आस्था की अभिव्यक्ति हैं और उनके विरोध एक प्रकार की वफ़ादारी। मानवीय आत्मा की गहराइयों में एक ऐसी वस्तु रहती है जिसे हम सत्य की खोज न्याय की माँग और सदा चरण की उत्कण्ठा कह सकते हैं। सत्य और न्याय की खोज का यह प्रयत्न हमारे जीवन का एक अनिवार्य अंग है। हमें यह बताने के लिए कि ज्ञान की साधना हमारा कर्तव्य है और केवल ज्ञान प्राप्ति के क्षेत्र मे ही प्रगति करने की अनुमति है हमे किसी अरस्तू की आवश्यकता नहीं है। मानवीय आत्मा की दासता के बजाय हमारे मन की विक्षुब्धता के कारण उत्पन्न अव्यवस्था कहीं अधिक दर्दनाक है। इतिहास मे यह पहला मौका नहीं है जबकि यह अनुमान किया जा रहा है कि वर्तमान युग अशान्ति का युग है और धर्म तर्क की कसौटी पर टिक नहीं सकता। ऐसा कहा जाता है—हालाँकि मैं उसकी सत्यता की कोई गारंटी नहीं कर सकता—

कि मदन के बगीचे के द्वार से बाहर निकलते हुए आदम और हव्वा ने सबसे पहले ये शब्द कहे थे 'हम संक्रान्ति के काल में से गुजर रहे हैं।' हरेक युग संक्रान्ति का युग है। प्रगति संघर्ष और विभ्रम के बीच से गुजरकर ही होती है। यह वृद्धि होती है मानवीय व्यवहार के स्तर से भी नीचे स्तर पर और उसकी आकांक्षा उदित होती है मानवीय स्तर पर। मनुष्य की भावना उसकी सूझ की दिशा को बदल सकती है। किसी खास विषय के लिए आवश्यक वस्तु या किसी ऐसे उपाय का जो हमें नयी परिस्थिति के साथ अपना समंजन करने में सहायता दे आविष्कार कर सकना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि ठीक समय पर पुरानी वस्तु का ऐसा एकमात्र नया रूप निकाल सकना जो बदली हुई परिस्थितियों में अपनाया जा सके। एक ऐसे समय में जबकि मानव-समाज एक ऐसी स्थिति में से उभरकर उठ रहा है जिसमें कि हमें दूसरे अधिकारी व्यक्तियों को प्रामाणिक मानकर उन्हीं की बातों पर चलना पड़ता है और एक ऐसी स्थिति में प्रवेश कर रहा है जिसमें वह पूर्णतः स्वयं आत्म-निर्णय कर सकता है हमें सृजनात्मक प्रतिभा वाले लोगों की सहायता की आवश्यकता है। आज हमारी भटकती हुई पीढ़ी को अपना मार्ग निर्धारित करने के लिए पैगम्बरों की जरूरत है प्रचारकों की नहीं मौलिक प्रतिभा और चिन्तन वालों की आवश्यकता है विरासत में पायी हुई परम्पराओं की मशीनों की तरह नकल करने वालों की नहीं। पैगम्बर होना वस्तुदृष्टि से युक्त होना है वस्तुस्थिति से सम्पृक्त होना है भविष्य के अनुभव को पहले से जान लेना है। यह वर्तमान को इतनी सूक्ष्मता के साथ देखना है कि उसके द्वारा भविष्य को पहले से ही देखा जा सके।

की हत्या करने के लिए उत्तेजित किया परित्याग कर दें। उनका कहना है कि मनुष्य के भावी धर्म के दो रूप होंगे—एक होगा केवल आदर्श के रूप में कल्पित आदर्श की पूजा और दूसरा होगा केवल वास्तविक और विद्यमान के रूप में वास्तविक सत्ता की पूजा। पहले रूप में पूजा का लक्ष्य अच्छा अवश्य है किन्तु वह विद्यमान नहीं है और दूसरे में पूजा का लक्ष्य विद्यमान अवश्य है परन्तु उसका अच्छा होना जरूरी नहीं है।[1] हमें संसार को उसी रूप में ग्रहण करना चाहिए जिस रूप में वह विद्यमान है और उससे कोई आशा नहीं करनी चाहिए। जो वास्तविक है उसमें विश्वास रखना और उसे सहन करना काल्पनिक में विचरण कर आनन्द लेने के बजाय कहीं अधिक मर्दानगी का काम है।

हम इस बात से इनकार नहीं करते कि सांसारिक सुखों के इस त्याग में जो तुच्छ सान्त्वनाओं का आविष्कार किये बिना सत्ता अवश्यम्भाविता या आकस्मिकता के महान् नियमों के सम्मुख आत्मसमर्पण कर देता है कुछ-न-कुछ महत्ता का तत्त्व अवश्य है। किन्तु एक ऐसे ब्रह्माण्ड के प्रति जो हमारी कोई परवाह और चिन्ता नहीं करता महान् और पवित्र निराशा या उदासीनता की अभिवृत्ति को कायम रखना कठिन है। उदात्त सर्वसुखत्यागवाद से सर्वसुखोपभोगवाद की ओर जाना बहुत आसान है। यदि यह ब्रह्माण्ड एक विशाल यन्त्र है जो मानव जगत् की आशाओं और आकांक्षाओं की परवाह किये बिना चलता रहता है और यदि ब्रह्माण्ड के परिप्रेक्ष्य में देखने से मानव एक आकस्मिक संयोग के सिवाय कुछ नहीं है तो जीवन से प्राप्त होने वाले थोड़े-से दुर्लभ और क्षणिक सुखों से अपने-आपको वंचित रखकर हम मानवीय दुःखों में और वृद्धि क्यों करें? सांसारिक सुखों के त्याग का सिद्धान्त (स्टोइसिज्म) मनुष्य को जिन सुख फलों की आशा प्रदान करता है वे बहुत साधारण हैं और इस सिद्धान्त की शिक्षाओं पर आचरण करना भी आसान नहीं है इसलिए वह बहुत बड़ी संख्या में लोगों को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकता जब कि सुखोपभोगवाद (सिरेनैसिज्म) के जो जीवन के सुख उपभोगों को उचित सिद्ध करता और प्रोत्साहित करता है अनुयायियों की संख्या बहुत बड़ी है। किन्तु स्टोइसिज्म और सिरी-नैसिज्म दोनों ही जीवन में हमारा विश्वास और श्रद्धा खंडित हो जाने पर जीवन से बचने के उपाय-मात्र हैं। जीवन की कम-से-कम एक अच्छी बात जैसा कि सेनेका ने कहा है यह है कि जहाँ इसमें प्रवेश का केवल एक ही मार्ग है वहाँ इसमें

१ [illegible]

निकलने के मार्ग अनेक हैं और मनुष्य उसमें बाहर निकलने के लिए समय और तरीका अपनी इच्छानुसार चुन सकता है। कारामाजोव के शब्दों में ज्योंही हमें यह महसूस हो कि जीवन का नाटक अब किसी काम का नहीं रहा हम अपना 'प्रवेश का टिकट' ईश्वर के हवाले कर वापस जा सकते हैं। जीवन से निकलकर अन्धकार में जाने पर वहाँ हमें किसी निराशा का सामना नहीं करना पड़ेगा। निराशावाद एक आश्चर्यजनक रूप में शक्तिशाली वाद है और उसका अत्यधिक प्रचलन इस बात का द्योतक है कि हम निराशा से पीड़ित हैं। जब डायोजीनिस ने यह अनुभव किया कि मैसिडोनियनों के शासन में ग्रीक लोगों की सब स्वतन्त्रता नष्ट हो गई है तो उसने अपने देशवासियों को चेतावनी दी कि वे सब आकांक्षा और सम्पत्ति सब कुछ त्याग दें क्योंकि तब जीवन की विद्रूपपूर्ण चाल हमें निराश नहीं कर सकती।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि कला और उच्च चिन्तन धर्म का विकल्प हो सकते हैं। स्पेन्सर हमें यह प्रेरणा देता है कि 'इससे पूर्व कि तुम पर मृत्यु का प्रहार हो ऊँचे-ऊँचे विचारों का चिन्तन करो जो हमारे इस अणु जीवन को महान् बनाते हैं। भारत में बुद्ध के जमाने में और यूरोप में पेगनिज्म के दिनों में जबकि पुरानी मान्यताओं और पुराने धार्मिक विश्वासों पर प्रहार हो रहा था लोग दार्शनिक चिन्तन में वह सान्त्वना प्राप्त करते थे जो पुराना परम्परागत धर्म उन्हें नहीं दे सकता था। यदि निःस्वार्थ और निष्काम चिन्तन हम पर यह प्रकट कर दे कि जीवन कितनी कुत्सित और जुगुप्सित वस्तु है तो हम कम-से-कम अपने ध्येय का कुछ स्वप्न तो ले सकते हैं और अपने अन्तर में एक ऐसा मन्दिर बना सकते हैं जहाँ हम उस ध्येय (आदर्श) की पूजा कर सकें। इस प्रकार हम अपनी अपूर्ण आकांक्षाओं की काल्पनिक पूर्ति कर सकते हैं और अपनी कल्पना में वे सफलताएँ प्राप्त कर सकते हैं जिन्हें हम वास्तविक जीवन में प्राप्त नहीं कर सके। कला एक प्रकार का मानसिक आत्म-विलास एक ऐसा मनोविनोद हो जाती है, जो वास्तविकता के अप्रिय और कटु स्वाद से मुक्ति प्रदान करता है। हमारे जमाने के आधुनिक बुद्धिजीवी मध्यवर्ग के लोग एक ऐसे मत के अनुयायी हैं जो उदा

एपिक्टेटस ने अपने शिष्यों से कहा था कि याद रखो बाहर जाने का द्वार तो हमेशा खुला है। जैसे खेल में बच्चे की भांति जब वह खेल से ऊब जाए तो तुम उसका त्याग करने का निश्चय कर सकते हो, और जब तक दुनिया तुम्हारे साथ है, तब तक आने पर भी बोलते रहना और शिकायत करते रहना उचित नहीं है।

२ धर्म के विकल्प

जिन लोगों के मन धार्मिक सन्देहों से आक्रान्त हैं वे वर्तमान अनिश्चय और व्यामोह की स्थिति में से निकलने के लिए अनेक उपाय निकाल रहे हैं। नेताओं से कोई निश्चित दिशा न मिलने के कारण वे बड़े नए और आश्चर्यजनक मतों का अवलम्बन कर रहे हैं। वे थियोसफी, एन्थ्रोपोसफी, क्रिश्चियन साइंस, न्यू थॉट या इसी प्रकार की भावनामय मन की नयी कसरतों में ऐसा विकल्प ढूँढ रहे हैं जो धर्म का स्थान ले सके। किन्तु अधिक विवेकी लोग धर्म के इन भावुकतापूर्ण विकल्पों से सन्तुष्ट नहीं हैं और वे ऐकान्तिक (कट्टरतापूर्ण) अस्वीकृति से लेकर ऐकान्तिक स्वीकृति तक अनेक प्रकार के रचनात्मक सुझाव देते हैं।

१ प्रकृतिवादी नास्तिकवाद

ल्युक्रेशियस के जो यह मानता था कि यह विश्व परमाणुओं से बना है जो अनादि-अनन्त नियम के अनुसार शून्य में विचरण करते रहते हैं और बिलकुल अचेतन और उदासीन हैं आज भी बहुत से अनुयायी हैं। स्थूल भौतिकवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया की बात का खूब अतिरंजित कर कहने का कोई लाभ नहीं है। आज भी भौतिकवाद ही ऐसा विश्वास है जिसकी ओर अधिकतर विचारशील लोग झुकते हैं और जो बहुत से लोग विज्ञान की विजयों से चमत्कृत हो गए हैं वे भी उसका परित्याग नहीं करते।[१] पुराने विचारों के बन्धन से मुक्त बुद्धिजीवियों की दृष्टि में—मैं उन्हें नाक भौं सिकोड़ने वाले कहना पसन्द नहीं करता—ब्रह्माण्ड अचेतन यान्त्रिक ऊर्जा से उत्पन्न हुआ है जिसके प्रति हमारे मन में भक्ति

१ 'धर्म के सम्बन्ध में मेरा अपना विचार वही है जो ल्युक्रेशियस का था। मैं इसे भय से उत्पन्न एक बीमारी समझता हूँ और मानव-जाति के लिए अकथनीय विपत्ति का स्रोत मानता हूँ।' (बर्ट्रेंड रसेल : 'रैशनलिस्ट प्रेस एसोसिएशन्स एनुअल' १९२२)।

२ 'साइंटिफिक ह्यूमेनिज़्म' विषय पर 'डेमोक्रेटिक रिव्यू' जुलाई १९२१ में जूलियन हक्सले का लेख देखिए।

या पूजा का कोई भाव नहीं पैदा हो सकता। मनुष्य तत्वतः प्रकृति का ही एक अंग है यद्यपि उसकी यह विशेषता है कि वह सोचता है किन्तु इससे वह किसी भी तरह अन्य प्राणियों से बेहतर नहीं हो जाता। वह सिर्फ जीवित प्राणियों की एक खास किस्म है और यह पर्याप्त सम्भव है कि प्रकृति उससे भी अधिक आश्चर्य जनक किस्म का प्राणी पैदा कर दे जिसमें उससे भी कहीं अधिक बड़ी शक्तियाँ हों और यह भी सम्भव है कि वह जीवन का दीप ही पूर्णतः बुझा दे। जो कुछ भी हो प्रकृति उससे बहुत अधिक विक्षुब्ध नहीं होगी। मानवीय प्राणी भी आकस्मिक संयोग के परिणाम हैं और वे शीघ्र ही ब्रह्माण्ड के उस विप्लव में जो इस ब्रह्माण्ड को नष्ट करने के लिए अवश्यम्भावी है विलुप्त हो जायेंगे। हमने विश्व की वेदना और दैन्य को अपनी रगों में प्रत्यक्ष अनुभव किया है किन्तु ईश्वर का प्रेम और कृपा केवल हमारे स्वप्न ही हैं। ईसा को गेथ्समन के बगीचे में अपने-आपको दुःख और लज्जा के प्याले के पान से मुक्ति देने के लिए की गई प्रार्थना के उत्तर में जो मौन प्राप्त हुआ था हमसे से ऊँचे-से-ऊँचे आदमी भी विपत्ति के समय अधिक-से-अधिक उसी की आशा कर सकते हैं। हम प्रकृति के पंजों की पकड़ में हैं जिसने हमसे कभी यह नहीं पूछा कि हम पैदा होना चाहते हैं या नहीं। उसने हमें विकारी देह और वेदना से परिपूर्ण हृदय दिये और हमसे यह पूछा भी नहीं कि हम उन्हें लेना चाहते हैं या नहीं उसने हमारे अस्तित्व के लिए स्थान परिवेश और हमारे जीवन की परिस्थितियाँ स्वयं चुनीं और उनको जानने के लिए हमें अपने आप पर छोड़ दिया फिर भी यदि हम अज्ञान के वशीभूत होकर उसके उद्देश्य में बाधा डालने लगें तो वह हमें कुचलने के लिए तैयार हो जाती है। यदि हम धर्म के सत्य की परीक्षा करें तो यह केन्द्री भूत तथ्य हमारे सामने आ जाएगा। उदाहरण के लिए ईसाई धर्म में वर्णित मनुष्य की मुक्ति विशुद्ध कल्पना है। मानव जो अपने निज के अन्वेषण और प्रकृति की व्यवस्था का शिकार है मुक्त नहीं किया जा सकता। मनुष्य क्योंकि इस सत्य का सामना नहीं कर सकता इसलिए वह लापरवाह अव्यवस्था से परे एक दैवीय शक्ति की कल्पना करता है जो दयालु और कृपालु होकर उसे मुक्ति प्रदान करती है। ठीक-ठीक कहा जाए तो हमें मुक्ति नहीं मिल सकती और न हम उसके अधिकारी ही हैं। ल्युक्रेशियस की-सी भावना से बर्ट्रेंड रसेल हमें यह प्रेरणा देता है कि हम धर्म द्वारा दी जाने वाली मनोहारी सान्त्वनाओं आश्वासनों और सदय शक्ति की मधुर कल्पनाओं का जिन्होंने मनुष्यों को अपनी और दूसरों

को दूसरा करने के लिए उत्तेजित किया परित्याग कर दें। उनका कहना है कि मनुष्य के भावी धर्म के दो अंग होंगे—एक होगा केवल आदर्श के रूप में कल्पित आदर्श की पूजा और दूसरा होगा केवल वास्तविक और विद्यमान के रूप में वास्तविक सत्ता की पूजा। पहले अंग में पूजा का लक्ष्य अच्छा अवश्य है, किन्तु वह विद्यमान नहीं है और दूसरे में पूजा का लक्ष्य विद्यमान अवश्य है परन्तु उसका अच्छा होना जरूरी नहीं है।[1] हमें संसार को उसी रूप में ग्रहण करना चाहिए जिस रूप में वह विद्यमान है और उससे कोई आशा नहीं करनी चाहिए। जो वास्तविक है उसमें विश्वास रखना और उसे सहन करना काल्पनिक में विचरण कर आनन्द लेने के बजाय कहीं अधिक मर्दानगी का काम है।

हम इस बात से इनकार नहीं करते कि सांसारिक सुखों के इस त्याग में जो तुच्छ सान्त्वनाओं का आविष्कार किये बिना सत्ता अवश्यम्भाविता या आकस्मिकता के महान् नियमों के सम्मुख आत्मसमर्पण कर देता है कुछ-न-कुछ महत्ता का तत्त्व अवश्य है। किन्तु एक ऐसे ब्रह्माण्ड के प्रति जो हमारी कोई परवाह और चिन्ता नहीं करता महान् और पवित्र निराशा या उदासीनता की अभिवृत्ति को कायम रखना कठिन है। उदात्त सर्वसुखत्यागवाद से सर्वसुखोपभोगवाद की ओर जाना बहुत आसान है। यदि यह ब्रह्माण्ड एक विशाल यन्त्र है जो मानव-जगत् की आशाओं और आकांक्षाओं की परवाह किये बिना चलता रहता है, और यदि ब्रह्माण्ड के परिप्रेक्ष्य में देखने से मानव एक आकस्मिक संयोग के सिवाय कुछ नहीं है तो जीवन से प्राप्त होने वाले थोड़े-से दुर्लभ और क्षणिक सुखों से अपने-आपको वंचित रखकर हम मानवीय दुःखों में और वृद्धि क्यों करें? सांसारिक सुखों के त्याग का सिद्धान्त (स्टोइसिज्म) मनुष्य को जिन शुभ फलों की आशा प्रदान करता है वे बहुत साधारण हैं और इस सिद्धान्त की शिक्षाओं पर आचरण करना भी आसान नहीं है इसलिए वह बहुत बड़ी संख्या में लोगों को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकता जब कि सुखोपभोगवाद (सिरेनैक-सिज्म) के जो जीवन के मुख्य प्रलोभनों को उचित सिद्ध करता और प्रोत्साहित करता है, अनुयायियों की संख्या बहुत बड़ी है। किन्तु स्टोइसिज्म और सिरेनैसिज्म दोनों ही जीवन में हमारा विश्वास और श्रद्धा खंडित हो जाने पर जीवन से बचने के उपाय-मात्र हैं। जीवन की कम-से-कम एक अच्छी बात जैसा कि सेनेका ने कहा है यह है कहाँ इसमें प्रवेश का केवल एक ही मार्ग है वहाँ इससे

१ 'दि रिलेशन ऑफ रिलिजन' इसे बर्नेड मस्तूर, १६११।

निकलने के मार्ग अनेक हैं और मनुष्य उनसे बाहर निकलने के लिए समय और तरीका अपनी इच्छानुसार चुन सकता है।[1] कारामाज़ोव के शब्दों में ज्योंही हमें यह महसूस हो कि जीवन का खेल अब किसी काम का नहीं रहा, हम अपना 'प्रवेश का टिकट' ईश्वर के हवाले कर वापस जा सकते हैं। जीवन से निकलकर अन्धकार में जाने पर वहाँ हमें किसी निराशा का सामना नहीं करना पड़ेगा। निराशावाद एक आश्चर्यजनक रूप में शक्तिशालीवाद है और उसका अत्यधिक प्रचलन इस बात का द्योतक है कि हम निराशा से पीड़ित हैं। जब डायोजीनिस ने यह अनुभव किया कि मैसिडोनियनों के शासन में ग्रीक लोगों की सब स्वतन्त्रता नष्ट हो गई है तो उसने अपने देशवासियों को चेतावनी दी कि वे सब आकांक्षा और सम्पत्ति सब कुछ त्याग दें, क्योंकि तब जीवन की विद्वेषपूर्ण चाल हम निराश नहीं कर सकती।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि कला और उच्च चिन्तन धर्म का विकल्प हो सकते हैं। स्पिनोज़ा हमें यह प्रेरणा देता है कि "इससे पूर्व कि तुम पर मृत्यु का प्रहार हो, ऊँचे ऊँचे विचारों का चिन्तन करो।" वे हमारे इस लघु जीवन को महान् बनाते हैं। भारत में बुद्ध के ज़माने में और यूरोप में पैगनिज़्म के दिनों में जबकि पुरानी मान्यताओं और पुराने धार्मिक विश्वासों पर प्रहार हो रहा था लोग दार्शनिक चिन्तन में वह सान्त्वना प्राप्त करते थे जो पुराना परम्परागत धर्म उन्हें नहीं दे सकता था। यदि निःस्वार्थ और निष्काम चिन्तन हम पर यह प्रकट कर दे कि जीवन कितनी कुत्सित और जुगुप्सित वस्तु है तो हम कम-से-कम अपने ध्येय का कुछ स्वप्न तो ले सकते हैं और अपने अन्तर में एक ऐसा मन्दिर बना सकते हैं जहाँ हम उस ध्येय (आदर्श) की पूजा कर सकें। इस प्रकार हम अपनी अपूर्ण आकांक्षाओं की काल्पनिक पूर्ति कर सकते हैं और अपनी कल्पना में वे भूमिकाएँ अदा कर सकते हैं जिन्हें हम वास्तविक जीवन में अदा नहीं कर सके। कला एक प्रकार का मानसिक आत्म-विलास, एक ऐसा मनोविनोद हो जाती है जो वास्तविकता के अप्रिय और कटु स्वाद से मुक्ति प्रदान करता है। हमारे ज़माने के आधुनिक बुद्धिजीवी मध्यवर्ग के लोग एक ऐसे मत के अनुयायी हैं जो उस

1. एपिक्टेटस ने अपने शिष्यों से कहा था कि याद रखो, बाहर जाने का द्वार सदा खुला है। खेल में हम बच्चों की भाँति जब हम खेल से ऊब उठें तो हम खेलना बन्द करने का निश्चय कर सकते हैं और जब घर में धुआँ हमारे पास है तब उस घर में भी बैठे रहना और शिकायत करते रहना उचित नहीं है।

हीनतावाद (न्यूटलिज्म) सुखत्यागवाद (स्टोइसिज्म) सुखोपभोगवाद (पैगनिज्म) और निराशावाद (पैसिमिज्म) के विभिन्न विचारों का सम्मिश्रण है।

किन्तु यह मिश्रित सर्वसुखत्याग—सुखोपभोगवाद बहुत कमजोर विकल्प है। यदि हम जीवन और ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में अपने पुराने विश्वास को फिर से प्राप्त नहीं कर सके तो हम जीवित नहीं रह सकेंगे। यह सत्य है कि हमें उन असत्यों के जो हमारे मन को अपंग कर देते हैं प्रमाणहीन भ्रम-निवारण का विरोध करना चाहिए। तर्क और बुद्धि-संगतता आवश्यक है किन्तु यदि विघटन को रोकना है तो धर्म की भी आवश्यकता है। यह हो सकता है कि धर्म विशुद्ध काल्पनिक आधारों पर स्थित न हो किन्तु धर्म के सम्बन्ध में केवल तर्क का आश्रय लेना भी पर्याप्त नहीं है। हमें इन दोनों के बीच में सन्तुलन और विवेक भी कायम करना है। जीवन के प्रति निष्ठा और वफादारी का तकाजा है कि हम सृजनकारी रहस्यमय शक्ति को जानें और अपनी शक्ति के अनुसार उसकी सेवा करें। यदि हम यह अनुभव करते हैं कि इस ब्रह्माण्ड में हमारी कोई आवश्यकता नहीं है तो हम अपने इस आन्तरिक द्वन्द्व को अपने परिवार के प्रति आसक्ति या नागरिक कर्त्तव्यों से ढकने का प्रयत्न कर सकते हैं किन्तु आत्मा का एकान्त एकाकीपन कारागार की निपट तनहाई से भी खराब चीज है। मानवीय आत्मा के अकेलेपन की अनुभूति विराट ब्रह्म या जगत् में उसका विचित्र एकाकीपन सब प्राण सब को कम्पित कर देता है जो विश्व को थामे हुए हैं। जो लोग पुराने भ्रमों और मोह को तोड़ने की बात करते हैं वे हमें सत्य के सम्मान सौन्दर्य के सृजन और शिव की प्राप्ति के उपदेश देते हैं। किन्तु यदि हमें यह विश्वास हो जाए कि हम एक ऐसे विश्व में जो हमारे प्रति अनुदारपूर्ण नहीं तो कम-से-कम उदासीन अवश्य है मात्र एक आकस्मिक संयोग हैं तो हम उन आदर्शों के लिए कभी प्रयत्न नहीं करेंगे। यदि विश्व विद्वेषपूर्ण है तो हमें उसका प्रतिरोध करना चाहिए।

यह प्रश्न करना अवश्य ही उचित है कि हम अच्छे कामों को करने के लिए प्रेरणा कहां से मिलती है। यदि सत्य शिव और सुन्दर की साधना एक ब्रह्माण्ड-व्यापी योजना का अंग है तो निश्चय ही वह हमारे प्रति अमैत्रीपूर्ण नहीं है। रसेल ने यह स्वीकार किया है "यह एक विचित्र रहस्य है कि सर्वशक्ति सम्पन्न किन्तु अन्धी प्रकृति ने देश के विराट् शून्य अन्धकूप में तीव्र गति से चक्कर लगाते हुए अन्ततः एक ऐसे शिशु को जन्म दिया है जिसे उसकी शक्ति से ही शक्ति प्राप्त होती है फिर भी जिसे अच्छे और बुरे की पहचान और ज्ञान की देन

एक अपनी अविवेकी माता (प्रकृति) के सब कार्यों को परखने की क्षमता उपलब्ध है। हम इस विराट् तथ्य को एक 'विचित्र रहस्य' कहकर उपेक्षित नहीं कर सकते। पहले हम प्रकृति को उत्तरदायित्वहीन ऊर्जा की एक वैशिष्ट्यहीन और निर्जीव पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत कर देते हैं और कहते हैं कि इस पृष्ठभूमि पर मानवीय जीवन का नाटक खेला जाता है और तब दोनों के इस वैगुण्य पर जोर देते हैं। पर वस्तुतः यदि विज्ञान हमें कोई शिक्षा देता है तो वह है ब्रह्माण्ड के अंगी या संगठित स्वरूप की शिक्षा। हमारा उस विश्व के साथ जिसकी हम कृति हैं तादात्म्य है; हमारी आँखों के सामने फैले प्रत्येक दृश्य के साथ हमारा एकत्व है। उपनिषदों और प्लेटो दोनों की एक सामान्य प्रतीकात्मक उक्ति के अनुसार, प्रकृति का हरेक चिह्न समस्त ब्रह्माण्ड का प्रतिबिम्ब उसका छोटा रूप है। यदि ब्रह्माण्ड में नियम और व्यवस्था है तो हमारा जीवन और चेतना आकस्मिक संयोग नहीं है। हम विश्व के साथ ठोस रूप में एकाकार हैं और हमारी जड़ गहराई तक उसके भीतर गई हुई हैं। हम ब्रह्माण्ड के निरे साक्षी चेता नहीं हैं बल्कि उसके अभिन्न अंग या अवयव हैं।

इसके अलावा वास्तविक सत्ता वैसी असन्तोषजनक नहीं है जितनी कि हमें बताई जाती है। यह उचित नहीं है कि प्रकाश को कम किया जाए और छायाओं को गहरा कर दिया जाए। विश्व में मानव की विस्मयकारी उपलब्धियाँ हैं, उसकी वीरता की घटनाएँ हैं, उसकी सौन्दर्य रचनाएँ हैं, उसकी कल्पनाएँ हैं और आविष्कार हैं। यदि यह मान लिया जाए कि विश्व की नियम-व्यवस्था हमारे मन की कृति है तो हमारे मन भी तो ब्रह्माण्ड के अंग हैं। सम्भव है कि हम जिन आदर्शों का स्वप्न देखते हैं वे अभी सुदूर और अपूर्ण हों किन्तु तथ्य यह है कि वे आदर्श हमारे भीतर हैं, हम उनसे इतना प्रेम करते हैं कि उनके अनुकूल न होने पर विश्व की निन्दा भी करते हैं। हमारे मूल्य-सम्बन्धी विवेक हमारी

१ मिस्टिसिज्म एण्ड लॉजिक (११) पृष्ठ ४८।

२ एमर्सन ने लिखा था : 'हम यह स्वीकार करते हैं कि मानवीय जीवन तुच्छ है, किन्तु हमने यह कैसे जाना कि यह तुच्छ है? इस अशान्ति का, इस पुराने असन्तोष का कारण क्या है? अभाव और अज्ञान की विश्वव्यापी भावना एक सूक्ष्म संकेत के सिवाय और क्या है, जिसके द्वारा आत्मा अपना असाधारण दावा पेश करती है?' एमर्सन का यह कथन संदर्भों के इस पक्ष की व्याख्या है कि यदि हमारे अन्दर में अविचल सत्तत्त्व की प्रतीति न हो तो हममें खालीपन की चेतना भी कभी न हो। आध्यात्मिक जगत की अनुभूति आत्मा के साथ हमारे सम्पर्क की द्योतक है। टाल्सटॉय ने अपनी पुस्तक 'दि ग्रेट

सत्य-सम्बन्धी धारणाएँ, हमारे सौन्दर्य-सम्बन्धी बोध और हमारे प्रेम के अनुभव इस बात के प्रमाण हैं कि हम मात्र भौतिक शक्तियों की उपज नहीं हैं। जो लोग मूल्यों की रक्षा का प्रबल प्रतिपादन करते हैं उनके हृदय में यह क्षीण-सी आशा रहती है कि शायद अन्ततः मनुष्य नितान्त भौतिक और प्राणिक आवश्यकताओं का शिकार नहीं है उसके दैनिक व्यवहार से ऐसा और उसके सपनों में ऐसा हुआ नहीं है। वह एक नाटक में अभिनेता है जो नियति की विवशता और घटनाओं की अनिवार्यता को नियन्त्रित कर सकता है। वह मानव जो विश्व के मनमाने पन से पराजित होकर भी अप्रभावित रहता है अपनी नैसर्गिक प्रतिष्ठा और प्रकृति से श्रेष्ठता का उद्घोष करता है।

विश्व के सम्बन्ध में निर्णय सुनाने में यह मानकर दिया जाता है कि मानव का आनन्द ही जीवन का लक्ष्य है। अहंकार जब तक एक सीमा में रहता है तब तक तो वह युक्तियुक्त है किन्तु जब वह मनुष्य में अपने-आपको बहुत बड़ा समझने ब्रह्माण्ड का एक स्वयम्भू निर्णायक मानने की आदत पैदा कर देता है तब वह अत्यन्त भ्रामक हो जाता है। विश्व के विरुद्ध जब हम शिकायत और असन्तोष प्रकट करते हैं तब हम सत्य का अनुसन्धान नहीं करते और साथ ही हममें विश्व की व्यापक उदारता भी नहीं होती। यदि हम जीवन को उसकी किसी भी प्रवृत्ति की उपेक्षा या अतिरंजना किये बिना यथार्थ रूप में देखें तो हम यह देखेंगे कि यह विराट गति हमारे किसी निजी लाभ के लिए कार्यरत नहीं है। इसका अपना एक विशाल लक्ष्य है जिसकी पूर्ति के लिए यह प्रयत्नशील है और जिसकी तुलना में हमारे उच्चतम उद्देश्य भी अत्यन्त तुच्छ हैं।

संसार कोई मनोरंजन का उद्यान नहीं है, बल्कि वेदना और कष्टों से भरा हुआ है, यह विचार कोई नयी खोज नहीं है। धर्म के पैगम्बर इस सत्य को स्वीकार करते हैं और संसार में व्याप्त दुःखों का कारण अविद्या, अज्ञान या पाप और इच्छा का प्रारम्भिक पाप (ओरिजिनल सिन) बताते हैं और कहते हैं कि सारी मानव जाति उससे किसी-न-किसी रूप में लिप्त है। उनके कहने का आशय यह भी होता है कि मानवीय व्यक्तित्व का ठीक उपयोग करके सुख प्राप्त किया जा सकता है।

बारामोगीना में लिखा है, 'आत्मसंयम और विनयकारी भाव का अर्थ है कि ईश्वर का अस्तित्व है, यदि आत्मसंयम भाव का है कि इस प्रकार का विचार, ईश्वर की आवश्यकता का विचार, मानव से बर्बर और दुष्ट-प्रकृति प्राणी के मस्तिष्क में पैदा हुआ। यह विचार कितना पवित्र है, कितना प्रभावोत्पादक है, कितना बुद्धिमत्तापूर्ण है और मनुष्य के लिए कितने गौरव का कारण है।'

किन्तु सुख का अर्थ शारीरिक सुख नहीं है। उसका अर्थ है अपनी आत्मा के साथ एकत्व और तल्लीनता स्थापित करना, जीवन के प्रति एक भावात्मक अभिवृत्ति की चेतना और आत्मा में वास करने वाली शान्ति प्राप्त करना। प्रकृति हर वस्तु और हर प्राणी-जाति (स्पीशी) को अपने ही ढंग पर पूर्णता प्रदान करने का प्रयत्न करती है। इस प्रक्रिया में पीड़ा और दुःख हो सकता है किन्तु यदि हम समझदार हैं तो हम सब उसे प्रसन्नता के साथ स्वीकार करेंगे और अपनी-अपनी वास्तविक प्रकृति के पूर्ण विकास के लिए उद्योग करेंगे। जब कोई मनुष्य सुख तो चाहता है किन्तु दुःख से बचता है तब वह नीचे स्तर पर उतर आता है। सत्य के अनुसन्धान और शिव के लिए प्रयत्न में कष्ट और दुःख तो अनिवार्य हैं, यहाँ तक कि शरीर का अन्त भी हो सकता है, फिर भी वे आत्मा की महत्ता में वास्तविक आनन्द और सुख हैं भाग ले सकते हैं।

मानिवकार यह ब्रह्माण्ड एकाकी और प्रेम का भूखा प्रतीत नहीं होता। जो लोग जीवन के कठोर संघर्ष में लगे हैं वे भी एक-दूसरे के दुःख और कष्ट के आदर के आधार पर एक साथीपन की भावना विकसित कर सकते हैं। दुःखों के भाग में साथीपन दुःखों के भार को भी हलका करता है।

रसल ने कहा है कि भय सभी धर्मों का उद्गम-स्रोत है। इसका अर्थ इतना ही है कि मनुष्य और उसके इर्द-गिर्द का संसार एक-दूसरे को समझते नहीं हैं। जीवन को समझने का अर्थ है विचारों की एकता में उसे समग्र रूप में ग्रहण करना। आदिम युग का मानव प्रकृति के साथ सप्राण आत्म-चेतनाहीन एकत्व स्थापित करके रहता था। जब उसकी आलोचनात्मक प्रतिभा का विकास होता है तो मानव और शेष सत्ता में एक प्रकार का द्वैत पैदा हो जाता है। यह द्वैत ही भय का कारण है। धर्म इस भय का निवारण करने और मनुष्य एवं प्रकृति के बीच की विलुप्त एकता को समस्त विश्व के साथ ऐक्य की भावना को पुनः उद्बुद्ध कर हमें अभय प्रदान करता है। प्राकृतिकवाद हम सत्य को स्वीकार करने और वास्तविकता का आदर करने की प्रेरणा देता है किन्तु यदि मनुष्य और प्रकृति के बीच में खाई रहे तो हम वैसा नहीं कर सकते। धर्म प्रकृति की दुनिया और मूल्यों की दुनिया के बीच अभिन्न आत्मिक सम्बन्ध पर बल देकर हमें अपने पार्थक्य और अनित्यता से मुक्त करता है। इसलिए वह हम बुद्धि से भी अधिक गहराई तक ले जाता है और मानव और प्रकृति में पहले से विद्यमान सप्राण सम्बन्ध को पुनः प्रतिष्ठित करता है।

नास्तिकवाद का सम्बन्ध बुद्धि से है। जब हम अपने जीवन की अन्दर तम गुहा में प्रवेश करते हैं तो हम चाहे-अनचाहे ब्रह्माण्ड को स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। नास्तिकवाद जीवन की प्रमुख नैसर्गिक वृत्ति के विपरीत है। जीवन एक अच्छी चीज है और हम उसका अच्छे-से-अच्छा उपयोग करना है यह एक विश्वास की वस्तु है एक ऐसी चरम अनुभूति है जिसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता और न ही उसके लिए कोई कारण दिया जा सकता है। नास्तिकवाद चाहे वह किसी भी प्रकार का हो मन की ऊपरी सतह पर रहता है। जीवन उससे अधिक आश्चर्यमय और रहस्यपूर्ण है जितनी कि हमारी बुद्धियाँ कल्पना कर सकती हैं। रसेल का दर्शन मनुष्य की असफलता सिद्ध नहीं करता बल्कि सिर्फ यह सिद्ध करता है कि जिस सत्य का स्पन्दन हम अपनी स्नायुओं म अनुभव करते हैं बुद्धि उसको समझने के लिए असमर्थ और अपर्याप्त है। जो नैसर्गिक प्राणि-वृत्ति मनुष्य को जीने और विश्व को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करती है वह उसमें इस तर्कमय और विवेकपूर्ण विश्वास का रूप धारण कर लेती है कि हमारे चारों ओर की प्रकृति विश्वसनीय है और वह हमारे प्रयत्नों के अनुसार कार्य करेगी।

रसेल और उसके अनुयायी एक अतिप्राकृत संसार की कल्पना के विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि यदि वह वास्तविक है केवल काल्पनिक नहीं है तो उसका उस संसार के साथ जिसमें हम रहते हैं सक्रिय सम्बन्ध होना चाहिए। प्राकृतिक और अतिप्राकृत संसार मे निकट सम्बन्ध स्थापित करने के लिए चमत्कारों अव तारो और स्वर्गारोहण आदि की कल्पना करनी पड़ती है। यदि दोनों संसार निश्चित नियमों के अनुसार एक-दूसरे से बँधे हैं तो हमें वास्तविक सत्ता को दो परस्पर विपरीत शिविरों प्राकृतिक और अतिप्राकृत में बाँटने की क्या आवश्यकता है। तब यह सारी प्रकृति ही है इसे प्रकृति शब्द का व्यवहार केवल उन स्पष्ट तथ्यों और शक्तियों के लिए ही नहीं करना चाहिए जिन्हें हमारा अपूर्ण विज्ञान जान सकता है। प्राकृतिक और अतिप्राकृत ये दोनों वास्तविक यथार्थ के ही दो भेद हैं, ये ऐसे दो पृथक-पृथक संसारों के नाम नहीं हैं जिनमें से एक को हम जानते हैं और दूसरे को नहीं जानते। यदि अतिप्राकृत प्राकृतिक का विरोधी है तो कभी कभी हम भूल से अव्यवस्थित और अनियमबद्ध को अतिप्राकृत और व्यवस्थित और नियमबद्ध को प्रकृत नाम दे देते हैं। अतिप्राकृत संसार उस अर्थ में आकस्मिक नवीनताओं और पहले से अज्ञय संयोगों से भरा हुआ है। विज्ञान इस प्रकार के

१ सन्देहवाद

विभिन्न प्रकार के दार्शनिक विचारों के प्रभाव से कुछ लोग कभी-कभी सन्देहवादी हो जाते हैं। उन्हें सभी दार्शनिक विचार दिलचस्प प्रतीत होते हैं और वे इतने गुत्थमगुत्था होते हैं कि उनके अपने कोई विचार नहीं होते। उनके लिए कोई भी चीज गम्भीर नहीं होती—न कला, न दर्शन, न राजनीति, न धर्म। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि इस विश्व का कोई उद्देश्य या प्रयोजन नहीं है, क्योंकि जो बहुत से छोटे-छोटे उद्देश्य हम लोग निकालते हैं, वे परस्पर इतने विरोधी होते हैं कि हम संसार को समग्र रूप में उद्देश्यहीन मान सकते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में समझदारी यही है कि निश्चिन्त होकर भी इस सामान्य आशा में भाग चलता जाए कि अन्त अच्छा ही होगा, किन्तु किसी भाव वस्तु में न तो कोई उम्मीद करें और न उसमें बहुत विश्वास ही रखें।

सन्देहवाद संक्रान्तिकाल में सबसे अधिक पनपता है। जब ग्रीक मतपुष्टि और नैतिकता का एक व्यापकतर सभ्यता के संस्पर्श से विघटन हो रहा था, तभी कुतार्किक (सोफिस्ट) लोग उभर आए। भारत में बुद्ध और शंकर के जमानों में सन्देहवाद के लिए सबसे अनुकूल अवसर था।

सन्देहवाद मनुष्य के मन में ऐसी भावना पैदा करता है कि वह संसार में बिलकुल एकाकी है और संसार उसके लिए बिलकुल निरर्थक है। किन्तु निरन्तर सन्देहवादी रहना एक असम्भव मनोवृत्ति है। ह्यूम हमें बताता है कि किस प्रकार उसने जीवन को कुछ दूरी से अध्ययन करके सन्देहवादिता से मुक्ति पा ली। यद्यपि यह आशा की जाती है कि सन्देहवादी ज्ञान की सम्भावना पर भी सन्देह करेगा, किन्तु वास्तव में वह अपने निज के विचारों की सत्यता पर विश्वास करता है। एक ऐसी सन्देहवादिता जो अपने प्रति पूर्णतः गम्भीर है, केवल सन्देहवादी नहीं रह सकती। वह कम-से-कम सन्देही और सन्देह दोनों के अस्तित्व को तो स्वीकार करती है। वह सन्देह करती है, क्योंकि उसमें एक निश्चितता का आदर्श है। एक प्रणाली (विधि) के रूप में सन्देहवाद एक चीज है और एक दार्शनिक विचारधारा के रूप में दूसरी। संसार के प्रख्यात सन्देहवादियों ने उसे एक प्रणाली के रूप में अपनाया था। देकार्त सन्देहवाद के द्वारा ही कट्टर सिद्धान्तों पर पहुँचा। सन्देहवादी ह्यूम ने भी ज्ञान पर आपत्ति नहीं की। बालफोर ने 'दार्शनिक सन्देह' का यह कहकर समर्थन किया कि यह 'विश्वास की नींव' है। रसेल को भी विज्ञान

उचित कार्य करने के लिए उद्यत है तो इससे कुछ आता जाता नहीं कि वास्तविक सत्ता व अन्तिम स्वरूप के बारे में हमारे क्या विचार हैं। धार्मिक सिद्धान्त महज अटकलबाजी या सनक हैं। हम निश्चित रूप से नहीं जान सकते कि सत्य क्या है या कोई भी वस्तु सत्य हो भी सकती है या नहीं। किन्तु जीवन तो कम-से-कम एक निश्चित वस्तु है ही इसलिए हमें जीवन को सुधारने में ही अपने-आपको लगा देना चाहिए। मानवीयवाद एक ओर प्रकृतिवाद के विरुद्ध है और दूसरी ओर धर्म के। उसकी दृष्टि में मनुष्य की आत्मा प्रकृति की चीज नहीं है और न ही वह ईश्वर की कृति है। यदि मनुष्य पूर्णतः प्रकृति की ही उपज हो तो मूल्यों और आदर्शों के प्रति उसकी आस्था की किसी भी तरह व्याख्या नहीं की जा सकती। मानवीयवाद की मान्यता है कि यह संसार ही हमारी मुख्य दिलचस्पी का विषय है और मानवीयता की पूर्णता हमारा एक आदर्श है जबकि धर्म की ये मान्यताएँ नहीं हैं। मानवीयवाद का ध्येय है सभी व्यक्तियों में एक-दूसरे के साथ मन्त्री मधुर और सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना। जैसा कि रायस ने कहा है विशाल समाज के प्रति वफ़ादारी हमारा सबसे बड़ा कर्तव्य है। मानवीयवादी की उन सब धार्मिक निषेधों के साथ कोई सहानुभूति नहीं है जो हमारी रगों का खून सुखा देते हैं। नैतिकता निरर्थक आत्मविनाश नहीं है। धर्म अत्यधिक तपस्या और *कृच्छ साधना को प्रोत्साहित करता है किन्तु मानवीयवाद सन्तुलन और विवेक में* विश्वास रखता है। यह ग्रीक लोगों की समस्वरता और रोमनों की शिष्टता की भावना पर आधृत है।

मानवीयवाद को यथेच्छाचार समझना भूल होगा। वह यह स्वीकार नहीं करता कि सभी प्रकार के विचार सिर्फ इसलिए समान रूप से वैध या उचित नहीं हैं क्योंकि उनका अस्तित्व है। हमारी सामासिक आत्मा (कम्पोजिट सेल्फ) को जो विभिन्न तत्त्वों का एक अस्थिर समूह है एक पूर्ण एवं सन्तुलित समग्र इकाई के रूप में विकसित करने की आवश्यकता है। किन्तु स्थिति यह है कि कुछ *प्रवृत्तियों को पूर्णतः खुलकर खेलने का अवसर नहीं दिया जा सकता क्योंकि जब* उन्हें खुली छूट दे दी जाती है तो आत्माभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाना आवश्यक हो जाता है। इसके अलावा मनुष्य एक ऐसे सामाजिक परिवेश में अवस्थित है जो उसके [illegible] अनेक सीमाएँ लगाता है। किन्तु ये सीमाएँ प्रतिबन्ध के रूप में [illegible] क्योंकि इन्हें [illegible] मनुष्य बदले में शान्ति और सन्तोष प्राप्त [illegible] हार्वर्ड विश्वविद्यालय [illegible] प्रोफेसर इरविंग

उचित कार्य करने के लिए उद्यत हैं तो इससे कुछ आता जाता नहीं कि वास्तविक सत्ता के अन्तिम स्वरूप के बारे में हमारे क्या विचार हैं। धार्मिक सिद्धान्त महज अटकलबाजी हो सकते हैं। हम निश्चित रूप से नहीं जान सकते कि सत्य क्या है या कोई भी वस्तु सत्य हो भी सकती है या नहीं। किन्तु जीवन तो कम-से-कम एक निश्चित वस्तु है ही। इसलिए हम जीवन को सुधारने में ही अपने-आपको लगा देना चाहिए। मानवीयवाद एक ओर प्रकृतिवाद के विरुद्ध है और दूसरी ओर धर्म के। उसकी दृष्टि में मनुष्य की आत्मा प्रकृति की चीज नहीं है और न ही वह ईश्वर की कृति है। यदि मनुष्य पूर्णतः प्रकृति की ही उपज हो तो मूल्यों और आदर्शों के प्रति उसकी आस्था की किसी भी तरह व्याख्या नहीं की जा सकती। मानवीयवाद की मान्यता है कि यह संसार ही हमारी मुख्य दिलचस्पी का विषय है और मानवीयता की पूर्णता हमारा एक आदर्श है जबकि धर्म की ये मान्यताएँ नहीं हैं। मानवीयवाद का ध्येय है सभी व्यक्तियों में एक-दूसरे के साथ अत्यन्त मधुर और सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना। जैसा कि रायस ने कहा है विशाल समाज के प्रति वफादारी हमारा सबसे बड़ा कर्तव्य है। मानवीयवादी की उन सब धार्मिक विपदाओं के साथ कोई सहानुभूति नहीं है जो हमारी रगों का खून सुखा देते हैं। नैतिकता निरर्थक आत्मविनाश नहीं है। धर्म अत्यधिक तपस्या और कृच्छ्र साधना को प्रोत्साहित करता है किन्तु मानवीयवाद सन्तुलन और विवेक में विश्वास रखता है। यह ग्रीक लोगों की समस्वरता और रोमनों की शिष्टता की भावना पर आधृत है।

मानवीयवाद का पक्षपात समझना भूल होगा। वह यह स्वीकार नहीं करता कि सभी प्रकार के विचार सिर्फ इसलिए समान रूप से ठीक या उचित नहीं हैं क्योंकि उनका अस्तित्व है। हमारी सामाजिक आत्मा (कम्पोजिट सेल्फ) को या विभिन्न तत्त्वों का एक अस्थिर संघट है एक पूर्ण एवं सन्तुलित समग्र अवयवी के रूप में विकसित करने की आवश्यकता है। किन्तु स्थिति यह है कि कुछ प्रवृत्तियों को पृथक् फूलकर फलने का अवसर नहीं दिया जा सकता क्योंकि जब उन्हें सभी छूट दे दी जाती है तो आत्माभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाना आवश्यक हो जाता है। इसके अलावा मनुष्य एक ऐसे सामाजिक परिवेश में अवस्थित है जो उसके जीवन पर अनेक सीमाएँ लगाता है। किन्तु ये सीमाएँ प्रतिबन्ध के रूप में खलती नहीं हैं क्योंकि इन्हें स्वीकार कर मनुष्य बदले में शान्ति और सम्मान प्राप्त करता है। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर इर्विंग

किसी भी अन्य अनुभव से सर्वथा भिन्न चरम और स्वतः स्पष्ट अनुभव है। कर्तव्य की भावना सभी बुद्धियुक्त प्राणियों के लिए एक ही जैसी है। नैतिक नियम के इस तकाजे का कि हम उसका पूर्णतः पालन करें परिणाम यह होता है कि हम उन सब लोगों को जो इस तकाजे को अनुभव करते हैं समान स्वीकार करते हैं और उन सब लोगों का नैतिक उद्देश्यों का एक राज्य एवं आध्यात्मिक सहकारी शासन बन जाता है जिसमें नैतिक नियम ही सर्वोच्च और सर्वोपरि होता है। नैतिक नियम के सम्बन्ध में काण्ट का रुख अत्यन्त धार्मिक किस्म का है उसमें उसके प्रति एक सम्भ्रम का और अपने-आपको उसके सम्मुख तुच्छ समझने का भाव है किन्तु यह भाव धार्मिक नहीं है। कुछ तथ्यवादी (पोजिटि-विस्ट) धर्म को मानवता की सेवा मानते हैं। नैतिकवादी आन्दोलन में ईश्वर और नैतिक आदर्श को समान मानने की प्रवृत्ति रहती है। एमिल दुर्खाइम का फ्रांसीसी सम्प्रदाय और उसके अनुयायी धर्म को एक सामाजिक प्रपंच मानते हैं। आज हमारे अनेक सन्देहवादी विचारक मानववाद को सामान्य बुद्धि के एक विश्वास के रूप में स्वीकार करते हैं। जब मानव का मन जीवन के मूल स्रोत और उसके स्वरूप के बारे में निश्चय नहीं कर पाता तो मानववाद उसे स्वभावतः आकृष्ट करता है। इसके सबसे प्रबल समर्थक अमेरिका में हैं जहाँ वैज्ञानिक विचारों के अत्याचार से शासित और आत्मा के यान्त्रिकीकरण से संकटग्रस्त विश्व की मुक्ति के लिए उसे एकमात्र आशा माना जाता है। अमरीकी मानववाद ग्रीक बौद्ध और कन्फ्यूशियस की परम्पराओं से अर्थ ग्रहण करता है।[२]

१ 'जनजाति का देवता जिसका चिह्न धार्मिक चिह्न माना जाता है वास्तव में जनजाति से भिन्न नहीं है। जनजाति का ही वह देवता के रूप में एक व्यक्ति का रूप दिया जाता है और एक पशु या वनस्पति के दृश्य आकार के रूप में उसे जनजाति के सदस्यों की कल्पना के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है जो उसके धार्मिक चिह्न का काम देता है।' (दुर्खाइम : एलिमेण्टरी फार्म्स आफ रिलिजस लाइफ, अंग्रेजी अनुवाद, पृ० २०६)। इसके अनुसार धर्म 'उच्चतम नैतिक मूल्यों की चेतना' से अधिक कुछ नहीं है। ([illegible] [illegible] 'रिलिजन [illegible]' [illegible])।

२ 'यह संभव ही है कि मैं इस महान् किन्तु रहस्य तथ्यवादी का दावा स्वीकार करूँ। [illegible] [illegible] एक [illegible] अनेक की समस्या की मेरी व्याख्या [illegible] की अपेक्षा बुद्ध के अधिक निकट है।' ([illegible] [illegible] [illegible] (१९२४), पृ० ६)। मोरेस्मर पी० ई० मोर ने प्लेटो और उपनिषदों का अध्ययन किया है। उनकी 'शैलबर्न एसेज' (१९०४-१९२१) और 'दि ग्रीक ट्रेडिशन' (१९२१-२७) देखिये। अमेरिका बुद्धिजीवियों ([illegible] ईसाई

अपने व्यक्तिगत रहस्यमय अध्यात्म को सामाजिक सक्रियता के आगे बलिदान न कर दें। जो लोग सच्चे अर्थों में धार्मिक हैं वे आत्मा की वास्तविक गहराई के भीतर से पोषण ग्रहण कर जीवित रहते हैं उनकी निष्पक्ष उपलब्धियों का सत्य केवल इस संसार को नये साँचे में ढालना ही नहीं होता। उनका विश्वास नश्वर जीवन से भी ऊपर प्रतिष्ठित होता है और इसीलिए वह जीवन का सामना कर लेता है।

जब तक संसार उसी स्थिति में है जिसमें कि हम आज उसे पा रहे हैं तब तक चाहे हम अपने समाज का आयोजन और संगठन कितनी भी दक्षता और निपुणता से करें और चाहे हम मानवीय सम्बन्धों का समंजन कितने ही अच्छे ढंग से क्यों न करें हममें से कोई भी व्यक्ति भले ही वह कितना भी अच्छा हो ताप और कष्ट से बच नहीं सकता। यदि हम किसी तरह अपने भाग्य के बल पर जीवन के सामान्य प्रकोपों से बच भी जाएँ तो भी हम मृत्यु से अपने आपको नहीं बचा सकते। हमारी देह की रचना में ही उसके विनाश और विघटन का बीज विद्यमान है। मृत्यु हमारे इस संसार से नैसर्गिक रूप से जुड़ी हुई है। क्या मानवतावाद मृत्यु को तुच्छ एवं नगण्य और सत्ता को ही महत्त्वपूर्ण बना सकता है? इसमें यह कहना आसान है कि सहिष्णु बनो और बनो और शक्तिशाली पुरुष की भाँति पताकी सी विजय-वैजयन्ती फहराते हुए छाती में उभार आओ किन्तु जब हम विश्व के अर्थ के सम्बन्ध में ही पूरी तरह निश्चिन्त और आश्वस्त नहीं हैं तब हमें इस तरह की सलाह देना निरा पागलपन है। प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' के दूसरे खण्ड में एक ऐसे मानव का उदाहरण दिया है जो सर्वथा न्याय पथ पर चल रहा है किन्तु लोग उसे पतित समझते हैं इसलिए उसे सब कष्ट और कठोर दण्ड सहन करने पड़ते हैं और न उसे इस जीवन में चैन ही आया है और न अगले जीवन में किसी पुरस्कार की। जब सुकरात से पूछा गया कि क्या ऐसा व्यक्ति जिसे तख्ता पर खींचकर और सूली पर लटकाकर उत्पीड़ित किया गया है इन यातनाओं के बाद भी सुखी हो सकता है तो उसने उसका उत्तर स्वीकारात्मक दिया सिर्फ इसलिए कि वह केवल मानवतावादी नहीं था बल्कि मनुष्य के अन्तर में वास करने वाले परमात्मा और विश्व की सार्थकता में विश्वास करता था। मानवतावाद उन लोगों के लिए सान्त्वना का काम नहीं कर सकता जो निष्फल आशाओं के बोझ को वेदना के साथ सहन करते हैं और जिनके मन दुःख और व्यथा से भरे रहते हैं। कान्ट का ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में सबसे बड़ा

और अव्यावहारिक है जितनी की अन्धाधुन्ध और अविचारपूर्ण हिंसा। उस दशा में मध्य मार्ग का सम्भवतः यह नियम होगा कि हिंसा केवल दूसरे की हिंसा के बदले में की जाए। नैतिक वीरता एक ईर्ष्यालु देवता है, विवेकपूर्ण समन्वय नहीं है। सन्तों का ध्येय सदाचरण होता है, दूसरों के आदर का पात्र बनना नहीं। उनमें आवेश की एक साहसिक व्यग्रता की आग होती है जो जीवन की भी परवाह नहीं करती। मानवीयवाद में वह अदमनीय और अनिर्वचनीय संस्पर्श नहीं होता वह धर्म का उत्साह नहीं होता जो उस महान् और उच्च विश्वास को जन्म दे सकता है जिसकी सृजनात्मकता असीम है जिसकी आशा अक्षय है और जिसके साहसिक उद्यम उच्चकोटि के हैं। जो लोग अपनी आँखें धरती पर लगाए रखते हैं और समाज की परम्पराओं का अनुसरण करने के लिए सिद्ध पुरुषों के पथ मर्म को स्वीकार करते हैं व मानवीय नियम के पालक हो सकते हैं किन्तु वे नैतिक वीर नहीं हैं। भद्र पुरुष और धार्मिक पुरुष का यही अन्तर है। एक सच्चा ईसाई बनने से एक भद्र पुरुष बनना आसान है। धार्मिक सदाचरण की भूख और प्यास के बजाय पर्याप्त आत्म-सम्मान और आत्म-नियन्त्रण प्राप्त करना और शिष्ट और अच्छा बनना अधिक सहज है। सन्त लोग हमेशा सीमा का उल्लंघन करते हैं। उनका सन्तत्व ही इसमें है कि वे सीमा के बन्धन में बँधे न रहें। सुकरात और ईसा दोनों ने सीमाओं का अतिक्रमण किया था। यद्यपि उन्होंने सत्य और न्याय के प्रति अपने प्रेम के लिए प्राण दे दिये तो भी वे प्रतिध्वनि और प्रकाश बनकर हमेशा के लिए अमर हो गए। वे मानवों के मन को बदल रहे हैं और मानवीय इतिहास के अँधेरे कमरों को रोशन कर रहे हैं। अच्छाई के प्रति वास्तविक प्रेम या उसकी आकांक्षा अपने पड़ोसी के लिए आत्म-बलिदान से लेकर अपना प्राण न देना वरन् बाजा को भी चुम लगाने तक अनेक रूपों में अपने आप को अभिव्यक्त करती रहती है किन्तु यह सब तभी सम्भव है जबकि हम

१ [illegible] में कहा था कि [illegible] में भी [illegible] कि [illegible] ईसाई को [illegible] नहीं किया है [illegible] के अनुरूप [illegible] किन्तु यदि [illegible] तो उसमें यह [illegible] नहीं किया है तो [illegible]। हो सकता है कि हम [illegible] में [illegible] भद्र पुरुष [illegible] के गुणों के [illegible] और [illegible] के गुणों का [illegible] के साथ [illegible] समन्वय कर सकता है वही भद्र पुरुष है। किन्तु [illegible] के साथ [illegible]।

वह उद्देश्य सिद्ध न होता जिसके लिए उसकी कल्पना की गई है दूसरी ओर यदि वह कोई ऐसी वस्तु है जो देश-काल को और अधिक ऊँचे आकार धारण करने के लिए प्रेरित करती है तो वह निश्चय ही कोई ऐसी वस्तु है जो देश-काल से भिन्न और उससे महत्तम है। इसकी व्याख्या का आधार देश-काल और उत्प्रवृत्ति प्रतीत होता है और यदि प्रोफेसर टेस्टामेंट के शब्दों में कहा जाए तो यह आधार मूल्य और ईश्वर है। काण्ट का नैतिकता विषयक सिद्धान्त यह सिद्ध करता है कि हम आध्यात्मिक सत्ता की जो मानवीय सत्ता से ऊपर है अपनी नैतिक चेतना में प्राप्त करते हैं। यद्यपि काण्ट धर्म को मानवीय भावना की एक स्वतन्त्र क्रिया के रूप में नैतिकता से भिन्न और कुछ हद तक उसके अधीन मानता है तो भी सब मिलाकर उसकी विचार प्रणाली दोनों के बीच एक सन्तुलन उपस्थित करती है। यद्यपि पुण्य अपने-आपमें एक अच्छी चीज है किन्तु शिव (अच्छाई) का पूर्ण रूप नहीं है। उसका पूर्ण रूप पुण्य और सुख दोनों से मिलकर बनता है। पूर्ण अच्छाई और पूर्ण सुख ये दोनों 'शिव' के दो निरपाधिक पार्श्व हैं जिन्हें व्यावहारिक तर्क बुद्धि अपने सामने रखती है। यदि इन दोनों में साहचर्य न रहे तो हमारी नैतिक चेतना पीड़ित होती है। किन्तु पूर्ण सुख प्राकृतिक व्यवस्था पर निर्भर है जिसका पुण्य या अच्छाई से कोई सीधा सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। सुख और अच्छाई के बीच उचित समवाय तभी सम्भव है जबकि हम एक ऐसी ईश्वरीय सत्ता की कल्पना करें जो ब्रह्माण्ड का नैतिक जगत् के साथ समायोजन और सुख एवं अच्छाई के सम्बन्ध का नियमन कर सके। हमारी नैतिक चेतना एक ऐसे ईश्वर की सत्ता स्वीकार करती है जो उच्चतम अच्छाई की उपलब्धि के लिए पर्याप्त है। काण्ट का कहना है कि केवल मात्र यह संसार ही नहीं है और पुण्य के दावे और जीवन के पुरस्कारों के बीच उचित सम्बन्ध का जो अभाव नजर आता है उसे दूर किया जा सकता है। यदि हम ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार न करें तो हमारे सामने एक द्वैत की समस्या खड़ी हो जाएगी एक ओर नैतिक नियम होंगे जो हमारी निष्ठा पर दावा करेंगे और दूसरी ओर ब्रह्माण्ड होगा जो नैतिकता की माँगों के प्रति विरोधी नहीं तो उदासीन अवश्य है। यदि नैतिक नियम का नियामकत्व सिद्ध करना है यदि मनुष्य को अन्ततः एक नैतिक सत्ता के रूप में प्रमाणित करना है तो विश्व की इस प्रक्रिया का जिसने मानवीय व्यक्तियों का निर्माण किया है कुछ अर्थ अवश्य है और समस्त वस्तुओं की संरचना अन्ततः आध्यात्मिक है। इस प्रकार मानवीयवाद हमारा एक ऐसा चित्र उपस्थित करता

तक नहीं है कि अच्छे आदमी को पृथ्वी पर प्रायः पराजयों और असफलताओं का सामना करना पड़ता है इसलिए हमें पुण्य कार्य और सुख की प्राप्ति के बीच समञ्जन करने के लिए एक अतिमानवीय शक्ति की आवश्यकता है। जब जीवन की बुनियाद हिलने लगती है जब जीवन के अन्तिम प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होते हैं और हमसे जवाब माँगते हैं तब अकेले मानवीयवाद से काम नहीं चलता। जीवन एक महान् खेल है और हमें उसे महान् उच्च स्थिति में लाना है। अकेला मानवीयवाद उसे इसके लिए प्रेरणा नहीं दे सकता।

जब मानवीयवाद यह स्वीकार करता है कि अमुक मूल्य अन्तिम और शाश्वत हैं तब वह प्रकारान्तर से ब्रह्माण्ड के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि में नैतिक 'आत्मा' एक ऐसी शक्ति है जो सामान्य आत्मा से ऊपर है जिसमें हर मनुष्य साझीदार है चाहे उसकी मानसिक प्रकृति कैसी भी हो और इस आत्मा के प्रति हमारी मानसिक अभिवृत्ति यह होती है कि हम उसके अधीन हैं। यह प्रश्न अनिवार्य है कि क्या नैतिक आदर्श एक स्वप्न मात्र है या उसे ब्रह्माण्ड का समर्थन भी प्राप्त है? क्या मनुष्य अन्धकार में अकेला ही चल रहा है या एक ऐसा लोकातीत तत्त्व भी है जो उसे आदर्शों की खोज में सहायता दे रहा है और अपनी योजनाओं की अन्तिम विफलता से उसकी रक्षा कर रहा है? क्या मूल्य महज अनुभवाश्रित सांसारिक संयोग हैं और अधिक-से-अधिक मानवीय मन की सृष्टि हैं या यह समझा जाए कि वे हमारे सामने एक ऐसी सत्ता द्वारा की गई व्यवस्था को अभिव्यक्त करते हैं जो महज मानवीय सत्ता ही नहीं है बल्कि एक ऐसी आध्यात्मिक सत्ता है जो सांसारिक प्रक्रिया में घटने वाली हर घटना को एक अर्थ और महत्त्व प्रदान करती है? क्या मानवीय जीवन इस लोक से परे किसी अन्य सत्ता का और संकेत करता है जो मानवीय जगत् के अन्तर्गत न होते हुए भी पूर्ण और नित्य है और उसे प्रभावित करता है? प्रो० अलेक्जेंडर का मत है कि मूल्यों का जगत् एक [illegible] में एक नये उपादान के रूप में उत्पन्न होता है। उनकी दृष्टि में मूल्यों का उद्भव देश-काल की मूल वास्तविक सत्ता के अन्तर्गत वस्तुओं की आनुषंगिक वृद्धि से होता है।[1] पर अलेक्जेंडर मूल्यों को प्रथम स्थान नहीं देता किन्तु किसी उद्भूति (नाइसस) को स्वीकार किये बिना देश-काल की उत्पत्ति की व्याख्या करना उसे कठिन प्रतीत होता है। यह उद्भूति देश-काल नहीं है। यदि यह देश-काल होती तो उसमें

१. स्पेस, टाइम एण्ड डीटी, खण्ड २ [illegible]

किन्तु मनुष्य न सिर्फ शरीर ही है और न सिर्फ मन, बल्कि वह इनके साथ-साथ आत्मा भी है। इस प्रकार मानवीयवाद एक भक्तिमय जीवन की, जिसे ईश्वर के मत के रूप में स्वीकार किया जाता है, और जो सेवा और आत्मोत्सर्ग के रूप में अपने आपको अभिव्यक्त करता है, आवश्यकता पूरी नहीं कर सकता।

धर्म और युक्तियुक्त मानवीयवाद में कोई विरोध नहीं है। इस संसार में जो सच्चे अर्थों में धार्मिक कर्म है, अर्थात् ईश्वर और मानव के बीच सम्बन्ध की आन्तरिक अनुभूति है, वह अवश्य ही मानव-सेवा के रूप में अभिव्यक्त होगी। यद्यपि व्यवहार में महत्त्व धार्मिक जीवन के फल का, उसकी सामाजिक उत्पादकता का है, तो भी समाज के सबसे श्रेष्ठ और योग्य सेवक वे लोग हैं, जो आभ्यन्तर जीवन का सत्कार करते हैं। कोई भी ऐसा धर्म, जिसका केन्द्र ईश्वर नहीं, बल्कि मानव होता है, शक्तिशाली धर्म नहीं होता।

५. धर्म और मानवीयवाद

मानवीयवाद और सामाजिक आदर्शवाद के प्रसार का कारण प्रतिगामी धार्मिक सम्प्रदाय हैं जो लोगों को मरणोत्तर जीवन का भय दिखाते हैं और यह चेतावनी देते हैं कि मृत्यु के बाद परलोक में उनके सब अच्छे-बुरे कर्मों का हिसाब किताब निबटाया जाएगा। किन्तु अब मानवीयवाद के विद्रोह के फलस्वरूप धर्म अधिकाधिक समाज-सुधार का साधन बनता जा रहा है। ईसाई सम्प्रदाय में ही हम ऐसे सुधारवादियों को देखते हैं जो ईसा मसीह के धर्म के प्रमाण देकर साम्यवाद (कम्युनिस्ट सोवियत् संघ) की कार्यक्षमता का समर्थन करते हैं। वे लोग हमें स्मरण कराते हैं कि ईसा उन लोगों के बारे में क्या कहा करते थे जो उनका नाम जपते थे किन्तु भूखों का पेट भरने में उपेक्षा दिखाते थे। वे हमें ईसा के इस वचन की याद दिलाते हैं कि लोग उनके (ईसा के) छोटे-से-छोटे भाई के साथ जो व्यवहार करते हैं वह वस्तुतः उन्हीं के साथ करते हैं। वे हमें पवित्र और विशुद्ध धर्म के सम्बन्ध में सन्त जेम्स की उक्ति का और सन्त जॉन के इस वचन का स्मरण कराते हैं कि 'जो अपने देखे हुए भाई को प्यार नहीं करता वह अनदेखे ईश्वर को कैसे प्यार करेगा।' हालैण्ड की चित्रशाला और गिर्जों के [illegible] ईसाओं (ईसा का चित्र जिसमें उसने मजदूरों का साज धारण किया हुआ है) में भी इस मानवीयवादी रूप को चित्रित किया गया है। ईसाई विश्वास का प्रधान लक्षण है कि वह ईसा के जीवन के व्यावहारिक रूप पर बल देता है।

है जिसमें वह एक ऐसी अधिक गहरी और अधिक व्यापक सत्ता में बद्धमूल दृष्टि गोचर होता है जिसमें वह अपना पूर्ण विकास पाता है। मानवीयवाद का सम्बन्ध मूल्यों से है और धर्म मूल्यों का वास्तविक सत्ता के साथ और मानव-जीवन का उस अन्तिम पृष्ठभूमि के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है जिस पर वह प्रतिष्ठित है। असभ्य मानव का धर्म चाहे कितना ही स्थूल अपरिष्कृत और कुण्ठित हो वह कम-से-कम उसे यह आश्वासन तो देता ही है कि वास्तविक उच्च सत्ता का उसके मूल्यों के प्रति सद्भाव है और वह उसके कल्याण के प्रति उदासीन नहीं है। असभ्य मानव की विभिन्न प्राणियों या वनस्पतियों के रूप में ईश्वर की आदिम कल्पना से लेकर सुशिक्षित दार्शनिक की एक पूर्ण परमात्मा के रूप में ईश्वर की कल्पना तक निरन्तर यह विश्वास व्याप्त रहा है कि मनुष्य एक अधिक व्यापक और अधिक विशाल सृष्टि-योजना का एक छोटा-सा अंग है। इस सृष्टि योजना में उसके जीवन और उसके परिवेश का रहस्य निहित है और वह उसकी नियति पर रहस्यमय प्रभाव डालती है।

महान मानवीयवादियों का कहना है कि वस्तुसत्यताओं के अनन्त प्रवाह में एक का स्थायी तत्त्व रहता है। प्लेटो ने 'अपरिवर्तनीय आदर्श' को स्वीकार किया है और अरस्तू ने 'अन्तिम अभौतिक आकार' को। प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में हम एक ऐसा धर्म पाते हैं जो एक नित्य ईश्वर के अस्तित्व का आग्रह नहीं करता फिर भी पाप और बुराई की चेतना पवित्र आचरण की आवश्यकता और लोभ और काम-वासना के दमन की सबल प्रेरणा देता है। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म एक ऐसे नित्य और शाश्वत सत्य में गम्भीर विश्वास रखता था जिसका सब वस्तुओं में वास है। उसकी दृष्टि में ब्रह्माण्ड की संरचना नैतिक और आचारमय है। वह 'धर्मभूत' है। मैथ्यू आर्नल्ड भी जिसकी दृष्टि में धर्म का अर्थ भावुकता-मिश्रित नैतिकता है यह मानता था कि 'एक ऐसी सत्ता है जो हमारी अपनी सत्ता से बड़ी है जो हमें सत्य और धर्म की ओर ले जाती है। उसके साथ हमारा किसी-न किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य है और हम उसके प्रभाव के अनुकूल अनुक्रिया करते हैं वह सत्ता उससे बड़ी है जिसका अन्त हो चुका है या होना अवश्यम्भावी है और उसके प्रति आत्म-समर्पण में ही हमारी शान्ति निहित है। अमरीकी मानवीयवादी बैबिट और मोर की दृष्टि में मानवीयवाद और धर्म एक ही मार्ग की दो मंजिलें हैं। प्राकृतिकवाद जब यह कहता है कि शरीर मनुष्य है तो वह सही होता है मानवीयवाद जब यह कहता है कि मन मनुष्य है तो वह भी सही होता है,

ईश्वर में विश्वास नहीं करते तो भी हमें वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि हम उस पर विश्वास करने पर करते। अर्थात् ईश्वर के होने पर जैसा जीवन व्यतीत करना चाहिए, वैसा ही जीवन बिताना लाभकारी है। किन्तु सामाजिक व्यवहार का तकाजा है कि हम ईश्वर की सत्ता पर विश्वास करें। इस दृष्टिकोण का मूल हम काण्ट के इस सिद्धान्त में पाते हैं कि ईश्वर की कल्पना एक नियामक विचार है, एक व्यावहारिक कल्पना है जो हमें अपने विचार के विषयों को एक सुव्यवस्थित पूर्ण के अंगों के रूप में परस्पर सम्बद्ध रूप में देखने में सहायता देती है।

फलवाद यह मानता है कि हमारे अनुभव हमारी इच्छा या अनिच्छा के परिणाम हैं या एक निश्चित उद्देश्य के लिए होते हैं और वह ज्ञान का मन के सर्व जीवन से व्यवहार से पृथक करने का विरोधी है। इस विचार में वह परम्परागत आदर्शवाद का और उसके इस सिद्धान्त का अनुगामी है कि आदर्शवाद का विषयमूल आदर्श अहम् विद्यमान है। किन्तु उसकी त्रुटि यह है कि वह जिस मात्र व्यक्तिवाद को अपनाता है वह बहुत संकीर्ण है। किसी भी ज्ञान की कसौटी समग्र अनुभव के व्यापक सन्दर्भ में लागू की जाती है। किसी भी विचार का तभी कोई मूल्य होता है जबकि वह किसी आकस्मिक इच्छा या क्षणिक उद्देश्य के लिए नहीं, बल्कि समग्र सम्बद्ध स्थिति के लिए व्यवहार में आता है। उससे आलोचनात्मक बुद्धिमत्ता और विवेक की संतुष्टि होनी चाहिए। कभी-कभी ऐसा लगता है कि आत्मा की गहरी आवश्यकताएँ अतर्कसंगत भ्रमों से पूरी होती हैं। यदि हम विश्वासों को इस आधार पर स्वीकार करें कि वे हमारे मन को प्रसन्न करते हैं और हमें सुख पहुँचाते हैं तो बहुत से अन्धविश्वास भी उचित हो जायेंगे। फलवादी मनोविज्ञान-विशेषज्ञ से इस बात पर सहमत प्रतीत होता है कि धार्मिक विश्वास वास्तविक जीवन की कठोरता की क्षति-पूर्ति कर देते हैं। यदि विश्वास का विषय या वस्तु केवल काल्पनिक हो और उसकी सृष्टि हमने सिर्फ अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए की हो तो उस विषय या वस्तु का विश्वास भी एक दिन नष्ट हो जायगा। ईश्वर से हमारा आशय केवल ईश्वर का प्रत्यय या विचार ही नहीं बल्कि उससे कुछ अधिक होता है। धार्मिक विश्वास की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसका विषय केवल प्रत्यय या विचार-मात्र नहीं होता। यदि ईश्वर की कल्पना ने अनेक पीढ़ियों की सहायता की है तो सिर्फ इसलिए कि लोग उसे कभी निरी कल्पना मात्र नहीं समझते थे। कोई भी व्यक्ति

भारत में दयानन्द, रामकृष्ण और विवेकानन्द, गांधी और टैगोर के प्रभाव से आध्यात्मिक उत्थान का आन्दोलन लोकप्रिय हो रहा है। भगवद्गीता कर्म पर बहुत बल देने के कारण ही हिन्दुओं का सबसे महत्त्वपूर्ण धर्मग्रन्थ बन गई है। धर्म में सबसे महत्त्वपूर्ण चीज यह है कि उसमें बल किस बात पर दिया जाता है और आज यह बल सामाजिक सुधार पर ही दिया जा रहा है। किन्तु हम यह नहीं भूल सकते कि धर्मतः आध्यात्मिक मुक्ति का नाम धर्म है, सामाजिक सुधार का नहीं। पवित्रता और साधुत्व का अर्थ परमात्मा में मग्न ही सेवा और बन्धुत्व हो किन्तु वे उसका प्रत्यक्ष और सीधा अर्थ नहीं हो सकते।[1] धर्म को आज केवल नास्तिकता और विशुद्ध लौकिकता से विरुद्ध ही नहीं लड़ना बल्कि सामाजिक सुधार के नाम से अपने अधिक प्रच्छन्न प्रतिद्वन्द्वी के विरुद्ध भी संघर्ष करना है।

५. फलवाद (प्रैगमटिज्म) :

कभी-कभी धर्म को आधुनिक चुनौती फलवादी दृष्टिकोण से भी दी जाती है। फलवाद पूर्ण और निरपेक्ष सत्य को एक काल्पनिक वस्तु मानता है। उसका विचार है कि सभी सत्य मानवीय और सापेक्ष हैं। सत्य की परख उसके परिणामों के मूल्य से होती है। उदाहरण के लिए, विज्ञान में हम कुछ अनुभव और उपयुक्त प्राक्कल्पनाओं को उनकी परीक्षा और सिद्ध किये जाने से पूर्व ही अपना लेते हैं और उनके अनुसार कार्य करते हैं। इसी प्रकार हम धर्म के क्षेत्र में भी आध्यात्मिक परीक्षण कर सकते हैं। हमें धार्मिक विचारों के मूल्य का निर्णय उनके वस्तुनिष्ठ सत्य के द्वारा नहीं बल्कि उनके नैतिक और आध्यात्मिक परिणामों से करना है। जब तक कि कोई विचार, मसलन अवतार की कल्पना समाज में एक जीवित वास्तविकता के रूप में विद्यमान है तब तक इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि वह ईसामसीह के व्यक्तित्व में साकार हुआ था नहीं। हमारे अनुभव के ईसामसीह, दर्शन और धर्मशास्त्र के ईसामसीह पर इतिहास के ईसामसीह का कोई असर नहीं पड़ता। जब हम कहते हैं कि ईश्वर हमारा पिता है तो हम ईश्वर के स्वरूप का वर्णन नहीं करते बल्कि यह संकेत करते हैं कि हमारा आपस में एक-दूसरे के साथ क्या व्यवहार होना चाहिए। यदि हम वास्तव में

१ तुलना कीजिए : एक फ्रांसीसी लड़की ने रेनां की 'लाइफ ऑफ जीसस' पुस्तक की आलोचना करते हुए कहा था : 'कितने अफसोस की बात है कि मसीह का जन्म फ्रांस में नहीं हुआ।'

ईश्वर मे विश्वास नही करते तो भी हमे वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि हम उस पर विश्वास करने पर करते। अर्थात् ईश्वर के होने पर जैसा जीवन व्यतीत करना चाहिए, वैसा ही जीवन बिताना लाभकारी है। किन्तु सामाजिक व्यवहार का तकाजा है कि हम ईश्वर की सत्ता पर विश्वास करें। इस दृष्टिकोण का मूल हम काण्ट के इस सिद्धान्त में पाते है कि ईश्वर की कल्पना एक नियामक विचार है, एक व्यावहारिक कल्पना है जो हमे अपने विचार के विषयों को एक सुव्यवस्थित पूर्ण व अर्थों के रूप में परस्पर सम्बद्ध रूप में देखने में सहायता देती है।

फलवाद यह मानता है कि हमारे अनुभव हमारी इच्छा या अनिच्छा के परिणाम हैं या एक निश्चित उद्देश्य के लिए होते हैं और वह ज्ञान को मन के मूर्त जीवन व व्यवहार से पृथक करने का विरोधी है। इस लिहाज से वह परम्परागत भाववादवाद का और उसके इस सिद्धान्त का अनुगामी है कि आदर्शवाद का विषयभूत आदर्श पहले विद्यमान है। किन्तु उसकी त्रुटि यह है कि वह जिस लोकव्यवहारवाद को अपनाता है वह बहुत संकीर्ण है। किसी भी काम की कसौटी समग्र अनुभव के व्यापक सन्दर्भ में लागू की जाती है। किसी भी विचार का तभी कोई मूल्य होता है जबकि वह किसी आकस्मिक इच्छा या क्षणिक उद्देश्य के लिए नहीं बल्कि समग्र सम्बद्ध स्थिति के लिए व्यवहार में आता है। उससे आलोचनात्मक बुद्धिमत्ता और विवेक की सन्तुष्टि होनी चाहिए। कभी-कभी ऐसा लगता है कि आत्मा की गहरी आवश्यकताएँ खतरनाक भ्रमों से पूरी होती हैं। यदि हम विश्वासो को इस आधार पर स्वीकार करने लग कि वे हमारे मन को प्रसन्न करते हैं और हमे सुख पहुँचाते हैं तो बहुत से अन्धविश्वास भी उचित हो जाएँगे। फलवादी मनोविज्ञान विश्लेषक स इस बात पर सहमत प्रतीत होता है कि धार्मिक विश्वास वास्तविक जीवन की कठोरता की क्षति-पूर्ति कर देते हैं। यदि विश्वास का विषय या वस्तु केवल काल्पनिक हो और उसकी सृष्टि हमने सिर्फ अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए की हो तो उस विषय या वस्तु का विश्वास भी एक दिन नाश हो जाएगा। ईश्वर से हमारा आशय केवल ईश्वर का प्रत्यय या विचार ही नहीं बल्कि उससे कुछ अधिक होता है। धार्मिक विश्वास की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसका विषय केवल प्रत्यय या विचार-मात्र नहीं होता। यदि ईश्वर की कल्पना ही अनेक पीढ़ियों की सहायता करती आई है तो सिर्फ इसलिए कि लोग उसे कभी निरी कल्पना नहीं समझते थे। कोई भी व्यक्ति

भारत में दयानन्द सरस्वती और विवेकानन्द गांधी और टैगोर के प्रभाव से सामाजिक उत्थान का आन्दोलन और तेज हो रहा है। भगवद्गीता कर्म पर बल देती है। इस कारण ही हिन्दुओं का सबसे महत्त्वपूर्ण धर्मग्रन्थ बन गई है। धर्म में अब यह बात महसूस की जा रही है कि उसमें किस बात पर बल दिया जाता है और आज यह बल सामाजिक सुधार पर ही दिया जा रहा है। किन्तु हम यह नहीं भूल सकते कि वस्तुतः आध्यात्मिक मुक्ति का नाम धर्म है, सामाजिक सुधार का नहीं। पवित्रता और महापुरुष का धर्म परोपकार से भिन्न है। सेवा और बन्धुत्व इसके उसका प्रत्यक्ष और सीधा अर्थ नहीं हो सकते।[1] धर्म को आज केवल शंकालुता और विशुद्ध नैतिकता के विरुद्ध ही नहीं लड़ना बल्कि सामाजिक सुधार के नाम में अपने अधिक सूक्ष्म प्रतिद्वन्द्वी के विरुद्ध भी संघर्ष करना है।

१ फलवाद (प्रैगमटिज्म) :

कभी-कभी धर्म को आधुनिक चुनौती फलवादी दृष्टिकोण से भी दी जाती है। फलवाद पूर्ण और निरपेक्ष सत्य को एक काल्पनिक वस्तु मानता है। उसका विचार है कि सभी सत्य मानवीय और सापेक्ष हैं। सत्य की परख उसके परिणामों के मूल्य से होती है। उदाहरण के लिए, विज्ञान में हम कुछ अनुमान और उपयुक्त प्राक्कल्पनाओं को उनकी परीक्षा और सिद्ध किये जाने से पूर्व ही अपना लेते हैं और उनके अनुसार काम करते हैं। इसी प्रकार हम धर्म के क्षेत्र में भी आध्यात्मिक परीक्षण कर सकते हैं। हम धार्मिक विचारों के मूल्य का निर्णय उनके वस्तुनिष्ठ सत्य के द्वारा नहीं बल्कि उनके नैतिक और आध्यात्मिक परिणामों से करते हैं। जब तक कि कोई विचार, मसलन अवतार की कल्पना समाज में एक जीवित वास्तविकता के रूप में विद्यमान है तब तक इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि वह ईसामसीह के व्यक्तित्व में साकार हुआ था नहीं। हमारे अनुभव के ईसामसीह, दर्शन और धर्मशास्त्र के ईसामसीह पर इतिहास के ईसा मसीह का कोई असर नहीं पड़ता। जब हम कहते हैं कि 'ईश्वर हमारा पिता है' तो हम ईश्वर के स्वरूप का वर्णन नहीं करते बल्कि यह संकेत करते हैं कि हमारा आपस में एक-दूसरे के साथ क्या व्यवहार होना चाहिए। यदि हम वास्तव में

१ तुलना कीजिए : एक फ्रांसीसी लड़की ने रेनां की 'लाइफ ऑफ जीसस' पुस्तक को लौटाते हुए कहा था : 'कितने अफसोस की बात है कि यह सभी कुछ वास्तव में नहीं हुआ।'

ईश्वर में विश्वास नहीं करते तो भी हमें वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि हम उस पर विश्वास करने पर करते। अर्थात् ईश्वर के होने पर जैसा जीवन व्यतीत करना चाहिए, वैसा ही जीवन बिताना लाभकारी है। किन्तु सामाजिक व्यवहार का तकाजा है कि हम ईश्वर की सत्ता पर विश्वास करें। इस दृष्टिकोण का मूल हम काण्ट के इस सिद्धान्त में पाते हैं कि ईश्वर की कल्पना एक नियामक विचार है, एक व्यावहारिक कल्पना है जो हम अपने विचार के विषयों को एक सुव्यवस्थित पूर्ण के अंगों के रूप में परस्पर सम्बद्ध रूप में रखने में सहायता देती है।

फलवाद यह मानता है कि हमारे अनुभव हमारी इच्छा या अभिरुचि के परिणाम हैं या एक निश्चित उद्देश्य के लिए होते हैं और वह ज्ञान को मन के मूर्त जीवन में व्यवहार से पृथक करने का विरोधी है। इस लिहाज से वह परम्परागत आदर्शवाद का और उसके इस सिद्धान्त का अनुगामी है कि आदर्शवाद का विषयभूत आदर्श पहले विद्यमान है। किन्तु उसकी त्रुटि यह है कि वह जिस मोह् व्यवहारवाद को अपनाता है वह बहुत संकीर्ण है। किसी भी काम की कसौटी समग्र अनुभव के व्यापक सन्दर्भ में लागू की जाती है। किसी भी विचार का तभी कोई मूल्य होता है जबकि वह किसी आकस्मिक इच्छा या क्षणिक उद्देश्य के लिए नहीं बल्कि समग्र सम्बद्ध स्थिति के लिए व्यवहार में आता है। उससे भावनात्मक बुद्धिमत्ता और विवेक की सन्तुष्टि होनी चाहिए। कभी-कभी ऐसा लगता है कि आत्मा की गहरी आवश्यकताएँ समरमात्र भ्रमों से पूरी होती हैं। यदि हम विश्वासों को इस आधार पर स्वीकार करने लगें कि वे हमारे मन को प्रसन्न करते हैं और हमें सुख पहुँचाते हैं तो बहुत से अन्धविश्वास भी उचित हो जायेंगे। फलवादी मनोविज्ञान-विश्लेषक से इस बात पर सहमत प्रतीत होता है कि धार्मिक विश्वास वास्तविक जीवन की कठोरता की क्षतिपूर्ति कर देते हैं। यदि विश्वास का विषय या वस्तु केवल काल्पनिक हो और उसकी सृष्टि हमने सिर्फ अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए की हो तो उस विषय या वस्तु का विश्वास भी एक दिन खत्म हो जायगा। ईश्वर में हमारा आशय केवल ईश्वर का प्रत्यय या विचार ही नहीं बल्कि उससे कुछ अधिक होता है। धार्मिक विश्वास की महत्वपूर्ण बात यह है कि उसका विषय केवल प्रत्यय या विचार-मात्र नहीं होता। यदि ईश्वर की कल्पनाएँ ही अनेक पीढ़ियों की सहायता करती आई हैं तो सिर्फ इसलिए कि लोग उन्हें सच्ची [illegible]

हमेशा किसी ऐसी वस्तु की पूजा नहीं करता रह सकता जो बिलकुल असत्य हो। जब हम यह कहते हैं कि ईश्वर पर विश्वास का एकमात्र आधार मनुष्य की विश्वास करने की आवश्यकता और आकांक्षा है तो हम वास्तव में यह प्रकट करते हैं कि असल में हमारा उस पर विश्वास नहीं है। हमारा कर्तव्य है कि हम केवल सान्त्वना और आश्वासन देने वाली मिथ्या कल्पनाओं से चिपटे रहने के बजाय सत्य की खोज करें, चाहे वह कितना ही अप्रिय और अचिरस्थायी क्यों न हो। ईश्वर वैसा नहीं है जिस रूप में कि मनुष्य कुछ सुविधाजनक समय के लिए उसे सत्य बनाना चाहता है बल्कि वह वैसा है जिस रूप में कि वह सचमुच उसे सत्य समझता है भले ही इसके लिए मनुष्य को बलिदान और आत्मोत्सर्ग करना पड़े।

७. आधुनिकवाद

जिसे आधुनिकवाद कहा जाता है वह मन का एक ऐसा रवैया है जो बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है और जिसे हम सभी धर्मों में पाते हैं। हर पीढ़ी के सामने अपने अनुभवों का समन्वय करने और एक विधिवत् निर्धारित मत्वाद में उन्हें बिठाने की समस्या होती है। आज आधुनिकवादी धार्मिक परम्पराओं को विकास की प्रक्रिया में उत्पन्न नयी आवश्यकताओं के ढाँचे में बिठाने के कार्य में व्यस्त हैं। ईसाई जगत् में आधुनिकवादी कहते हैं कि ईसाई धर्म के आधारभूत मूल सत्य भी वृद्धि और विकास की प्रक्रिया की उपज हैं। उनका कहना है कि बाइबिल के धर्मोपदेशों का ईसा मसीहियों के मसीहा ग्रीक लोगों के लोगोस या प्रोटेस्टेंट लोगों के ईसा से बिलकुल भिन्न है। बीसवीं सदी के ईसा पर यहूदियों की धर्मनिष्ठा ग्रीक लोगों के दर्शन रोमनों के वैधवाद (यह मान्यता कि धर्म स कानून बड़ा है और मनुष्य का अच्छा या बुरा होना इस बात पर निर्भर नहीं कि वह धर्म को मानता है या नहीं बल्कि उसके कर्मों पर निर्भर है) धर्मत यथार्थ वाद और फ़ासीसियों के तर्कवाद सभी की छाप है। हमारा कर्तव्य है कि हम धर्म में इस बात की छानबीन कर कि उसमें कौनसे तत्त्व स्थायी हैं और कौनसे अस्थायी या अस्थायिक और स्थायी तत्त्वों का धर्म की पुनर्व्याख्या से नये ज्ञान और आकांक्षाओं के साथ समन्वय कर। आधुनिकवादी धार्मिक सिद्धान्तों को कपोल-कल्पना चमत्कारों को जनश्रुतियाँ धार्मिक संस्कारों और अनुष्ठानों को जादू और प्रतीक एवं धर्म-ग्रन्थों को साहित्य-ग्रन्थ बताते हैं। मात्रा भेद से आधु

उन्हें जानने के लिए भक्ति, श्रद्धा और संयम का पूरे हृदय से उनकी खोज में लगाना होगा। विज्ञान की खोजों के प्रति उन्मुक्त मन, सृष्टि के सौन्दर्य, उदात्तता और बुद्धिमत्ता के प्रति समादर और ग्रहणशीलता की अभिवृत्ति और सृष्टि को स्रष्टा के मन और स्वरूप की अभिव्यक्ति मानना और दुनियादार लोगों के वर्तमान मूल्यांकन के प्रति पूर्ण उदासीनता। इस परम्परा में ईसाई तत्त्व मुख्यतः जीवित, महनीय और सदा मन के भीतर वास करने वाले ईसा के साथ आन्तरिक ज्योति के तादात्म्य से उपलब्ध होता है।

प्रोफेसर करसॉप लेक[1] ने आत्मा के पवित्र धर्म के लक्षणों का विवेचन किया है, किन्तु उसने इस सम्बन्ध में पूर्ण उदासीनता दिखाई है कि ईसा में ये सब लक्षण मूर्तिमान् हुए हैं। उसकी व्याख्या ईसाई धर्म से ऐसे तत्त्वों को, जो स्पष्ट रूप से ईसाई तत्त्व हैं, निकालकर उसे विशुद्ध रहस्यवाद में परिणत कर देती है। आधुनिकतावादी लोग धार्मिक विश्वास की अन्तर्वस्तु का सम्बन्ध समसामयिक ज्ञान के साथ जोड़कर पुराने सनातन धर्म को उसकी पृथक् विशिष्ट और स्पष्ट सत्ता से विरहित कर देते हैं, और इसीलिए उनके इस प्रयत्न को ऐसे बहुसंख्यक लोगों की सहानुभूति प्राप्त नहीं होती जो इस सम्बन्ध में कुछ राय रखने का अपना अधिकार समझते हैं। सनातन ईसाई धर्म में विश्वास रखने वाले आधुनिकतावादियों के इस प्रयत्न को उच्चतर जीवन के लिए एक प्रकार की अस्पष्ट आकांक्षा समझते हैं, जो कुछ-कुछ इसी किस्म की और अभावात्मक है। आधुनिकवादी क्योंकि कुछ-कुछ मध्यवर्ती स्थिति में हैं, इसलिए उन पर दोनों ओर से आक्रमण होते हैं। प्रकृतिवादी उनसे इसलिए नाराज हैं कि उनके प्रयत्नों से धर्म का खात्मा होने के बजाय उसकी जिन्दगी और बढ़ती है। परम्परावादी कहते हैं कि आधुनिकवादी धर्म की ऐसी चीजों का भी जिनका अन्धकार में रहना

१ दि ... ट्रेडिशन इन ... रिलिजस थॉट (१९१७), पृष्ठ ९१-९४।
दि रिलिजन ऑफ यस्टर्डे एण्ड टुमॉरो (१९२५)।

२ तुलना कीजिए : फादर रोनाल्ड नॉक्स ने आधुनिकतावादियों की प्रार्थना का यह व्यंग्यात्मक चित्र खींचा है :

"हे प्रभो, तुम्हारे बिना क्योंकि—
हम तुम पर सन्देह नहीं कर सकते
इसलिए कृपा कर हमें ज्ञानालोक दो
जिससे हम सारी मानव जाति को शिक्षा दे सकें,
कि हम तुम्हारे बारे में कुछ भी नहीं जानते।

में वास किया जाता।[1] धर्मग्रन्थों की प्रामाणिकता के पीछे स्वतन्त्र और निर्बाध जिज्ञासा का जो सिद्धान्त था वह आज भी आदर्श ही बना हुआ है उसकी पूर्ति नहीं हो सकी। ऐसी आध्यात्मिक प्रतिभा जो किसी धर्म को स्वयं अपने लिए आविष्कार कर सके लाखों में से किसी एक में होती है। अधिकतर लोग तो यही चाहते हैं कि उन्हें बना-बनाया मन्दिर मिल जाए जहाँ जाकर वे निश्चिन्तता से सिर झुका सकें और माथा टेक सकें। उनके लिए दो ही रास्ते हैं या तो वे किसी प्रामाणिक प्राप्त सत्ता को स्वीकार कर लें अथवा धर्म के चक्कर में पड़ें ही नहीं। या तो वे कैथोलिक धर्म को स्वीकार कर लें अथवा धर्म के सम्बन्ध में उनके समस्त भ्रम समाप्त हो जाएँ। धार्मिक क्षेत्र के नेता लोग पूजा के सौन्दर्य और ऐश्वर्य पर लम्बे-चौड़े व्याख्यान देते हैं परम्परा की प्राचीनता और सुव्यवस्थितता का बखान करते हैं और बताते हैं कि ऐतिहासिक ईसाई धर्म हमें अपने प्रभाव के विस्तार और सेवा के लिए कितने अवसर प्रदान करता है। यदि हमें आध्यात्मिक खानाबदोशों की भाँति दर-दर नहीं भटकना तो हमें एक माध्यम की ज़रूरत होगी। इस समय धर्म जो विश्वास कर्मकाण्ड अनुशासन और भाषा के लिहाज़ से एक है जो एक ऐसा संगठन है जहाँ जाति और राष्ट्र की बाधाएँ दूर हो जाती हैं जो एक ऐसा राज्य है जिसकी कोई सीमाएँ नहीं हैं वह सबको जन-समुदाय को अपनी ओर आकृष्ट करता है।

1 यह सन्दिग्ध है कि एक प्रधान धर्म वास्तविक [illegible] के लिए अधिक अनुकूल है या एक प्रधान पन्थ। चर्च चाहे कितना ही उत्तम क्यों न हो किन्तु वह एक शासित संगठन है जिस पर सब प्रमाण लागू हो सकते हैं। किन्तु एक असंगठित सामान्य धर्म की अपेक्षा अधिक नुकसानदेह है क्योंकि असंगठित में धर्म के जो तत्त्व निश्चित होते हैं वे [illegible] के लिए भिन्न-भिन्न अर्थ लिए जाते हैं जिनमें कोई भी आध्यात्मिक अनुभव किसी भी [illegible] वस्तु को समाविष्ट नहीं कर सकता। यह सही है कि लूथर ने व्यक्ति को धर्मग्रन्थों के [illegible] व्याख्या करने की स्वतन्त्रता दे दी थी और यह भी स्वीकार किया था कि धर्म की [illegible] में [illegible] है किन्तु लूथर के शब्दों का अर्थ यह हुआ कि [illegible] जिस रूप में वह [illegible] समझता था उसी रूप में वह इसे स्वीकार करने लगा। इस दृष्टि से कैथोलिक धर्माधिकार और प्रोटेस्टेंट धर्मग्रन्थों में कोई अन्तर नहीं है। इस बात को [illegible] निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि [illegible] [illegible] का [illegible] विश्वास का समर्थन और पुनरावृत्ति है। यह कहा जा सकता है कि लूथर [illegible] के आधुनिकतापूर्ण [illegible] की अपेक्षा मध्ययुग के [illegible] में अधिक [illegible] [illegible] जाता है।

सभी प्रकार के तर्क-विरुद्ध विचार फैशन बनते जा रहे हैं। किस्मत को बदलने वाले गण्डे-तावीजों की बिक्री, फलित ज्योतिष में दिलचस्पी और परलोक-विद्या में विश्वास ये सब सिद्ध करते हैं कि हम प्राचीन काल के मन्त्र-तन्त्र, ओझाओं और चिकित्सकों के कितना निकट हैं। कुछ क्षेत्रों में स्वयं धर्म को ही एक अन्धविश्वास में परिणत किया जा रहा है जिसके फलस्वरूप वास्तविक धर्म निष्ठा वाले व्यक्ति धर्म से परे हटते जा रहे हैं। विचित्र और नव पुण्यसम्प्रदाय जिनके प्रवर्तक केवल अपने-आपको ही दैवीय इलहाम और प्रेरणा प्राप्त करने वाला जीवित व्यक्ति मानते हैं, भोले-भाले लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर रहे हैं।

हमारे सामने प्रश्न यह है कि हम अपने ऊपर विश्वास करते हैं या नहीं। यदि हम अपने ऊपर विश्वास है तो हमें सत्य की खोज की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इसमें शर्त सिर्फ यह होनी चाहिए कि इसी प्रकार की खोज में लगे दूसरे व्यक्तियों के काम में हम हस्तक्षेप न करें। यदि हमें यह निश्चय नहीं है कि व्यक्ति अपनी तर्क-बुद्धि और अन्तःकरण के उपयोग से सत्य को खोज लेगा तो हमारे विश्वास का कोई मूल्य नहीं है। इमर्सन का कहना था, "ईश्वर हरेक व्यक्ति को यह मौका देता है कि वह सत्य और आराम में से किसी एक को चुन ले। तुम्हें जो पसन्द हो ले लो लेकिन यह नहीं हो सकता कि तुम्हें दोनों मिल जाएँ।" मनुष्य के लिए हमारे मन में जो आदर है वह हमें यह विश्वास करने की प्रेरणा देता है कि उसकी चिन्तन और आध्यात्मिक अनुसन्धान की शक्तियाँ उसके अतीत के अनुभवों के पथ-प्रदर्शन में उसे गलती और व्यामोह की ओर नहीं ले जाएँगी। यह खतरा अवश्य है कि कहीं हम स्वतन्त्र चिन्तन करते हुए गलत रास्ते पर न भटक जाएँ किन्तु जो विश्वास इस खतरे का सामना नहीं कर सकता वह सच्चा विश्वास नहीं है। राजनीति हो या धर्म, दोनों में से किसी में भी यह

[illegible] चिन्तन के सामने धार्मिक विश्वास के [illegible] विश्वास के [illegible] विशुद्ध [illegible] हमारे [illegible] है। [illegible] धार्मिक सम्प्रदाय भी [illegible] और इसी प्रकार के [illegible] के अभियुक्त हैं। [illegible] धार्मिक [illegible]

[illegible]

स्थिति नहीं है कि हम निरंकुश निरपेक्ष शासन और अराजकता एक अभ्रान्त प्रामाणिक अधिकारी सत्ता और विभ्रमपूर्ण आत्मनिष्ठ ज्ञानवाद—इन दो विकल्पों में से ही किसी एक को चुनना होगा। ये दोनों विकल्प नहीं बल्कि एक ही तन की दो धाराएँ हैं अनुभव के दो सम्पूरक पार्श्व हैं किन्तु जब उन्हें कट्टर विचारों का रूप देने की कोशिश की जाती है तो वे परस्पर-विरोधी बन जाते हैं। मानवीय प्रकृति की पूर्णता के लिए दोनों में से कोई भी अकेला पर्याप्त नहीं है। नया आप्त प्रामाण्यवादी कोई ऐसा आधार प्रस्तुत नहीं करता जिसे लोग विश्वास और आनन्द के साथ ग्रहण कर सकें। भाग्य का आवाहन करने और दूसरों को मार्ग दिखाने वालों ने हमेशा आप्त आत्मा की उपेक्षा की और उसी बात का प्रतिपादन किया जिसे उनके अन्तरतम ने सत्य समझा। हम सभी में दो आत्माएँ हैं—एक ऊपर की सतह पर और दूसरी गहरी तह के भीतर। एक गतिशील धर्म व्यक्ति को अनावृत करता है और हमारे भीतर की गहराइयों में प्रवेश करता है। उस दशा में हमारी अनुभूतियाँ रोज की दैनन्दिन अनुभूतियाँ नहीं होतीं। आप्त प्रामाण्यवादी यह कहकर हम किसी बात पर विश्वास करने के लिए प्रेरणा देते हैं कि बहुत अधिक लोग उस बात पर विश्वास करते रहे हैं। सच्चा धर्म हमें हमारी भीड़ से हटाता है और हमें पृथक व्यक्ति के रूप में स्वीकार करता है भीड़ की इकाई के रूप में नहीं। जो लोग स्वतन्त्र और व्यक्तिगत धर्म को संशय की दृष्टि से देखते हैं और उसी पर यह कहकर कट्टर सिद्धान्तों को थोपना चाहते हैं कि वे ईश्वर के दिये हुए हैं वे सत्य और स्थायित्व के हितों को जिनकी रक्षा के लिए वे अपने-आपको प्रयत्नशील बताते हैं खतरे में डालते हैं। इस प्रकार का श्रद्धा का विनाश होता है। आप्त प्रामाण्यवाद का भय अज्ञेयवाद में एक प्रकार का वार ही है आप्त प्रामाण्यवाद यह आग्रह करता है कि धर्म की मानवीय तर्कबुद्धि से रक्षा की जानी चाहिए ईश्वर का विश्वास के रंगीन चश्मे से देखना चाहिए और उसकी विचार-प्रणालियों की बहुत निकट से परीक्षा नहीं करनी चाहिए। उसके इस आग्रह से यह प्रतीत होता है कि वह अपने मन में एक प्रकार का संदेह पाल रहा है। आज के युग में जबकि सभी प्रकार के धर्मों और मतों की बारीकी से छानबीन की जाती है वह आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

सिर्फ वही लोग आप्त वचन को स्वीकार कर सकते हैं जिन्होंने सन्देह के अर्थ को ही नहीं समझा है। बहुतेरे विचारशील व्यक्ति अब भी यह आशा कर रहे हैं कि उन्हें अपने विश्वास के लिए वह आधार और प्रमाण मिल जायगा

जो परम्परागत धार्मिक सिद्धान्तों के चमत्कारों और व्याख्याओं का बहुत तोड़ने मोड़ने से भी प्राप्त नहीं हो सकता। वे लोग बाह्य प्राप्त प्रमाण से किसी भी तरह सन्तुष्ट नहीं हो सकते। आप्त प्रामाण्यवादियों का वास्तविकता के साथ पूर्ण परिचय प्रतीत नहीं होता। जॉन वाइक्लिफ और उसके अनुयायियों ने सन् १३८२ के लगभग जब बाइबिल का अंग्रेजी में अनुवाद किया तो धर्मग्रन्थों का अध्ययन केवल लैटिन जानने वालों तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि वे लोग भी उनका अध्ययन करने लगे जो अंग्रेजी जानते थे। उसके बाद की हर घटना ने इस बात पर बल दिया कि ईश्वर की दृष्टि में सब मनुष्य समान हैं और उन्हें पोप या पादरियों से निर्देश प्राप्त किये बिना अपनी इच्छा के अनुसार ईश्वर की सेवा करने का अधिकार है। भारत-जैसे पिछड़े देश में भी अब पुराना जमाना नहीं रहा जबकि पुरोहित ही आमतौर पर गाँव का एकमात्र शिक्षित व्यक्ति होता था। यहाँ अधिकाधिक संख्या में लोग अन्य धर्मों के सर्वोत्तम विचारों और विज्ञान की महान् उपलब्धियों से परिचित हो रहे हैं। बुद्धिजीवी-वर्ग आम तौर पर अधिक शिक्षित हो गए हैं और यदि पुरोहितों को उनके सम्मुख आध्यात्मिक जीवन के महत्त्वपूर्ण सत्यों की व्याख्या करनी ही है तो वह ऐसी होनी चाहिए कि उनके तर्कपूर्ण मस्तिष्क की समझ में आ सके और उनके सन्देह से आच्छन्न मन को यह समझा सके कि उन्हें जिन बातों पर विश्वास करने के लिए कहा जा रहा है वे तर्कसंगत हैं। हम सब मनुष्यों को मशीनें नहीं बना सकते धर्म में भी नहीं। किसी बात को कट्टरता के साथ स्वीकार करना भी उसी तरह एक अधीनता है जैसे किसी बात को कट्टरता से अस्वीकार करना।

६ आध्यात्मिक स्वर का अभाव

मैं पाठक को तरह-तरह के धार्मिक विश्वासों में उत्पन्न व्यामोह से भिन्न लने के उन दूसरे बहुत से उपायों का वर्णन करके थकाना नहीं चाहता जिन्हें हमारा आज का युग अपना रहा है जैसे कि अतिमानव की कल्पना नित्य जग माता की पूजा और परलोक-विद्या आदि। ईश्वर का आधुनिक मानव के मन के साथ तालमेल करने के लिए किए जा रहे विभिन्न प्रयत्न अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुए हैं। पर उनसे एक शिक्षा मिलती है कि जीवन-पद्धति में आमूल चूल परिवर्तन हो जाने नैतिक मूल्यों के बदल जाने एवं आधुनिक युग के जन्म

१ देखिए [illegible]।

मनोवैज्ञानिक कारण है। किन्तु किसी विश्वास की मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का पता लगाना उसकी प्रामाणिकता का निश्चय करना नहीं है। मनोविज्ञान का यह कहना कि वास्तविक सत्ता को हम केवल ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष ज्ञान से ही जान सकते हैं आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से नहीं एक तर्कहीन मान्यता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो हमें अपने सामने की दुनिया का जिम्मे के सविधान का या कर्तव्य के निरपेक्षत्व का जो अनुभव होता है उसे उसी स्तर पर रखा जा सकता है जिस स्तर पर कि सन्त पॉल का दमिश्क की ओर जाने वाले मार्ग पर हुए अनुभवों या सन्त ऑगस्टाइन को इटली के बगीचे में हुए अनुभवों को रखा जा सकता है। अनुभव के दौरान में यह प्रश्न नहीं उठता कि जिस वस्तु का अनुभव किया गया है वह वास्तविक है या नहीं। प्रोफेसर अलेक्जेंडर का कहना है पूजा करनेवाले को ईश्वर वैसा ही सत्य प्रतीत होता है जैसा सत्य एक सामान्य भावुकताहीन दर्शक को हरा पत्ता या सूर्य प्रतीत होता है।[1] यह देखना धर्म के दर्शन का काम है कि धार्मिक व्यक्तियों के विचार और प्रत्यय ब्रह्माण्ड के परीक्षित नियमों और सिद्धान्तों के साथ समरस हैं या नहीं।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि विज्ञान द्वारा औचित्य-स्थापन किये गए मनोवैज्ञानिक अनुभव सभी प्रेक्षकों के लिए न्यूनाधिक एक-जैसे होते हैं किन्तु धर्म के दर्शन के मूल तथ्य अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अलग-अलग और परस्पर विरोधी होते हैं। पत्थर सभी के लिए कठोर है और आकाश सभी के लिए नीला है किन्तु ईश्वर बुद्ध की दृष्टि में बुद्ध है और कृष्ण की दृष्टि में ईसा। इस अन्तर का यह अर्थ है कि धर्म के तथ्य अधिक जटिल हैं और उनके और अधिक निकट अध्ययन की आवश्यकता है। जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञानों में हम अपने ऐन्द्रियक अनुभवों को निश्चित शब्दों में व्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार धर्म का दर्शन हमारे धार्मिक अनुभवों द्वारा संकेतित विश्व को निश्चित आकार प्रदान करने का प्रयत्न करता है। इस बात का कोई कारण नहीं कि ठोस भावात्मक विज्ञानों के क्षेत्र में जो पद्धतियाँ और प्रणालियाँ इतनी सफलता के साथ कार्यकारी हो चुकी हैं उनसे भिन्न प्रणालियों और भिन्न भावना से अन्तिम वास्तविक सत्ता के सम्बन्ध में मानवीय आत्मा के अन्तर्दर्शनों की परीक्षा की जाए। जब हम भौतिक पदार्थ जीवन या मन का जिक्र करते हैं तो हमारा

[1] हिबर्ट जर्नल जनवरी, १९१२ पृष्ठ २५१।

प्रथम सत्ता है और वह धार्मिक अनुभव का विषय तभी बन सकता है जब कि हम धार्मिक दर्शन से शुरुआत करें।[1] विचार का कोई ऐसा पदार्थ जिसका तथ्य के रूप में कोई आधार नहीं है अनुभूत निश्चित वस्तु नहीं हो सकता। केवल तर्क के आधार पर कोई स्थायी प्रत्यय नहीं बनाया जा सकता। परिकल्पित अनुमानाश्रित दर्शनशास्त्र ईश्वर की एक सम्भावना के रूप में कल्पना कर सकता है ईश्वर को वास्तविक तथ्य का रूप तो धर्म ही देता है।

दूसरी ओर कट्टर सैद्धान्तिक धार्मिक दर्शनशास्त्र में दार्शनिक अपने-आपको केवल परम्परागत सिद्धान्त का जो अन्तःप्रेरणा या अन्तःस्फुरण द्वारा सीधा ईश्वर से प्राप्त माना जाता है प्रतिपादक मानता है और उसका काम सिर्फ इतना ही रह जाता है कि इस सिद्धान्त में यदि कहीं कोई विरोध नजर आए तो उसे दूर कर दे। वह कुछ तथ्यों के समूह पर अपने सब तर्कों को प्रतिष्ठित करता है और वास्तविकता के उन तत्त्वों की उपेक्षा कर देता है जिन्हें उसकी तर्क प्रणाली स्वीकार नहीं करती। एक निश्चित सीमा के भीतर कट्टर धार्मिक दर्शनशास्त्री को धार्मिक सिद्धान्तों की व्याख्या करने और उनके फलितार्थ को स्पष्ट करने के लिए स्वाधीनता दी जाती है किन्तु उसके निष्कर्ष हमेशा उन सिद्धान्तों के अनुकूल होने चाहिए। यद्यपि उसकी पद्धति और प्रणाली का चुनाव उसकी इच्छा पर निर्भर होता है किन्तु उसके निष्कर्ष उसके यथेच्छ चयन पर निर्भर नहीं होते।

धार्मिक दर्शन जो कट्टर धार्मिक दर्शनशास्त्र से भिन्न चीज है किसी प्रकार का सीमित आधार मानने को तैयार नहीं है बल्कि वह जिस अनुभव को अपना आधार बनाता है वह उतना ही व्यापक है जितनी कि मानव प्रकृति। वह परिकल्पित (अनुमानाश्रित) धार्मिक दर्शनशास्त्र के प्रागनुभव के पक्ष और कट्टर सैद्धान्तिक दर्शनशास्त्र की आप्तप्रमाणात्मक प्रणाली दोनों को अस्वीकार करता है और धार्मिक अनुभव के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाता है और सभी लोगों की चाहे वे किसी धर्म को मानते हों या न मानते हों आध्यात्मिक विरासत की पूर्ण निष्पक्षता से परीक्षा करता है। धार्मिक चेतना के दावों और उनकी अन्त-

१ कान्ट कहता है 'पूर्णतम ब्रह्मवाद भी क्या सिद्ध करता है? क्या यह सिद्ध करता है कि एक ऐसी बुद्धियुक्त सत्ता है? नहीं। यह सिर्फ यही सिद्ध करता है कि अपनी सीमात्मक मानसिक शक्ति की रचना के अनुसार हम अपने इस संसार जैसे किसी संसार की सम्भावना की कोई व्याख्या तब तक नहीं कर सकते जब तक कि हम यह न मान लें कि एक ऐसा सर्वोच्च प्रथम कारण (कर्ता) है जो सोच-समझकर निश्चित उद्देश्य के लिए कार्य करता है।' (क्रिटीक ऑफ जजमेंट, बर्नार्ड का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ १११)।

वस्तु की इस प्रकार की परीक्षा में जिसके पीछे मानव के समूचे आध्यात्मिक इतिहास की पृष्ठभूमि है, एक ऐसी आध्यात्मिक प्रत्ययवाद की सम्भावना निहित है जो एक ओर वैज्ञानिक प्राकृतिकवाद की विघटनकारी शक्तियों का विरोधी है और दूसरी ओर धार्मिक कट्टरवाद का।

२ धर्म का सार

भावना संवेग और भाव नैसर्गिक वृत्ति पूजा और कर्मकाण्ड प्रत्यक्षानुभव और विश्वास इन सबको धर्म कहा जाता रहा है और अपने भावात्मक अर्थ में ये सब विचार ठीक भी हैं हालांकि अपने अभावात्मक या निषेधात्मक अर्थ में वे गलत हैं। ये विचार जहाँ किसी वस्तु को धर्म कहते हैं वहाँ तक व सही हैं किन्तु जहाँ वे अपने सिवाय बाकी सबको अधर्म कहते हैं वहाँ ये सही नहीं हैं। उदाहरणार्थ मार्गन का यह कथन गलत नहीं है कि धार्मिक चेतना में भावना का तत्त्व प्रधान रूप में होता है किन्तु धार्मिक भावना किसी भी अन्य प्रकार की भावना से भिन्न होती है। पशुओं की तरह पर-निर्भरता की अनुभूति को भी धर्म नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस दशा में हेगल यह कह सकता था कि श्लाइरमाखर का कुत्ता अपने मालिक से अधिक धार्मिक होगा। यदि हम काण्ट की भाँति धार्मिक अनुभव और नैतिक चेतना को एक समान मान कर लें तो उसका अर्थ यह होगा कि हम इन दोनों क्रियाओं के स्पष्टतः भिन्न-भिन्न लक्षणों की उपेक्षा करते हैं। धर्म केवल नैतिक मूल्यों की चेतना ही नहीं है। उसमें कुछ रहस्यात्मक तत्त्व है वास्तविक सत्ता का एक निरपेक्ष भाव और उसका निरपेक्ष आनन्द है जो नैतिक चेतना में नहीं होता। धर्म ज्ञान का ही एक प्रकार नहीं है जैसा कि हेगल कभी-कभी कहा करता था। यद्यपि धर्म का अन्तर्निहित अर्थ ब्रह्माण्ड की एक दार्शनिक दृष्टि है किन्तु इस तात्त्विक दृष्टि और दर्शनशास्त्र में भेद है।

जब प्रोफेसर ह्वाइटहैड धर्म की यह परिभाषा करते हैं कि "धर्म वह क्रिया है जो व्यक्ति अपनी एकान्तता के साथ करता है"[1] तो उनका अभिप्राय यह होता है कि मनुष्य केवल सामाजिक प्राणी नहीं है। धर्म न तो मौजूदा सामाजिक व्यवस्था के लिए कोई रक्षात्मक कवच है और न वह सामाजिक कार्य के लिए एक साधन है। वह मानव जीवन की आदर्श सम्भावनाओं की प्राप्ति का एक प्रयत्न है जो जैव अहंकारपूर्ण और सहज मनोभावनाओं के अव्यवस्थित दबाव से मुक्ति के

[1] रिलिजन इन दि मेकिंग (१९२६), पृ॰ १।

लिए एक साधना है। धर्म जब तक परम्परागत विचार का पल्ला छोड़कर व्यक्तिगत अनुभव नहीं बनता तब तक वह सच्चा धर्म नहीं है। यह मानवीय मन की एक स्वतन्त्र क्रिया है जो सर्वथा पृथक और असाधारण है और जिसका एक स्वतन्त्र रूप है। यह एक आभ्यन्तर और व्यक्तिगत चीज है जो सब मूल्यों का एकीकरण और सब अनुभवों का संघटन करती है।[1] यह समग्र यथार्थ सत्ता के प्रति समग्र मानव की प्रतिक्रिया है। हम धार्मिक विषय (वस्तु) को अपनी समग्र मनःशक्तियों और ऊर्जाओं से खोजते हैं। समग्र मानव की यह क्रिया आध्यात्मिक जीवन कही जा सकती है जो मात्र बौद्धिक या नैतिक या सौन्दर्यबोधात्मक क्रिया या इन सबके सम्मिश्रण से एक सर्वथा भिन्न क्रिया है। आध्यात्मिक अनुभूति वास्तविक सत्ता को पाने की नैसर्गिक वृत्ति तब तक सन्तुष्ट नहीं होती जब तक कि उसे पूर्ण और नित्य की प्राप्ति न हो जाए। अनित्य की अनित्यता और क्षणिक की क्षणिकता के प्रति उसमें एक दुर्निवार असन्तोष है। इस प्रकार के अबाध्य और अविकल्प अन्तर्दृष्टि ही धर्म के लिए हमारे आप्त प्रमाण हैं। वे एक ऐसी सत्ता को प्रकट करते हैं जो उनके द्वारा अपने-आपको हम पर अभिव्यक्त करती है और नित्य से कम किसी भी वस्तु के लिए हमारे भीतर असन्तोष पैदा करती है।

१ ईश्वर का व्यक्तिगत अनुभव :

सभी धर्मों के प्रेरणा-स्रोत उनके प्रवर्तक संस्थापकों की व्यक्तिगत अन्तर्दृष्टियाँ हैं। उदाहरण के लिए हिन्दू धर्म की विशेषता यह है कि वह तथ्यों पर निर्भर करता है। जो भी हो कम-से-कम अपने शुद्ध रूप में उसने आप्त प्रमाण पर उतना अधिक निर्भर नहीं किया जितना कि अन्य धर्म करते हैं। यह कोई 'संस्थापित' धर्म नहीं है और न वह किन्हीं ऐतिहासिक घटनाओं पर केन्द्रित है। इसकी विशेषता यह रही है कि इसने आत्मा के आन्तरिक जीवन पर बल दिया

१ जब दर्शन धर्म को अनुभव का एक स्वतन्त्र रूप मानने से इन्कार करता है और उसे दर्शन का ही एक अपरिपक्व और अस्पष्ट समन्वय-रूप मानता है और जब जनसाधारण उसे सिर्फ एक नीति का मंडन मानता है, भले ही यह मंडन हमारे आध्यात्मिक विकास में आवश्यक हो तो वे ईश्वर का आत्मिक और आत्मानुभव अवस्थाओं का ही विरोध करते हैं। जिस ईश्वर की महानता के सामने हम अपने-आपको लघु समझते हैं या जिसके प्रेम के सम्मुख हम आत्मसमर्पण कर देते हैं वह प्रत्यक्ष नित्य और व्यापी है और मनुष्य के भीतर अनुभवगम्य आत्मा के रूप में विद्यमान है।

है। हिन्दू धर्म का उद्देश्य हमेशा यह रहा है कि हम भौतिक देह के भीतर विद्यमान आत्मा को जाना जाए, धारण किया जाए और स्वयं आत्मस्वरूप हुआ जाए, एक अस्पष्ट और तमसावृत मन्द मनोवृत्ति को स्पष्ट आध्यात्मिक ज्योति में परिवर्तित किया जाए, सर्वेमात्मक सुखों और दुःखों के बीच में रहते हुए उनसे मुक्त स्वतः सत् मुक्ति प्राप्त की जाए और व्याधि एवं मृत्यु के अधीन शरीर के भीतर दैवीय जीवन की खोज और प्राप्ति की जाए। हिन्दू लोग वैदिक युग को अपने संस्थापकों का युग मानते हैं। वेद अर्थात् ज्ञान मानवीय मन द्वारा अब उच्चतम आध्यात्मिक सत्य का सर्वस्वीकृत नाम है। यह ऋषियों की रचना है। ऋषियों के द्वारा दिये गए सत्य किसी तर्क या ऊहापोह के या किसी विधिवत् निर्धारित दार्शनिक विवेचन के परिणाम नहीं हैं, वे आध्यात्मिक दृष्टि के परिणाम हैं। ऋषि वेदों में उल्लिखित सत्यों के रचयिता नहीं हैं, बल्कि वे द्रष्टा हैं, उन्होंने अपनी अन्तरात्मा को विश्व आत्मा के स्तर तक ऊँचा उठाकर नित्य और शाश्वत सत्यों का उपलम्भ किया है। वे परमात्मा के क्षेत्र में सबसे परम अनुसन्धानकर्ता हैं जिन्होंने संसार में उनसे अधिक वस्तु के दर्शन किये जितने कि उनके साथियों ने किये थे। उनके वचन क्षणिक दृष्टि पर आधृत नहीं हैं, बल्कि स्थायी जीवन और शक्ति के अनवरत अनुभव के परिणाम हैं। जब हम यह कहते हैं कि वेद ही सर्वोत्तम प्रमाण हैं, तो उसका अभिप्राय सिर्फ यह होता है कि तथ्यों का प्रामाण्य ही सब प्रमाणों का भी प्रमाण है।

यदि अनुभव धर्म की आत्मा है, तो उसकी शब्दों में अभिव्यक्ति उसका शरीर है, जिसके द्वारा वह अपने लक्ष्य को पूरा करता है। इस प्रकार हमारे पास तथ्य हैं और उनकी व्याख्याएँ भी हैं, जिनके द्वारा वे दूसरों तक पहुँचते हैं, अर्थात् श्रुति और स्मृति। शंकर ने इन्हें क्रमशः प्रत्यक्ष और अनुमान की संज्ञा दी है। इन्हें क्रमशः अव्यवहित ज्ञान और विचार भी कहा जा सकता है। अव्यवहित अन्तर्ज्ञान चिरस्थायी होते हैं और उनकी व्याख्याएँ बदलती रहती हैं। श्रुति और स्मृति में अन्तर यह है कि उनमें से एक तथ्य वचन है और दूसरी व्याख्या। सामान्यतः विज्ञान परिकल्पना और धार्मिक सिद्धान्त ये सभी सत्यों की जानकारी बढ़ने के साथ-साथ समय-समय पर बदलते रहते हैं। इसका मूल्य इस बात पर निर्भर है कि सत्ता के अनुभव की दृष्टि से पर्याप्त हैं। जब मूल धारणाएँ शिथिल हो जाती हैं और उनकी व्याख्याओं पर सन्देह होने लगता है तब यह आवश्यक हो जाता है कि हम फिर स्वयं अनुभव की ओर लौट जाएँ और उसकी विषय-वस्तु

को अधिक उपयुक्त भाषा में व्यक्त किया जाय। यद्यपि धर्म के अनुभवात्मक स्वरूप पर सबसे अधिक बल हिन्दू धर्म में दिया जाता है, तथापि हरएक धर्म ही अपनी उच्चतम स्थिति में अनुभव का आश्रय लेता है।

बौद्ध-धर्म की सारी प्रणाली बुद्ध के बोधोन्म पर केन्द्रित है। मूसा ने भी जलती हुई झाड़ी में ईश्वर को देखा था और एलिजा ने दिव्य अनाहत शब्द को सुना था। जेरेमिया में हम पढ़ते हैं 'भगवान् कहते हैं कि उन दिनों की समाप्ति पर मैं इसराइल के घराने के साथ यह करार करूंगा। मैं उनके अन्तर्भागों में हाथ डालूंगा और उनके हृदय-पटल पर इसे लिख दूंगा।'[१] ईसा का ईश्वरानुभव ईसाई धर्म का बुनियादी तथ्य है। जब वह नदी से बाहर आया तो उसने अपने ऊपर आकाश को फटते और कबूतर की तरह परमात्मा को उसके भीतर से नीचे उतरते हुए देखा। और उसने एक आकाशवाणी सुनी—तू मेरा प्रिय पुत्र है। मैंने तुझे चुना है। सन्त मार्क के अनुसार यर्दन में जॉन द्वारा बप्तिस्मा देना ईसा के लिए इस हद तक एक स्पष्ट और गहरे धार्मिक अनुभव का अवसर था कि उसने अनुभव किया कि उसे उस पर विचार करने के लिए कुछ समय के लिए एकान्त में जाना पड़ेगा। यह जाहिर है कि उस अनिर्वचनीय घटना का उस आकस्मिक रहस्योद्घाटन को उस नयी शान्ति और आनन्द को उतना उन शब्दों में व्यक्त किया जो बाइबिल के द्वारा हम तक पहुंचे हैं। उसने इस बात पर बल दिया कि उसकी आत्मा का नया पुनर्जन्म हुआ है और इस पुनर्जात आत्मा की नवीनता उसे उन सब लोगों से एकदम अलग कर देती है जो आत्मानुभव के बजाय परकीय अनुभव से धार्मिक बने हैं। मैं तुमसे सच कहता हूं कि स्त्री की कोख से पैदा हुए मनुष्यों में बप्तिस्मा करने वाले जॉन से बड़ा कोई नहीं हुआ। किन्तु ईश्वर के राज्य में छोटे-से-छोटा आदमी भी उससे बड़ा है।[२] दमिश्क के रास्ते पर सन्त पॉल ने ईश्वर का जो दर्शन किया और जिसने एक अत्याचारी को धर्मोपदेष्टा बना दिया वह इसका दूसरा उदाहरण है। सन्त जेम्स के धर्मोपदेश में धार्मिक विश्वास का अर्थ है धर्मग्रन्थ के वचनों को मानना। सन्त पॉल की दृष्टि में धार्मिक विश्वास का अर्थ है ईसा के सम्मुख हृदय और मन का समर्पण। किन्तु हबरानी

१ XXXI ३० ।
मार्क 1 १ ।
२ मैथ्यू XI ११ भी देखिए।

विलय हो जाता है। जीवन को अपनी अविश्वसनीय रूप से अतल गहराइयों का ज्ञान होता है। अनुभूत जीवन और स्वतन्त्रता की इस पूर्णता में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है। एक विश्व-आत्मा की सत्ता व्यक्ति की आत्मा का भेदकर उसके भीतर प्रवेश करती है और व्यक्ति उसके साथ तादात्म्य अनुभव करता है।

अनुभव स्वयं उस समय पर्याप्त और पूर्ण होता है। वह अपूर्ण खण्डित या अविकसित नहीं होता कि उसे अपनी पूर्णता के लिए किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा हो। अनुभव को अपने अर्थ और प्रामाणिकता के लिए अपने से बाहर किसी की अपेक्षा नहीं होती। वह तर्कशास्त्र या दर्शनशास्त्र के बाह्य पैमानों से अपने-आपको नहीं नापता। वह अपना कारण और अपनी व्याख्या स्वयं ही है। वह स्वयं पूर्ण और स्वतःप्रमाण है। वह स्वतःसिद्ध स्वसंवेद्य और स्वयंप्रकाश है। वह तर्क नहीं करता व्याख्या नहीं करता वह केवल चित्स्वरूप और सत्स्वरूप है अर्थात् वह 'जानता है' और 'विद्यमान है'। वह प्रमाणापेक्ष नहीं है इसलिए पूर्णत्व की सीमा को स्पर्श करता है। वह इतना प्रबल होता है कि उसका खण्डन नहीं किया जा सकता। वह विशुद्ध सम्बोध है सम्पूर्ण अर्थ है और पूर्ण प्रमाण है। योगसूत्र के प्रणेता पतंजलि के अनुसार प्रज्ञा सत्य से भरी हुई या सत्य को धारण करने वाली है।[1]

ईश्वर के इस साक्षात्कार में सामान्य जीवन की अशान्ति लुप्त हो जाती है और एक आन्तरिक शान्ति आन्तरिक बल और वास्तविक आनन्द की उपलब्धि होती है। ग्रीक लोग इसे 'ऐटारैक्सी' कहते हैं, किन्तु यह शब्द हिन्दू दर्शन के 'शान्ति' शब्द की तुलना में अधिक अभावात्मक प्रतीत होता है। हिन्दुओं के 'शान्ति' शब्द का अर्थ बाह्य पीड़ा और निराशा हानि और उद्वेग के बीच शान्ति और विश्वास आनन्द और शक्ति की एक ठोस भावात्मक अनुभूति है।

१ 'इस मूर्ति का प्रमाण कोई तर्क नहीं है। यह तर्क से परिचित है यह तर्क से पहले है और तर्क के बाद भी है और वह स्वयं वस्तु भी है। चाहे सम्भवतः हमें यहाँ यह दृश्य का उल्लेख नहीं करना चाहिए क्योंकि यदि हमें द्रष्टा और दृश्य को अभिन्न न मानकर उनमें भेद करना हो तो ... द्रष्टा दृश्य को ठीक-ठीक विभक्त नहीं करता वह उसे दूसरी वस्तु की भाँति नहीं रखता। इसलिए यह दृश्य अनिर्वचनीय है क्योंकि कोई भी व्यक्ति किसी भी दृश्य वस्तु को जिसे उसने पृथक् रूप में न देखकर अपने साथ अभिन्न रूप में देखा है अपने से अलग के रूप में कैसे वर्णन कर सकता है?' (प्लौटिनस, VI ९ और १०)। ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा (योग सूत्र, १-४८)।

आध्यात्मिक अनुभव ईश्वर के साथ हमारा सीधा सम्पर्क स्थापित करता है अपने-आपमें एक व्याख्या है अव्यवहित अनुभव नहीं है। बुद्ध हमें अनुभव का विवरण देता है उसकी व्याख्या नहीं करता हालाँकि ठीक-ठीक देखा जाए तो ऐसा कोई भी अनुभव नहीं है जिसकी हम व्याख्या न करते हों। अन्तर केवल मात्रा का है। किन्तु बुद्ध अव्यवहित अनुभव के सबसे अधिक निकट है, वह सिर्फ इतना कहकर ही सन्तोष कर लेता है कि एक गहरा आध्यात्मिक जगत् दृश्य और स्पृश्य जगत् में अन्तःप्रविष्ट हो जाता है। इस प्रकार का आध्यात्मिक जगत् जो पूर्ण अन्तर्ज्ञान के शास्त्र में प्रमाणित है, बाहुल्य और परिवर्तन के जगत् से जिसे इन्द्रियाँ और मनबोध हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं परे नहीं बल्कि उसके भीतर ही विद्यमान है। मूल सत्ता एक ऐसी निरुपाधिक सत्ता है जिसकी विचार के द्वारा पूर्णतः अभिव्यक्ति और प्रतीकों के द्वारा द्वारा पूर्णतः वर्णन नहीं किया जा सकता जिसमें 'सत्ता' शब्द भी अर्थहीन हो जाता है, केवल 'निर्वाण' शब्द ही सार्थक रह जाता है। जब बुद्ध से यह प्रश्न किया गया कि वह उसे ठोस भावात्मक रूप में प्रस्तुत करें तो उसने उसे नित्य धर्म का नाम दिया जो ब्रह्माण्ड का मूल सिद्धान्त और समस्त व्यवहार का आधार है। इस धर्म के कारण ही जीवन के महत्त्व पर हमारा विश्वास जमता है।

हिन्दू दार्शनिक इस अनुभव की अनिर्वचनीयता को स्वीकार करते हैं किन्तु वे उसकी व्याख्या करते हुए उसे भाषा के अनुसार 'अत्यन्त अनैयक्तिक' से 'अत्यन्त वैयक्तिक' तक अनेक श्रेणियों में बाँटते हैं। व्याख्या की पूर्ण स्वतन्त्रता ही हिन्दू धर्म की उदारता का मुख्य कारण है। हिन्दू-परम्परा की उदारता और व्यापकता के कारण ही ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें विभिन्न प्रकार की धार्मिक अवधारणाओं को स्थान प्राप्त है।

हिन्दू विचारधारा यह स्वीकार करती है कि इस अनुभव की निर्विकार अन्तर्वस्तु तत् है जिसके बारे में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। आध्यात्मिक अनुभव जितना गहरा और जितना घनिष्ठ होगा उतना ही वह चिह्नों और प्रतीकों से मुक्त होगा। गहरा अन्तर्ज्ञान सर्वथा मौन होता है। मौन के द्वारा हम 'बिना स्वीकार किए स्वीकार करते हैं' कि आध्यात्मिक जीवन की महत्ता अवर्णनीय है वह मन और वचन की पहुँच से बाहर है। यह एक अथाह गहरा रहस्य

१ लेखक की पुस्तक 'इण्डियन फिलासफी' खंड द्वितीय संस्करण (१९३१) का परिशिष्ट देखिए।

है और शब्द उसका वर्णन करने में धोखा दे जाते हैं।

अनुभवाश्रित अवधारणा अपने क्षेत्र में बिलकुल ठीक है, किन्तु उसे हम अपनी बुनियाद की, जिसे मानव की अन्य शक्तियों के साथ वह स्वतःसिद्ध स्वीकार करती है, आलोचना नहीं करने दे सकते। सर्वोच्च सत्ता ज्ञान की क्रिया का विषय या कर्म नहीं है, वह स्वयं ज्ञानमय है, उसके बिना ज्ञान नहीं हो सकता। यद्यपि बुद्ध की दृष्टि में जिसका झुकाव नैतिकता की ओर था, नित्य आत्मा 'धर्म' है जिसकी शक्ति में हम जीते और संघर्ष करते हैं, किन्तु अनेक हिन्दू विचारकों की दृष्टि में वह ज्ञानमय है। वह नित्य प्रकाश है जो दृश्य वस्तु नहीं दर्शन-स्वरूप है। सत्ता की अन्तिम स्थिति जिसमें सब भेद और द्वैत नष्ट हो जाते हैं, जहाँ जीवन और मरण का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, क्योंकि वे उसमें उत्पन्न होते हैं, जहाँ आत्मा आत्मत्व के आनन्द का उपभोग करती है, जहाँ तर्क कोई विक्षोभ और चंचलता पैदा नहीं करता, अभावात्मक रूप में ही अभिव्यक्त की जा सकती है। उपनिषद् और शंकर परम सत्ता को अभावात्मक रूप में प्रकट करने का यत्न करते हैं। 'न वहाँ चक्षु पहुँचता है, न वाक् और न मन।'[1]

इन अभावात्मक वर्णनों में एक खतरा है। समस्त गुणों और सम्बन्धों

1 प्लूटार्क ने मिस्र के सैस नगर में [illegible] की मूर्ति पर लिखा लेख हमारे लिए सुरक्षित रखा है, जो इस प्रकार है: 'मैं समस्त भूत, वर्तमान और भविष्य हूँ और कोई भी मर्त्य [illegible] मेरे ऊपर से पर्दा नहीं उठा सका।' [illegible] (१९[illegible]) में कहा है: [illegible] के लिए सर्वोच्च सत्ता के बारे में [illegible]। [illegible]

[illegible]

कहा है उनकी व्याख्या उनके प्रत्यक्ष शाब्दिक अर्थ द्वारा नहीं बल्कि उनके अन्तर्निहित गूढ़ अर्थ में की जाती है। पवित्र धर्मग्रन्थों की तार्किक आलोचना और छान-बीन का बहुत-कुछ कारण प्रतीकात्मक कथनों और शाब्दिक अर्थों का आपस में गड़बड़ा देना है। यह सिद्ध करना आसान है कि संसार सात दिनों में नहीं बना था या हव्वा आदम की पसलियों से नहीं बनायी गई थी। जो कुछ धर्मग्रन्थों में कहा जाता है वह वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य नहीं होता उसका अन्तर्निहित अर्थ भिन्न होता है।

१ अनुभव और विभिन्न अभिव्यक्तियाँ

यदि हमारे सब अनुभव तत्काल पर्याप्त अन्तर्दर्शनात्मक हों तो उन अन्तर्निहित अन्तर्दर्शनों पर किसी भी परिस्थिति में सन्देह नहीं किया जा सकता किन्तु क्योंकि हमें अपने अन्तर्दर्शनात्मक अनुभवों का दूसरों के साथ सम्बन्ध जोड़ना होता है इसलिए हमें सूत्रों और प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ता है। उन अनुभवों को ठोस रूप देने और उनका मूल्यांकन करने का मकाम्यात्मक कार्य करना अनिवार्य होता है। अपने अनुभवों को दूसरों तक पहुँचाने और अपने शेष जीवन के लिए उनके अन्तर्निहित अर्थ को स्पष्ट करने और विरोधी आलोचनाओं से उनकी प्रामाणिकता की रक्षा करने के लिए एकमात्र तर्क का ही आश्रय लेना पड़ता है। जब हम इस अनुभव की सचाई के दावे की परीक्षा करते हैं तो हम वास्तव में उन आकारों और प्रतीकों के दावे की परीक्षा करते हैं जिनमें कि यह अनुभव अभिव्यक्त होता है। ऋषियों के कथनों में हमें मूल कथनों और उनकी व्याख्याओं में भेद करना चाहिए। यह भी हो सकता है कि जिसे हम प्रत्यक्ष अव्यवहित अनुभव समझते हैं वह अनुमान का परिणाम हो। अव्यवहितता का अर्थ मानसिक व्यवधान का अभाव नहीं है बल्कि उसका अर्थ सचेतन विचार के व्यवधान का अभाव है। जो सहज प्रत्यय किसी ज्ञात बौद्धिक प्रक्रिया के व्यवधान के बिना हमें प्राप्त होते हैं, वे प्रायः अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में हमें दिये गए प्रशिक्षण और अभ्यास के परिणाम होते हैं। हमारा अतीत अनुभव हमें मूल सामग्री उपलब्ध कराता है और नयी अन्तर्दृष्टि उसे नया अर्थ प्रदान करती है। जब हमसे यह कहा जाता है कि आत्माओं ने कृष्ण या बुद्ध ईसा या मुहम्मद की मुक्तिदायक शक्ति अपने जीवनों में अनुभव की है तो हमें उन आत्माओं के अव्यवहित अनुभव या अन्तर्दर्शन में जो अभ्रान्त हो सकता है और उसके साथ मिली हुई उसकी व्याख्या में

भेद और विवेक करना चाहिए। सन्त टेरेसा का कहना है कि अपने अनुभव के बाद वह त्रैत (त्रिनिटी) को समझने लग गई। यदि उसे त्रैत के सम्बन्ध में पहले से कोई ज्ञान न होता तो अवश्य ही वह उस साक्षात्कार को त्रैत का साक्षात्कार कभी न समझ पाती। इसी प्रकार यदि पाल को ईसा के बारे में कुछ ज्ञान न होता तो दमिश्क के मार्ग पर उसने जो वाणी सुनी उसे वह ईसा की वाणी कभी न समझ पाता। हमें धर्म के सरल तथ्यों और उन वर्णनों में अवश्य भेद करना चाहिए जो धर्मशास्त्रों की पूर्व-अवधारणाओं के द्वारा हम तक पहुँचते हैं। आत्मा का अपने निज के सामान्य 'स्व' से भिन्न फिर भी अपने भीतर विद्यमान एक विराट् आध्यात्मिक शक्ति के साथ सम्पर्क और उस सम्पर्क से एक नये 'स्व' के जन्म का प्रारम्भ एक तथ्य है किन्तु इस शक्ति का बुद्ध या ईसा जैसे ऐतिहासिक व्यक्तियों के साथ तादात्म्य और अपने भीतर विद्यमान विश्व-आत्मा की सरल और सीधी-सादी अभिव्यक्ति को बाहर से होने वाली एक नाटकीय अभिव्यक्ति के साथ गड़बड़ा देना एक व्याख्या है जो एक व्यक्तिगत स्वीकृति भले ही हो किन्तु उसका वस्तुनिष्ठ सत्य होना आवश्यक नहीं है। ज्ञाता को सीधा कुछ अनुभव होता है किन्तु वह उन परम्पराओं की भाषा में जिनका उसे प्रशिक्षण मिला होता है उसकी व्याख्या करता है। हर व्यक्ति जिन चीजों के उल्लेख के द्वारा इस अनुभव की व्याख्या करता है वे इस बात पर निर्भर हैं कि किस समाज में उसका जन्म हुआ और किस संस्कृति में वह बढ़ा।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि विशुद्ध और निरपेक्ष अनुभव जैसी कोई चीज नहीं है। अनुभव हमेशा व्याख्याओं की शर्तों से मिला रहता है। जिसे हम प्रत्ययविहीन अन्तर्दर्शन कहते हैं उसमें मन का व्यवधान रहता है। धार्मिक ग्रन्थों के वचन हमें ज्ञान या व्याख्यान अनुभव एक 'तत्-सत्' प्रदान करते हैं। इसमें 'तत्' सिर्फ एक तथ्य का एक स्वनोभावी आध्यात्मिक अनुभव का वचन है जिसमें सब भेद मिट जाते हैं और व्यक्ति समष्टि या समग्र पूर्ण में विलीन होकर तद्रूप हो जाता है। यह अनुभव अवर्णनीय होने पर भी वास्तविक होता है।

संसार के धार्मिक उपदेष्टाओं में बुद्ध ही एक ऐसा व्यक्ति था जिसने आध्यात्मिक अनुभव की वास्तविकता को स्वीकार करते हुए भी किसी अनुभवातीत वस्तु से उसकी व्याख्या करने से इन्कार किया। उसकी दृष्टि में यह विचार कि

१ एवलिन अण्डरहिल मिस्टिसिज्म पृष्ठ १३१ बारहवां संस्करण।

आध्यात्मिक अनुभव ईश्वर के साथ हमारा सीधा सम्पर्क स्थापित करता है अपने-आपमें एक व्याख्या है अव्यवहित अनुभव नहीं है। बुद्ध हमें अनुभव का विवरण देता है उसकी व्याख्या नहीं करता हालांकि ठीक-ठीक देखा जाए तो ऐसा कोई भी अनुभव नहीं है जिसकी हम व्याख्या न करते हों। अन्तर केवल मात्रा का है। किन्तु बुद्ध अव्यवहित अनुभव के सबसे अधिक निकट है, वह सिर्फ इतना कहकर ही सन्तोष कर लेता है कि एक गहरा आध्यात्मिक जगत् दृश्य और स्पृश्य जगत् में अन्तःप्रविष्ट हो जाता है। इस प्रकार का आध्यात्मिक जगत्, जो पूर्ण अन्तर्ज्ञान के साक्ष्य से प्रमाणित है बहुत्व और परिवर्तन के जगत् से जिसे इन्द्रियाँ और अवबोध हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं परे बल्कि उसके भीतर ही विद्यमान है। मूल सत्ता एक ऐसी निरुपाधिक सत्ता है जिसकी विचार के द्वारा पूर्णत: अभि-व्यक्ति और प्रतीकों के द्वारा द्वारा पूर्णत: वर्णन नहीं किया जा सकता जिसमें 'सत्ता' शब्द भी अर्थहीन हो जाता है केवल 'निर्वाण' शब्द ही सार्थक रह जाता है। जब बुद्ध से यह प्रश्न किया गया कि वह उसे ठोस भावात्मक रूप में प्रस्तुत करें तो उसने उसे नित्य धर्म का नाम दिया जो ब्रह्माण्ड का मूल सिद्धान्त और समस्त व्यवहार का आधार है।[1] इस धर्म के कारण ही जीवन के महत्त्व पर हमारा विश्वास जमता है।

हिन्दू दार्शनिक इस अनुभव की अनिर्वचनीयता को स्वीकार करते हैं किन्तु वे उसकी व्याख्या करते हुए उसे मात्रा के अनुसार 'अत्यन्त अवैयक्तिक' से 'अत्यन्त वैयक्तिक' तक अनेक श्रेणियों में बाँटते हैं। व्याख्या की पूर्ण स्वतन्त्रता ही हिन्दू धर्म की उदारता का मुख्य कारण है। हिन्दू-परम्परा की उदारता और व्यापकता के कारण ही ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें विभिन्न प्रकार की धार्मिक अवधारणाओं को स्थान प्राप्त है।

हिन्दू विचारधारा यह स्वीकार करती है कि इस अनुभव की निर्विवाद अन्तर्वस्तु 'सत्' है जिसके बारे में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। आध्यात्मिक अनुभव जितना गहरा और जितना घनिष्ठ होगा उतना ही वह चिह्नों और प्रतीकों से मुक्त होगा। गहरा अन्तर्ज्ञान सर्वथा मौन होता है। मौन के द्वारा हम 'बिना स्वीकार किये स्वीकार करते हैं' कि आध्यात्मिक जीवन की महत्ता अवर्ण्य मौन है, वह मन और वचन की पहुँच से बाहर है। वह एक अथाह गहरा रहस्य

१ लेखक का पुस्तक 'इंडियन फिलासफी' खंड १ द्वितीय संस्करण (१९२९) का परिशिष्ट देखिए।

का प्रतिषेध करके हम अपने-आपको इस आरोप का पात्र बनाते हैं कि हमने परम सत्ता को एक ऐसी सत्ता में परिणत कर दिया है जो पूर्ण शून्य या अभाव मात्र है। अभावात्मक वर्णन का उद्देश्य वास्तव में आत्मा की इस अनुभूति को प्रकट करना है कि ईश्वर सामान्य मानवीय ज्ञान से परे है वह परात्पर है, वह ऐसी सत्ता है जिसके बारे में अभावात्मकता के सिवाय कुछ भी कहा नहीं जा सकता। उसका अर्थ ईश्वर को उसकी भावात्मक सत्ता से विरहित करना नहीं है। ईश्वर की अक्षय भावात्मकता ही समस्त अनवधारणात्मक रूपों में प्रस्फुटित होती है। जब उसे हम अभाव के रूप में प्रकट करते हैं तो उसका अभिप्राय सिर्फ इतना ही होता है कि कोई भी उत्पन्न प्राणी उसकी कल्पना नहीं कर सकता उसे नाम-रूप से अलंकृत नहीं कर सकता उसका यह अर्थ नहीं होता कि वह सर्वथा अभावात्मक है। धर्मग्रन्थ उसका प्रदर्शन या वर्णन नहीं करते वे उसके अस्तित्व का प्रतिपादन-मात्र करते हैं। आध्यात्मिक अनुभव की तीन उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं—सत् चित् और आनन्द। यदि हमारे अनुभव के कुछ अंश इन विशेषताओं से युक्त हैं तो उसका यह अर्थ है कि हमारे सभी अनुभव इसी प्रकार के हो सकते हैं। ऐसी चेतना जिसमें समस्त अनुभव अव्यवहितता चित्स्वरूपता और अपने से भिन्न हर वस्तु से पूर्ण मुक्ति के रूप में विद्यमान है दिव्य ईश्वरीय चेतना है, वही हमारा ध्येय है। हम उसे भास्वर ज्योति के रूप में सदा दीप्तिमान और आत्मप्रकाश चेतना की विद्योतित ज्वाला के रूप में चित्रित करते हैं। दिव्य स्थिति में सत् ही अपना अव्यवहित ज्ञाता है वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है और वह मुक्त और आनन्दमय है। उसकी सत्ता में कोई न्यूनता नहीं है, उसके ज्ञानत्व में कोई कमी नहीं है और उसमें कोई अनैक्य और भिन्नता नहीं है। वह पूर्णतः सत्, चित् और आनन्द है। ईश्वर में सत्, चित् और आनन्द पृथक्-पृथक् होते हुए भी एक ही है। मान `य सत्ता की सच्ची और अन्तिम अवस्था दैवीय सत्ता ही है। जीवन का सार है बाह्य सत्ता की गति भाव का सार है सत्ता में स्वतोभावी आनन्द की लीला विचार का सार है सर्वव्यापी सत्य की स्फुरणा क्रिया का सार है विश्वव्यापी और अपने आपको प्रभावित करने वाली अच्छाई। विचार और उसके आकार, इच्छा और उसकी उपलब्धियाँ प्रेम और उसके सौहार्द— ये सभी एक दिव्य आत्मा पर आवृत हैं। केवल मानवीय प्राणियों में ही ईंत तनाव और दबाव आदि हैं इसीलिए वे ईश्वरीय पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकते। सर्वोच्च सत्ता सत् है—तत्व नहीं पूर्ण है—कल्याणमय नहीं। उसकी

बनाया। उसने उसे उसका अर्थ यही है कि मनुष्य की आत्मा में ईश्वर की सच्ची अभिव्यक्ति है। 'मनुष्य की आत्मा ईश्वर का दीपक है।'[२] प्लेटो के अनुसार मनुष्य में नित्य सत्ता में साझेदार होने की क्षमता है और संसार की अस्थिर छायाओं से अपने-आपको पृथक और अनासक्त रखकर वह अपनी सत्ता को भी नित्य बना सकता है। 'थिएटिटस' मे सुकरात ने कहा है कि हमें ईश्वर के समान बनने का प्रयत्न करना चाहिए। 'मैं और मेरा पिता एक ही हैं' और 'पिता के पास जो-कुछ है वह मेरा है' इन शब्दों में ईसा ने भी उसी गहन सत्य का आख्यान किया है। यह किसी एक व्यक्ति और ईश्वर के बीच का सम्बन्ध नहीं है बल्कि यह अन्तिम और परम सम्बन्ध है जो सभी आत्माओं को ईश्वर के साथ सम्बद्ध करता है। ईसा की आकांक्षा थी कि वह सब लोगों को यह दिखा सके कि वह क्या है और उन्हें उस सबका ज्ञान दे सके जो वह जानता है। बाइबिल के सुसमाचार (गौस्पल) मे सन्त मैथ्यू के अनुसार ईसा ने विभिन्न नैतिक आचरणों को एक सामान्य उपदेश के रूप में सार रूप में प्रस्तुत किया है इसलिए तू पूर्ण बनने का यत्न कर क्योंकि स्वर्ग मे तेरा पिता भी पूर्ण है। जैसा कि पॉल ने कहा है वह बहुत से भाइयों मे सर्वप्रथम पैदा हुआ था। ईसा ने यह स्वीकार कर कि हम सब ईश्वर की सन्तान हैं और उसी के बिम्ब के रूप मे बने हैं अपने उदाहरण से हमें यह दिखाया है कि ईश्वर और मनुष्य मे भेद केवल मात्रा का है। सन्त जॉन ने आत्मा के बारे मे कहा था कि 'वह एक प्रकाश है जो संसार में आने वाले हर मनुष्य को प्रकाशित करता है। बाइबिल के प्रकरण १ पीटर मे 'ईश्वर के आदेश से एक ऐसे बीज के जन्म' का उल्लेख किया गया है 'जो भ्रष्ट नहीं होता। यह भी मनुष्य में दिव्यत्व का ही संकेत है। प्लोटिनस ने अपने चिकित्सक एरिस्टो कियस को ये अन्तिम शब्द कहे थे 'मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था ताकि इससे पूर्व कि मेरे भीतर जो दिव्य आत्मा है वह ब्रह्माण्ड की विराट् आत्मा मे विलीन होने के लिए विदा हो तुम आ जाओ।' स्टोइक लोग दिव्य स्फुलिंग (चिनगारी)

१ जेनेसिस i. २७।
२. प्रोवर्ब्स XX. २७।
३ डेमेटी की अन्तिम उक्ति को देखिए 'मैं प्रसन्नता से अपनी आत्मा अपने ईश्वर को सौंपता हूँ मानो मैं पानी की एक बूँद उसके स्रोत को लौटा रहा हूँ और उस पर पूर्ण विश्वास कर उससे प्रार्थना करता हूँ जो मेरा वास्तविक मेरा महानतम है, कि वह मुझे अपने अन्दर में ले ले और सदा के लिए अपनी सत्ता के दिव्य क्रोड में रख ले।' (देखें : फिलासफी ऑफ प्लोटिनस (१९१८) खण्ड १ पृ १२)।

या आत्मा के ऊर्ध्व शिखर में विश्वास रखते हैं। दकार्ते ने प्रश्न किया है 'यदि मुझे अपने भीतर एक ऐसी पूर्णतर सत्ता का प्रत्यय न होता जिसके साथ तुलना कर मैं अपनी निज की प्रकृति की कमियों को देखता हूँ तो मैं यह कैसे जान पाता कि मुझमें कुछ कमी है मैं पूर्ण नहीं हूँ।' एकहार्ट के अनुसार 'आत्मा में कुछ ऐसा तत्त्व है जो आत्मा से ऊपर है दिव्य सीधा-सादा एक पूर्ण न इस प्रकाश की तृप्ति अति तात्त्विक तत्त्व से ही हो सकती है। यह उस शून्य भूमि म उस शान्त नीरव निर्जन में प्रवेश करने के लिए आतुर है जहाँ कोई भेद नहीं है जहाँ न पिता (फ़ादर) है न पुत्र (सन) और न पवित्र आत्मा (होली घोस्ट) जो एक ऐसा ऐक्य है जहाँ किसी मानव का वास नहीं है। सन्त ऑगस्टाइन कहता है 'यह आदेश मिलने पर कि मैं अपने-आपमें लौट जाऊँ मैं अपने और भी अन्तरतम में प्रविष्ट हो गया। तू मेरा पथ प्रदर्शक था इसलिए मैं प्रविष्ट हुआ और अपनी आत्मा की आँख स उस आँख के और मन के ऊपर मैंने एक अपरिवर्तनीय नित्य प्रकाश देखा। विनोबा की सन्त कैथराइन ने कहा है 'ईश्वर मेरा अस्तित्व है मेरा जीवन है मेरी शक्ति है मेरी सम्पत्ता है मेरा सत्य मेरा आनन्द है। कड्वर्थ ने कहा है 'मन मन उस एक शाश्वत मन में साझेदार है। ग्रीन के अनुसार व्यक्ति एक नित्य चेतना के अवयव हैं। विलियम जेम्स ने अपनी 'वैराइटीज़ आफ़ रिलिजस एक्सपीरियन्स' म लिखा है 'व्यक्ति और पूर्ण के बीच की विभेद की समस्त दीवारों को तोड़ देना रहस्यपूर्ण योगसाधना की एक बड़ी उपलब्धि है। रहस्यमय अनुभव की अवस्था में हम पूर्ण के साथ एक हो जाते हैं और दोनों की एकता को अनुभव करते हैं। रहस्यवाद की यह सार्वकालिक और विजयी परम्परा है और सभी देशों तथा मत-मतान्तरों म पाई जाती है। हिन्दू धर्म नियो प्लेटोनिज़्म (नव-प्लेटोवाद) सूफ़ी मत ईसाई रहस्यवाद और हिटमैनवाद—सभी में हम एक ही बात की पुनरावृत्ति पाते हैं जिसमें रहस्यपूर्ण अनुभवों के वर्णनों में एक शाश्वत एकता पाई जाती है जो किसी भी आलोचक को सोचने क लिए मजबूर करती है और इस एकता के कारण ही यह कहा जाता है कि रहस्य वादी साहित्य का न कोई जन्म-स्थान है और न जन्म दिन। मनुष्य और ईश्वर की एकता का हमेशा प्रतिपादन करती हुई उसकी वाणी भाषा के जन्म म भी

१ थर्ड मैडिटेशन।
२ कन्फ़ैशन्स VII । देखिए VII १२ भी।
३ ट्रान्सलुकन शिष्य, III ११।

पहुंच भी है और ये रहस्यवादी कभी पुराने भी नहीं होते चिरनवीन रहते हैं। ईश्वर का अन्तरयामित्व मानव की आत्मा में जीवन के रहस्य और अर्थ का प्रस्फुटन ही रहस्यवाद के सत्य का सारतत्व है।

आम तौर पर हम अपने शरीर में सीमित 'स्व' को ही अपनी आत्मा समझते हैं और आध्यात्मिक अनुभव को ऐसा समझते हैं मानो वह कोई ऐसी वस्तु है जो बाहर से हम पर प्रकट की गई है और उसका हमसे कोई सम्बन्ध नहीं है। हम आध्यात्मिक बोध की शक्ति को अपनी शेष प्रकृति से अलग कर देते हैं और एक दैवी वस्तु के रूप में उसका उल्लेख करते हैं। यह दुर्भाग्यवश मानवता के साथ न्याय नहीं है। सर्वोत्तम क्षणों की अन्तर्दृष्टि हमारे भीतर के गहनतम को हम पर अभिव्यक्त करती है। मानवीय प्रकृति की न्यूनतम प्रबुद्ध स्थिति को उसका सच्चा स्वरूप समझना और उसकी प्रबुद्धतम स्थिति को उसका सच्चा स्वरूप न मानना गलत है। यदि हमारी आत्मा उच्च सत्ता के साक्षात्कार के इन क्षणों में अपने-आपको उच्चतम सन्तोष की स्थिति में पाती है और जब तक वह अनुभव रहता है तब तक अत्यधिक जीवन्त होती है तो यही हमारी आत्मा का सच्चा स्वरूप है। हम अपनी आत्मा को केवल अपने शरीर या प्राण तक रिवाजी या पारस्परिक धारणाओं तक सीमित नहीं कर सकते। हमारे भीतर जो ईश्वर है वह हमारी प्रकृति का मूलस्रोत और पूर्णता है।

ईश्वर हमारे भीतर भी है और बाहर भी। ईश्वर न तो पूर्णतः हमसे परे है और न पूर्णतः अन्तर्यामी है। इस दोहरे स्वरूप को प्रकट करने के लिए परस्पर-विरोधी विवरण दिये जाते हैं। वह दिव्य अन्धकार भी है और 'असीमित प्रकाश' भी। दार्शनिक लोग आत्मा और परमात्मा के एकत्व पर बल देने के लिए उसके अन्तर्यामित्व पर बल देते हैं और कहते हैं कि मनुष्य को यथार्थ सत्ता से पृथक करने वाली कोई दीवार नहीं है। मनुष्य और ईश्वर का एकत्व ही वह उस महान् दार्शनिक परम्परा का बुनियादी सिद्धान्त है जो उपनिषदों से हमें मिली है और प्लेटो परन्तु प्लोटिनस शंकर स्पिनोज़ा और हेगेल तथा अन्य बहुत से दार्शनिक उसके साक्षी हैं।

जो लोग परमात्मा के मनुष्य से भिन्न और ऊपर होने और उसके ज्ञान से अतीत होने पर बल देते हैं वे इस बात पर जोर देते हैं कि मनुष्य को विशेष रूप से जो धार्मिक चेतना होती है वह हमसे भिन्न और हमसे ऊँची एक ऐसी सत्ता के साथ ऐक्य की अनुभूति है जिसे व्यक्ति अपने साथ कभी भी आत्मसात् नहीं कर

सकता। भक्तिमय धर्म में यह पृथक्त्व और अन्यत्व की भावना ही रहती है। हम ईश्वर को जान सकते हैं फिर भी हमेशा एक ऐसी चीज होती है जो अज्ञात और अनुक्त रहती है। भक्त के मन में ईश्वर की महानता की एक गहरी छाप रहती है किन्तु वह हमेशा यह समझता है कि हम महानता के ईश्वरीय स्तर तक नहीं पहुँच सकते। उपनिषद् व कुछ ऋषि भगवद्गीता के रचयिता सन्त टेरेसा और क्रास के जॉन (जॉन ऑफ दि क्रास) इसी वर्ग के हैं। उनकी दृष्टि में ये आध्यात्मिक अनुभव ईश्वर की कृपा से प्राप्त होते हैं। ईश्वर हमसे बातचीत करता है हमें आदेश देता है, हमें सान्त्वना देता है, और हम भी उससे स्तुति और प्रार्थना भक्ति और पूजा के द्वारा बातें करते हैं। यह व्यक्तिगत सम्बन्ध अनेक प्रकार का है कुछ भक्त ईश्वर के सम्मुख अपने-आपको बहुत छोटा समझकर उसके प्रति नम्रता और आत्म-समर्पण की भावना रखते हैं और कुछ उस सर्वोच्च प्रेम और वात्सल्य के रूप में देखते हैं जिस पर पापी-से-पापी व्यक्ति भी भरोसा कर सकता है।

ईश्वर को सर्वव्यापी विभु परमात्मा के रूप में मानने के दार्शनिक विचार और भक्तों के ईश्वर को ऐसा व्यक्तिगत ईश्वर मानने के जो हममें विशिष्ट धार्मिक भाव पैदा करता है विचार में कोई बुनियादी विरोध नहीं है। ईश्वर की व्यक्तिगत अवधारणा आध्यात्मिक अनुभव की एक ऐसी दृष्टि उत्पन्न करती है जिसमें यह समझा जा सकता है कि मानव की आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं। मनुष्य इस आध्यात्मिक अनुभव में विश्रान्ति और शान्ति अनुभव करता है और इसलिए वह यह समझता है कि वह परम आत्मा जिसको उसने उस अनुभव में पाया है उसकी आवश्यकताएँ पूरी करती है। भक्त लोग ईश्वर को ऐसे गुणों से युक्त समझते हैं जो हममें नहीं हैं। एक सिद्धान्त व ब्लॉयड के अनुयायियों का यह कथन गलत नहीं है कि हमारा धर्म वयस्क बच्चों की आकांक्षाओं का प्रक्षेप है। हम जिन गुणों को जानते हैं उनमें न्याय प्रेम और पवित्रता सबसे ऊँचे हैं और हम यह कल्पना करते हैं कि ईश्वर में ये गुण हैं भले ही उनमें वे उनसे भिन्न रूप में हों जिस रूप में वे हममें हैं।

ईश्वर की तुलना ऐसी उच्चतम सत्ता से करना जिसे हम जानते हैं सत्य के अधिक निकट है बजाय इसके कि हम उसकी तुलना उससे किसी निचली सत्ता से करें। यद्यपि परमात्मा तत्त्वतः एक निर्विकार निराकार और निर्गुण सत्ता है फिर भी उसे एक ऐसे व्यक्तिगत ईश्वर के रूप में कल्पना करना है। जो कि

विश्व की सृष्टि स्थिति और लय का कारण है, तार्किक मन के लिए सबसे बड़ी सम्भावना है। ईश्वर को एक आत्मा के रूप में देखना या एक व्यक्ति के रूप में देखना दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, केवल दृष्टिकोण का भेद है अर्थात् एक में हम उसे उस रूप में देखते हैं जिस रूप में वह है और दूसरे में हम उसे उस रूप में देखते हैं जिस रूप में वह हमें प्रतीत होता है। जब हम उसके अमूर्त और अवैयक्तिक रूप पर विचार करते हैं तो हम उसे पूर्ण ब्रह्म कहते हैं और जब हम उसके ज्ञान-स्वरूप और आनन्द-स्वरूप पर विचार करते हैं तो हम उसे ईश्वर कहते हैं। यथार्थ परम सत्ता व्यक्तित्व और अवैयक्तिकता की समस्त धारणाओं से परे है। हम उसे 'निरपेक्षपूर्ण' इसलिए कहते हैं कि हम उसकी किसी शब्द या परिभाषा से व्याख्या नहीं कर सकते और उसे 'ईश्वर' हम इसलिए कहते हैं क्योंकि हम उसे समस्त सत्ता का आधार और लक्ष्य समझते हैं। व्यक्तित्व एक प्रतीक है और यदि हम उसके प्रतीकात्मक स्वरूप की उपेक्षा कर दें तो यह हो सकता है कि हम सत्य से परे हो जाएँ। जो लोग व्यक्तित्व को विश्व का अन्तिम पदार्थ मानते हैं वे भी यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर विराट् है, रहस्यमय है, शक्तिशाली और अन्तिम सत्ता है।[1]

१ मैकिन्टश ने कहा है : "ईश्वर अपने वास्तविक रूप को गुप्त रखता है। वास्तव में उसका वास्तविक रूप हमारे लिए ज्ञेय नहीं है। इसलिए हमें स्वेच्छा से उसके अपने वास्तविक रूप का ध्यान यहीं पर छोड़ देना चाहिए। (इन्स्टीट्यूट ऑफ दि क्रिश्चियन रिलिजन)।

एक बंगाली कवि का गीत है :

'मैंने वेद और वेदान्त, तन्त्र और मन्त्र जाने हैं किन्तु कहीं भी तुझे पूर्ण नहीं पाया।

'राम के रूप में तू धनुष उठाता है, श्याम के रूप में तू वंशी धारण करता है।

'हे माता, हे काली माता, तू नर है या नारी? कौन कह सकता है? कौन तेरे रूप को जानता है?

'लोकचन्द्र का मन तो हमेशा उससे भी बड़ा के रूप में तुझे जानता है।' (टी. जे. थामसन और ए. एम. स्पेन्सर : बेंगाली रिलिजस लीरिक्स, १९२३)।

एक आधुनिक कवि कहता है :

'कुछ लोग परमपिता को ऊपर आकाश में खोजते हैं।

कुछ पावन मूर्ति के रूप में उसे पूजते हैं।

कुछ उसे जीवन और प्रेम की तरह विराट् आत्मा के रूप में जानते हैं;

तेरे मन में हमें सब-कुछ और उससे भी अधिक मिलता है।'—(डी. मैकेंजी की कविता जो कुलबर्ग ने अपनी पुस्तक 'रिलिजस एण्ड ह्यूमन नेचर, डेवलपमेंट एण्ड...' (१९१९) में पृष्ठ १७८ पर उद्धृत की है।

हमारी पौराणिक कथाएँ और आलंकारिक वर्णन उसके साथ अन्याय करते हैं क्योंकि वह रहस्यपूर्ण है और आध्यात्मिक ऋषि इसे जानते हैं। केवल उनके बुद्धिजीवी अनुयायी ही इसकी उपेक्षा करते हैं।

दार्शनिक विचार के इतिहास में हमें आध्यात्मिक अनुभव की विभिन्न व्याख्याएँ मिलती हैं। उदाहरण के लिए बुद्ध का कहना है कि वह एक यथार्थ सत्ता है जिसे हमें श्रद्धा के साथ स्वीकार करना चाहिए अरस्तू का कहना है कि वह संसार को प्रथम गति देने वाला है किन्तु स्वयं उसे किसी ने गति नहीं दी है, उसकी सर्वोच्च पूर्णता ब्रह्माण्ड को उसी प्रकार अपनी ओर आकृष्ट करती है जैसे प्रेमपात्र का सौन्दर्य प्रेमी को आकृष्ट करता है स्पिनोज़ा की दृष्टि में ईश्वर ऐसी सत्ता है जिससे अधिक सत कोई नहीं है जिससे हम बदले में किसी फल की आकांक्षा किये बिना प्रेम करना है वह एक वैयक्तिक ईश्वर है जिसमें आवेग और संवेग है वह एक नैतिक ईश्वर है जो मनुष्यों का चरम और उच्चतम लक्ष्य है वह एक सामन्ती ढंग का ईश्वर है जो हमसे यह विनय करता है कि हम उसे उसके महान् लक्ष्य की पूर्ति में सहायता दें। एकेश्वरवादियों का विश्वास है कि अनेकेश्वरवादियों के देवता यदि सच्चे ईश्वर के पौराणिक व्यापारक रूप नहीं है तो प्रतीकात्मक रूप अवश्य हैं किन्तु वे यह मानने को तैयार नहीं हैं कि उनका अपना ईश्वर भी मूल रूप में एक प्रतीक है। समस्त धर्म प्रतीकात्मक है और प्रतीकवाद धर्म से तभी निकलता है जबकि स्वयं धर्म ही नष्ट हो जाता है। ईश्वर एक प्रतीक है जिसके द्वारा धर्म परम सत्ता को मूर्त करता है। दार्शनिक लोग परम सत्ता और ईश्वर को लेकर झगड़ सकते हैं और यह कह सकते हैं कि जिस पवित्र ईश्वर की पूजा की जाती है वह तर्क द्वारा भावपूर्ण सत्ता से भिन्न है। किन्तु धार्मिक चेतना दोनों को एक ही समझता है।[२]

७. एक विश्व

आध्यात्मिक सत्ता की यथार्थता जिसकी विभिन्न रूपों में व्याख्या की जाती है और मनुष्य की अन्तरतम आत्मा के साथ उसकी समरूपता के प्रत्ययों के साथ-साथ हमें समस्त ब्रह्माण्ड के एकत्व का भी प्रत्यय होता है। हम एक परम

१ मेटाफिजिक्स ७।

२ तुलना कीजिए डॉमस आ केम्पिस "जिसे नित्य और शाश्वत वाणी सुनाई देती है वह अनेक विचारों और मतों की विभिन्नता से मुक्त हो जाता है।"

आत्मा को अपने ऊपर एक ओर से दूसरे ओर तक व्याप्त देखते हैं। पृथ्वी औ आकाश ईश्वर और प्राणी सब सहसा हमारे लिए आत्मसंबंधक और विस्मय कारी हो उठते हैं क्योंकि हमारी आँखें खुल जाती हैं और वे उस एक परम सत की उपस्थिति को उद्घोषित करते हैं। विश्व आत्मा से सजीव अग्नि से प्रदीप्त और प्रकाश से आलोकित दीख पड़ता है। उपनिषद में कहा गया है 'जब सब कुछ आत्मस्वरूप हो जाता है तब कौन ज्ञाता है और कौन ज्ञेय है? उस पर आत्मा से व्यतिरिक्त नहीं हुआ जा सकता। वह ऊपर-नीचे आगे-पीछे और दाएँ-बाएँ हर तरफ है। एकहार्ट ने कहा है 'उद्बुद्ध आत्मा एक मेष के समान जिस सूर्य को देखने के बाद हर जगह सूर्य-ही-सूर्य दीखता है। जॉर्ज फॉक्स कहा है कि 'ब्रह्माण्ड की परम सत्ता में ही सब चीजों को देखना सीखो। ईश्वर सर्वत्र है—मानवीय इतिहास के विक्षुब्ध सागर में भी विश्व की महान् विपत्ति और व्यायाम में भी और दुःख और कष्ट में भी। जब हम ऐक्य और साम्य अनुभव करते हैं तो यह अनैक्य और वैषम्य अवास्तविक प्रतीत होता है जिससे हम परिचित हैं।

प्रश्न उठता है कि यदि ब्रह्माण्ड तत्त्वतः आत्मस्वरूप है तो वह हमें अनात्म स्वरूप क्यों भासता है? यदि आध्यात्मिक अनुभव हमें ब्रह्माण्ड के ऐक्य और सहस्वरता की आनन्दपूर्ण अनुभूति कराता है तो संसार में हमें यह विरोध वैषम्य और फूट क्यों नजर आती है? विज्ञान और सामान्य बुद्धि की दुनिया आत्मा की मुक्ति की भावना से बिलकुल जुदा चीज प्रतीत होती है। यह वास्तविकता है या भ्रम? जो लोग व्यवहार और व्यावहारिकता की दृष्टि से सोचते हैं उनकी दृष्टि में यह व्यावहारिक जगत् वास्तविक है। वे आध्यात्मिक अनुभूति को स्वप्न मानते हैं इस प्रकार उनकी दृष्टि में दोनों के बीच में बड़ी चौड़ी खाई है। जो लोग उनसे कुछ अधिक सावधान हैं वे प्रतीयमान जगत् को अविद्या अर्थात् मानवीय ज्ञान की अपूर्णता का परिणाम समझते हैं। मानवीय मन स्वभावतः बौद्धिक दृष्टिकोण से विश्व को एक समग्र यांत्रिक व्यवस्था के रूप में कल्पित करने का प्रयत्न करता है। बुद्धि की दृष्टि में विश्व की एकता एक स्वतः सिद्ध सत्य है विश्वास की चीज है। भावना की दृष्टि में वह एक अनुभूत वास्तविकता है। वह समझती है कि संसार की प्रकृति ही एकता की है और हो उसका आंशिक और आधिक पूर्वाभास हो चुका है और यदि हम यह याद रखें कि

छान्दोग्य उपनिषद् २४।

सामान्य अनुभव का जगत् पूर्ण विश्व का एक धुंधला प्रतिरूप है, प्रकाश और अन्धकार का एक मिश्रण है और विशुद्ध प्रत्यय का एक अपूर्ण भौतिक रूप में प्रतिबिम्ब है तो हम एकता और सहस्वरता को और भी सुदृढ़ बना सकते हैं। जो तर्क यह सिद्ध करता है कि चूंकि 'एक' ही 'सत्' है इसलिए 'अनेक' केवल 'माया' है, वह गलत और अपूर्ण है और इस गलत तर्क के अपाकरण के लिए सही दृष्टिकोण यह है कि 'एक' अपने-आपको 'अनेक' में व्यक्त करता है।

ख. आत्मज्ञान और उसका मार्ग :

यदि आत्मा और ईश्वर के इस तादात्म्य और सम्बन्ध के बावजूद ईश्वर बहुत दूर प्रतीत होता है तो उसका कारण सिर्फ यह है कि आत्मा अनात्मा में डूबी रहती है और आत्मज्ञान की प्राप्ति में कठिनाई अनुभव करती है। लेथे (विस्मृति) के जलाशय का पानी पीकर मनुष्य यह भूल गया है कि उसका जन्म मूलतः स्वर्ग में हुआ था। वह स्वर्ग से निर्वासित है और देह-रूपी मलिन वस्त्र पहनकर पृथ्वी पर रह रहा है। जो कुछ हमारी प्रकृति के विरुद्ध और बाह्य है उसे हमें उतार फेंकना और अपने स्वरूप को पहचानना अपने अन्तर में विद्यमान आत्मा को खोजना है। अपनी आत्मा को ब्रह्म की सत्ता से अलग समझना पतन है, मूल पाप है, अविद्या है। आत्मज्ञान में बड़ी बाधा व्यक्तिगत इच्छा से जन्य काम क्रोध आदि शत्रु हैं और उन पर विजय अपनी स्वार्थपूर्ण इच्छा को अवैयक्तिक विराट् ब्रह्माण्ड की इच्छा में विलीन कर प्राप्त की जा सकती है। धर्म का प्रयत्न मनुष्य और ईश्वर के, जीव और परमात्मा के बीच के विभेद को समाप्त कर एकता की विस्मृत भावना को पुनः पैदा करना है। यह प्रयत्न आत्म-ज्ञान की दिशा में क्रमिक प्रगति है, प्रत्यक्ष आनुभविक अहंकार को हटा कर अप्रत्यक्ष जगत् में पहुंचाना और मन का विराट् मन के साथ अव्यवहित सम्बन्ध कर पूर्णता की स्थिति में ले जाना है। इसके लिए कठोर नैतिक अनुशासन पर बल दिया जाता है। आध्यात्मिक सत्य का बोध द्रष्टा के आत्मा के गुण पर निर्भर है और इस गुण को तभी समृद्ध बनाया जा सकता है जबकि प्रार्थना और ध्यान के द्वारा बुद्धि भावना और इच्छा का संस्कार किया जाए। कोई भी व्यक्ति स्वयं सत्य हुए बिना सत्य को नहीं जान सकता। इसके लिए आन्तरिक

'जब तक सूर्य के प्रकाश को अस्वीकार करता है तब तक उस इन्द्रिय पर निर्भर रहता है जो उसे देखती है। (प्लेटो)

पवित्रता की आवश्यकता है जो आत्मसंयम और आत्मोत्सर्ग से ही प्राप्त की जा सकती है। 'जो दुश्चरित्र से अविरत नहीं हुआ, जिसका मन और इन्द्रियाँ अशान्त हैं, जिसका चित्त असमाहित है, वह प्रज्ञान के द्वारा उसे प्राप्त नहीं कर सकता।'[1] आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाती है, यदि वह अपने आपको संसार के घटनाचक्र का ही एक अंग समझ ले और उसकी धाराओं और चक्रावातों में फँस जाए। हिन्दू विचारक और दार्शनिक हमें यह शिक्षा देते हैं कि जीवन के समस्त निश्चित रूपों से चाहे वे आन्तरिक हों या बाह्य अपने ऐन्द्रियिक ज्ञान के हस्तक्षेपों और भावनाओं से, विचारों और कामनाओं से अपाकृत होकर अपने आपको पवित्र शान्त आत्मा में निमज्जित कर दो जिससे हमारे वर्तमान जीवन की विक्षुब्ध धारा निकलती है।[2] विश्वव्यापी जीवन के स्रोत के साथ आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित करने का यही उपाय है। बुद्ध ने इसके लिए अष्टांग मार्ग का उपदेश किया है और बताया है कि अपवित्र मन और अपवित्र बुद्धि वाले लोग आध्यात्मिक अनुभव के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकते। आभ्यन्तर जीवन का संस्कार केवल प्राच्य मन की एक सनक ही नहीं है। हर महान् धर्म हमें संसार से विरक्त होकर एकाकी होने का उपदेश करता है और आध्यात्मिक परिवेश के सजीव सम्पर्क में आने के लिए सहायता देने को एक कठोर अनुशासन का विधान करता है। ऑर्फिज़्म और पैथागोरस के अनुयायियों ने शुद्धि के द्वारा मनुष्य की आत्मा का उसके मूल स्वरूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। ध्यानमय जीवन को सामान्य व्यावहारिक जीवन से श्रेष्ठ बताकर ग्रीक लोग यही कहना चाहते हैं कि समस्त वस्तुओं से अधिक पूर्ण सत्ता को वही लोग पा सकते हैं जिनकी आध्यात्मिक शक्तियाँ पूर्णतः विकसित हैं। प्लाटिनस के अनुसार 'धर्म उस हद तक मनुष्य के आभ्यन्तर जीवन की

1 कठोपनिषद्, १ २ २४।
2 तुलना कीजिए मैत्र्युपनिषद्: [illegible] (४.२)। 'जो मन जिस मात्रा में वैराग्य है वह दैहिक लीलाओं के साथ सम्बन्ध से पूर्णतः मुक्त होना चाहिए, चाहे वह मुक्ति मृत्यु के द्वारा हो चाहे ध्यान और समाधि से।' (प्लेटो की 'दि फिडो' (६४-६७), में पृष्ठ ४७० पर [illegible] की पुस्तक '[illegible] रिलिजन' (१९४१) से उद्धृत)।
3 [illegible] के इस कथन की कि 'भूकम्प के पश्चात [illegible] और [illegible]' व्याख्या करते हुए [illegible] में कहा है 'यह कथन इस बात का वर्णन करता है कि जो मनुष्य

कला और सिद्धान्त है जिस हद तक कि वह स्वयं मनुष्य पर या उसकी प्रकृति के स्थायी तत्त्व पर निर्भर है। धार्मिक सिद्धान्तों पर विश्वास, भक्ति और पूजा से हमारा जीवन अज्ञात सत्ता के प्रति उन्मुख हो जाता है। मुक्ति ईश्वर की आराधना से उतनी नहीं मिलती जितनी अपने-आपका कायापलट करने और कठोर आत्मसंयम से एक विशेष गुण और भावनाओं की सहजस्वरता प्राप्त करने से मिलती है। इसका प्रयत्न बहुत कठिन है और महँगा पड़ता है। प्रायश्चित्त और दान-दक्षिणा के द्वारा पापों से मुक्ति पाने की चतुराइयों में मध्य-मार्ग के ऋजु पथ में या अपने-आपको बाहरी दुनिया की नजर से प्रसन्न रखने से काम नहीं चल सकता। यदि सत्य को प्राप्त करना है तो आत्मा को उघाड़कर रख देना होगा।

ध्यान आत्मज्ञान का उपाय है। इससे हम हम अपने मन को अन्तर्मुख करते हैं और अपने मूल-केन्द्र के साथ सम्पर्क साधते हैं। सत्य को जानने के लिए हम केवल अपनी सतह को चौड़ा ही नहीं बनाना वरं गहरा भी करना है। अपनी आत्माओं का महान् रूपान्तरण करने के लिए मौन और शान्ति आवश्यक है और

समाधिलीन हो जाता है जो ईश्वर के साथ सम्पर्क स्थापित कर लेता है। उसकी मानसिक दशा क्या होती है। पवित्र धर्म-ग्रन्थ इस बात की पुष्टि करता है कि ईश्वरीय आदेश हर धर्मात्मा और पुण्यात्मा व्यक्ति को प्राप्त हो सकते हैं क्योंकि ईश्वरीय आदेश पाने वाला व्यक्ति अपनी ओर से कुछ नहीं कहता बल्कि हर शब्द में दूसरे की आवाज होती है। किसी अधार्मिक व्यक्ति का ईश्वर के विधान की व्याख्या करना मान्यताप्राप्त नहीं हो सकता इसीलिए किसी पापी व्यक्ति को ईश्वरीय ज्ञान और इलहाम नहीं होगा। इन्हीं चीजों का सम्बन्ध केवल मनीषी लोगों से ही होता है, क्योंकि मनीषी व्यक्ति ही ईश्वर का वाद्य है जिसे वह प्रहार और झंकार रूप में बजाता है। (एडविन बेवन की पुस्तक 'सिम्बलिज्म एण्ड बिलीफ' (१९३८) में पृष्ठ १७८ पर उद्धृत)। प्लाटिनस का एक प्रसिद्ध अंश इस प्रकार है: 'अक्सर जब मैं शरीर की निद्रा से जागता हूँ और अपने-आपको जानने की स्थिति में होता हूँ और बाह्य संसार से अलग होकर अन्तर्मुख हो जाता हूँ तब मैं एक विस्मयकारी सौन्दर्य के दर्शन करता हूँ। तब मैं यह समझता हूँ कि मेरा सम्बन्ध एक अधिक ऊँचे और अधिक बेहतर जगत् से है और मैं अपने अन्दर में एक भव्य जीवन को विकसित करने और ईश्वर के साथ एकाकार होने का प्रयत्न करता हूँ। और इससे मुझे इतनी शक्ति की ऊर्जा प्राप्त होती है कि मैं भौतिक संसार से ऊपर उठ जाता हूँ।' (रूफस जोन्स की पुस्तक 'न्यू स्टडीज इन मिस्टिकल रिलिजन' में पृष्ठ ५३-५४ पर उद्धृत)

१ रिलिजन इन दि मेकिंग (१९२६), पृष्ठ ६।

इस युग में वे बहुत आसान नहीं हैं। अनुशासन और दमन से हमें अपनी चेतना का सर्वोच्च सत्ता के साथ सम्पर्क साधने में सहायता मिलेगी। तप का अर्थ है निरन्तर ईश्वर में वास करना और एक नया रूपान्तरित जीवन प्राप्त करना। इसका अर्थ समस्त बिखरी हुई ऊर्जाओं को बौद्धिक शक्तियों को हृदय की भावनाओं को, प्राण की कामनाओं को बल्कि स्वयं अपनी भौतिक सत्ता को समेटना और इन सबको सर्वोच्च लक्ष्य पर केन्द्रित करना है।[1] यह प्रक्रिया कितनी द्रुत गति से होती है, यह ईश्वर के लिए आकांक्षा की उत्कटता और मन के उत्साह पर निर्भर है।

संसार में कोई भी आदमी कभी भी जीवन भर आध्यात्मिक सन्तुलन और साम्यावस्था नहीं रख सका। जिस ईसा ने यह कहा था कि यदि लोगों को उस ईश्वर के पुत्र बनना है जो अच्छे और बुरे सभी मनुष्यों पर अपने सूर्य को चमकाता है जो न्यायी और अन्यायी सभी पर वर्षा करता है उसी ईसा ने एक दिन अंजीर के पेड़ को शाप दिया था और व्यापारियों को मन्दिर से खदेड़ा था। हम सभी के जीवन में ऐसे क्षण आते हैं, जैसा कि ईसा के जीवन में गेथसेमेन में आया था जब हम अपने सामने उपस्थित कठिन अग्नि-परीक्षाओं से घबरा उठते हैं और उनसे बचने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं और फिर से उस अनासक्त स्थिति में लौटने के लिए जब हम यह कह सकें कि 'ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो' बड़ी साधना की आवश्यकता होती है। असहिष्णु और शत्रुतापूर्ण संसार के सम्मुख मानसिक सन्तुलन कायम रख सकना कोई आसान काम नहीं है। यह तभी सम्भव है जब हम निरन्तर अपनी आन्तरिक गहराइयों में लौटते रह सकें और मन को इतना निष्काम और अनासक्त बना लें कि न कोई सुख उसे लुभा सके और न दुःख उसे अभिभूत कर सके।

रहस्यवादी लोग 'होने' पर अधिक बल देते हैं 'करने' पर नहीं। उनके जीवन में क्षुद्रता तुच्छता और असहिष्णुता नहीं होती इसलिए यह सम्भव है कि वे एक निषेधात्मक आत्मानुभूति और निष्क्रियता को अधिक बढ़ा-चढ़ाकर बताते हों। अपने अधिकारों के लिए लड़ने के बजाय उनका झुकाव उन्हें छोड़ देने की ओर अधिक होता है किन्तु उनकी यह नम्रता भय या कायरता का परिणाम नहीं होती बल्कि साहस और शक्ति का परिणाम होती है। किन्तु तपस्या के अन्दर

1. एक तपस्वी की वास्तविक उपलब्धि शरीर को भी इस ढंग से परिष्कृत कर देती कि उसके शरीर में रुग्णता नहीं आएगी, सन्तुलन पैदा होगा और सौन्दर्य और बल उत्पन्न होगा।

में आध्यात्मिक आनन्दानुभूति की एक अवस्था होती है जो धर्म का सार है। वैराग्य या कर्म-संन्यास ही एकमात्र धार्मिक परम्परा नहीं है बल्कि कर्मयोग जीवन में भाग लेना और उसमें आनन्द का उपभोग भी धर्म के अंग हैं। ईश उपनिषद् में कहा गया कि त्यागकर भोग करो। यह त्याग द्वारा भाग विश्व को महत्त्व में किन्तु निष्काम होकर स्वीकार करना है और यह आनन्दपूर्ण अनुभूति है कि संसार के किसी भी अंश का पूर्णतः त्याग नहीं किया जा सकता। हम संसार का परित्याग इसलिए करते हैं ताकि उसके एकत्व के ज्ञान के साथ फिर उसमें लौट सकें और यह ज्ञान हमारा सम्बल हो।

६ प्रबुद्ध व्यक्ति का जीवन

जिस क्षण मनुष्य को अन्तर्दर्शन होता है उसका जीवन दूसरा ही हो जाता है। एकत्व का अनुभव परिवर्तन की प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है। आत्मा ने उस (परम सत्) को देख लिया है इसलिए मन को हमारे सारे अस्तित्व का नियन्त्रण करना चाहिए। जिस सत्य को हमने सत्य समझा है वह हमारी देह में हमारे अपने भीतर बिंध जाना चाहिए। अन्तर्दर्शन के क्षण में हमने जिस नये एकत्व की झाँकी ली है उसे यदि पाना है तो पुरानी आदतों का परित्याग करना होगा। उदाहरण के लिए सुकरात के जीवन में परिवर्तन उस समय प्रारम्भ होता है जब उसे पोटिडिया (४३१ ई० पू०) में परम सत्ता का आध्यात्मिक अनुभव होता है और जैसा कि कहा जाता है वह चौबीस घंटे तक समाधिलीन रहता है। उसके बाद उसने अपने साथी नागरिकों को उपदेश देने में ही अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया। 'एपोलॉजी' में प्लेटो सुकरात से कहलाता है कि यह कार्य ईश्वर ने ही उसे सौंपा है और वह उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता चाहे उसे प्राण भी त्यागने पड़ें और उसने त्यागे भी। ईश्वर की पुकार का ऐसा व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता जिसकी आत्मा अपने शिखर पर नहीं पहुँच गई जिसके सन्देह और वैमनस्य दूर नहीं हो गए। देह, मन और आत्मा में कोई संघर्ष नहीं हो सकता। हमारी प्रकृति की विभिन्न दिशाओं में साम्य शान्ति के लिए आवश्यक है और उनका परस्पर सामंजस्य पूर्णता के लिए। किसी भी एक दिशा का दमन मात्र पूर्णता में व्याघात पैदा कर देता है। जो लोग यथार्थ सत्ता के अप्रत्यक्ष पक्ष पर उचित से अधिक बल देते हैं उनमें वैराग्य सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। यदि यथार्थ सत्ता उस पार है इसके साथ नहीं है और यह संसार केवल आभास-मात्र

है, माया भर है तो उस यथार्थ सत्ता को नहीं पा सकते हैं जो देश और काल की सीमा में बँधे इहलोक से मुँह मोड़ ले। रहस्यवादी को ऐहिक और पारलौकिक में कोई विरोध स्वीकार्य नहीं है। उसका कहना है कि किसी भी वस्तु को ठुकराया नहीं जा सकता, हर वस्तु को ग्रहण कर ऊँचा उठाना है। जो पूर्णता हमारा लक्ष्य है वह शून्य की पूर्णता नहीं है, ऐसी प्रकृति की पूर्णता नहीं है जिसका मस्तिष्क भंगुर और हृदय-स्रोत शुष्क है। आध्यात्मिक तत्त्व कोई ऐसी पृथक वस्तु नहीं है जिसकी शेष जीवन से अलग कर रक्षा करनी है, बल्कि वह एक ऐसा तत्त्व है जो मनुष्य के सारे जीवन में व्याप्त है और उसे परिचालित करता है। वह हमारी आन्तरिक सत्ता के सभी भागों को शुद्ध करता है और आत्मा का एक नया जन्म होता है, हमारी निष्ठाओं की पूर्ति होती है और हमारे व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण होता है। जीवन में समरसता आती है और मनुष्य का सारा व्यक्तित्व अधिक गहन हो जाता है। अपने और ब्रह्माण्ड के बीच एकत्व अनुभव कर आत्मा में लीन रहने वाला व्यक्ति एक पृथक और आत्मकेन्द्रित व्यक्ति नहीं रहता बल्कि वह विश्वव्यापी आत्मा का वाहन बन जाता है। वह संसार में विद्यमान बुराई की ओर से, जो बिलकुल स्पष्ट नजर आती है, आँख नहीं मूँदता, हालाँकि उसका यह विश्वास अचल रहता है कि मनुष्य की अन्तरात्मा अवश्य अच्छी ही है। जीवन के प्रति उसकी दृष्टि इतनी स्पष्ट और पूर्ण होती है कि वह आत्मा की आँख से सूर्य को निहारता हुआ अन्धकार भरे दिन व्यतीत कर देता है। अपनी अन्दर की आत्मा से वह जो मूर्ति देखता है उसे जीवन के कपड़े में बल देने के लिए वह संघर्ष करता है। वह अपने-आपको संसार पर छोड़ देता है और इस विश्वास के साथ उसके उद्धार का प्रयत्न करता है कि वह उसके स्वप्न का समर्थन करेगा। उसका जीवन दुःख और कष्ट की आग में जलता रहता है। वह ऐसे मन से जो शान्ति और आनन्द से भरा है, ऐसे आनन्द से जो कर्म की समुचित पूर्ति का चिह्न है, जो प्रकृति की इस बात की मुहर है कि जीवन की दिशा सही और सुरक्षित है, जीवन के संकटों का सामना करता है। ईश्वर विश्वासी आत्माओं के लिए स्वाभ[illegible]

१ वेगनी का कहना है "इस विश्राम से हम मन की [illegible] [illegible] से [illegible] आत्मा की सीमा से अनन्तता और [illegible] के [illegible] [illegible] [illegible] से [illegible] की ओर हमारी [illegible] दोनों की [illegible] [illegible] [illegible] से जिसमें हम अपने [illegible] [illegible] [illegible] हैं, [illegible] जाते हैं '[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हम [illegible] का [illegible] [illegible] से [illegible] [illegible] [illegible] में [illegible] रहा है।' ([illegible])

और स्वाभाविक हो जाता है। वे काँटों पर भी ऐसे आराम से चलते हैं जैसे हवा पर चल रहे हों और उनके मन में आत्म-विश्वास की शान्ति बनी रहती है। वे महान् आशावादी होते हैं और आत्मा की शक्तियों में उनका विश्वास अगाध होता है। निराशावादिता उनकी दृष्टि में हर दर्जे की बेवफाई होती है, उनके अन्दर विद्यमान प्रकाश के साथ धोखा होती है।

ये आत्माएँ बहुत विरली और अमूल्य होती हैं पूर्ण आत्मा की भावना से भरी होती हैं और यह कहा जा सकता है कि वे विश्व की चेतना से युक्त होती हैं। उन्हें समस्त सत्-पदार्थों में अपनी आत्मा के और अपनी आत्मा में समस्त विश्व के दर्शन होते हैं। एक हिन्दू सन्त का कहना है 'तीनों लोक मेरा घर हैं।' मार्कस औरेलियस ने एक स्थान पर कहा है 'कवि का कहना है "प्यारा एथेन्स नगर" किन्तु हे मेरी आत्मा क्या तू उसे 'प्यारा ईश्वर का नगर' नहीं कहेगी?' जो लोग दृष्टि की यह व्यापक सर्वव्यक्तिकता विकसित कर लेते हैं वे ब्रह्माण्ड की योजना को आगे बढ़ाने में परमपिता की इच्छा पूर्ण करने में आनन्द अनुभव करते हैं। उनके मन में समस्त मानवता के प्रति प्रेम और मैत्री की भावना भरी रहती है। अहिंसा या प्रेम उनका मुख्य धर्म हो जाता है। संस्कृत के एक कवि ने कहा है 'अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् यह अपना है और यह पराया यह दृष्टि संकीर्ण-हृदय व्यक्तियों में रहती है उदार हृदय वाले व्यक्तियों के लिए तो सारी पृथ्वी ही अपना कुटुम्ब होती है। आध्यात्मिक राज्य में अपनी विशिष्ट अस्तित्व-पद्धति के कारण हरेक की एक निश्चित जगह है। किसी भी व्यक्ति का चाहे वह कितना ही गुणी हो दूसरों से आगे और पहले जगह का दावा नहीं हो सकता। मूल्य और महत्त्व का निर्णय इस बात से होता है कि किसी वस्तु के अंग और समग्र में कितना सामंजस्य है। यहाँ तक कि हमारे शत्रु भी घृणा और नफरत के पात्र नहीं हैं क्योंकि वे नैतिक व्यक्ति हैं। हमें अपने शत्रुओं से भी अपनी ही भाँति प्यार करने के लिए उपदेश दिया जाता है किन्तु इस नियम का जितना सम्मान हम मौखिक करते हैं उतना व्यवहार में नहीं करते। लेकिन जो लोग ईश्वर की आत्मा में वास करते हैं उनके अस्तित्व का यह स्थायी नियम हो जाता है। उनको अपनी आत्मा के भीतर एक निगूढ़ एकता का स्थायी भान होता है जो विश्व प्रेम का आधार है वह प्रेम जिसमें धैर्य होता है और सभी वस्तुओं को सहन करने की शक्ति होती है जो अहंकार और निष्ठुरता का निर्मूलन करता है जो

बुरों को बुराई से रोकता और पापियों का हृदय-परिवर्तन करता है। यह उस समय भी बना रहता है जब रात अँधियारी हो जाती है, जब तारे छिप जाते हैं और जब मनुष्य सब ओर से परित्यक्त हो जाता है। यह ऐसा प्रेम है जो बदले की परवाह नहीं करता, जो स्वयं अपना कारण है। सन्त लोग इसलिए प्रेम करते हैं क्योंकि वे उसके बिना रह नहीं सकते। उनके लिए प्रेम न करना अजीब होगा। बुद्ध का विश्व प्रेम इतना व्यापक है कि वह छोटे-से-छोटे प्राणी को भी अपने अंक में भर लेता है। प्लेटो ने 'क्रिटो' में कहा है, 'जब कोई हमें चोट पहुँचाए, तो हमें उस बदले में चोट नहीं पहुँचानी चाहिए, जैसा कि बहुत से लोग सोचते हैं, क्योंकि हमें किसी को भी चोट नहीं पहुँचानी चाहिए।' ईसा की दृष्टि में सहिष्णुता और क्षमा ही पुण्य और धर्म के सार हैं। 'गॉस्पल ऑफ नजरीन्स' में ईसा का यह वचन आता है, 'तब तक प्रसन्न मत होओ जब तक तुम अपने भाई को प्रेम की नजर से न देखो।' जो लोग ईश्वर में मगन रहते हैं वे बड़े-से-बड़े पापी के लिए भी द्वार बन्द नहीं करते और कभी यह विश्वास नहीं करते कि विश्व में कहीं भी ऐसा कोई द्वार है जिस पर यह लिखा हो 'जो इस द्वार के भीतर प्रवेश करता है, वह सब आशाओं को पीछे छोड़ जाए।' यदि परमात्मा ही समस्त सत्ता का केन्द्र है तो किसी के भी साथ धोखा नहीं किया जा सकता। बड़ा पाप मानवीय आत्मा की अन्तर्निहित शक्तियों में अविश्वास का

१ मार्कस ऑरेलियस का कहना है: 'जब क्रोध आने लगे तब इस बात का हमेशा ध्यान रखो कि क्रोध साहस का दूसरा रूप नहीं है, बल्कि नम्रता व भद्रता न केवल अधिक मानवीय गुण हैं, वरन् अधिक साहसपूर्ण भी हैं और जिनमें ये गुण हैं वही अधिक बलवान, साहसी और शक्तिशाली होते हैं, न कि क्रोधी और असन्तुष्ट व्यक्ति। मनुष्य सहिष्णुता निष्क्रियता के जितना ही निकट है उतना कि शक्ति और जैसे व्यथा कमजोरी की निशानी है वैसे ही क्रोध भी। क्योंकि इनमें दोनों प्रकार के व्यक्तियों को चोट पहुँचती है और दोनों हार जाते हैं।' (जॉन जैक्सन द्वारा किया गया 'मैडिटेशन्स' का अंग्रेजी अनुवाद (१९०६), [illegible] पृष्ठ १११ [illegible])। इसी पुस्तक में यह भी कहा गया है: 'देवताओं को जो अमर होते हैं, इस बात का क्षोभ नहीं होता कि उन्हें अनन्त काल तक इन बुरों को सहन करना पड़ेगा जिनकी संख्या बहुत बड़ी है और उनकी रक्षा भी करनी पड़ती है। बल्कि वे उन्हें हजारों तरह से सहायता देते हैं। और क्या तू, जिसका जीवन इस क्षण तक ही सीमित है, पापियों से परेशान हो जाएगा? और वह भी [illegible] कि तू स्वयं भी उन्हीं में से एक है।'

२. ऑगस्टाइन कहता है: 'मैंने अपनी अन्तरतम आत्मा में प्रवेश किया और अपनी [illegible] और अपनी आत्मा से भी परे मैंने एक अपरिवर्तनीय दिव्य प्रकाश देखा। जो सत्य को

पाप है। अच्छे जीवन का सार है अपने-आपको जानना और अपने प्रति झूठा न होना। इसका अर्थ यह नहीं है कि अपने विचार अपने पड़ोसियों पर थोपे जाएँ। प्रेम का अर्थ है प्रतिरोध न करना। हमें संघर्षों पर शक्ति से नहीं प्रेम से विजय पानी है। आदर्श के नाम पर बुराई का निरन्तर प्रतिरोध करते रहने के बजाय हम उसके अत्याचार को प्रेम से सहना होगा। पड़ोसी के प्रति प्रेम का अर्थ है बुराई के प्रति सहिष्णुता।

जिन लोगों ने उस परम सत्ता की झाँकी पाई है वे यह अनुभव करते हैं कि जब तक उसका विमर्शन उन्हें प्राप्त होता रहेगा तब तक वे कोई भूल नहीं कर सकते। वे स्वराट् हैं अपने निज के राजा और स्वामी हैं। उनका जीवन एक स्वतः स्फूर्त विकास है, वह रोजमर्रा के जीवन की लीक पर नहीं चलता। वह सप्राण होता है यन्त्रवत् नहीं। नैतिक भावना उनके लिए बाह्य नहीं होती उनकी आत्मा की गहराइयों में बद्धमूल होती है। इसलिए वे ऐसे काम भी करते हैं जिनसे दूसरे इज्जतदार लोग शरमाते या घबराते हैं। वे व्यवहार के अपने गुण पैमानों की चिन्ता नहीं करते। जिस तरह ऐसे विश्वासों को चुपचाप स्वीकार कर लेने से जिन्हें हम वास्तव में नहीं मानते बौद्धिक ईमानदारी का हनन होता है उसी तरह यदि हम समाज के ऐसे आदेशों की जिन्हें हमारी आत्मा स्वीकार नहीं करती लीक पर चलते रहें तो हमारी आत्मा का हनन होता है। बुद्ध ने कट्टर परम्पराओं के मुकाबले व्यक्तिगत सत्य का, वर्ण-विभाजन के मुकाबले में सामाजिक भावना को, बाह्य आचार के मुकाबले आन्तरिक भावना को प्रतिष्ठित किया था। यही बात सुकरात ईसा और अन्य ऐसे महापुरुषों के बारे में है, जिन्होंने गतिशील और सक्रिय दृष्टि पाई है।

स्वभावतः ऋषि लोग कट्टर संकीर्णता से मुक्त होते हैं और उदार सहिष्णुता की भावना से ओतप्रोत रहते हैं। वे उन सबका स्वागत करते हैं जो ऐसे ईश्वर की पूजा करते हैं जो किसी एक जगह प्रकट नहीं हुआ बल्कि घट-घटवासी है और जो विश्व की विविधता को सौहार्द और सहानुभूति से ग्रहण करते हैं। हुतात्मा जस्टिन ने मसीह के इस कथन का समर्थन किया है 'सभी

जानता है वह जानता है कि वह प्रकाश क्या है और जो उसे जानता है वह नित्य जीवन को जानता है। तू प्रेम है। और मैंने देखा है कि तू हर चीज का अच्छा बनाता है और मेरे लिए कोई चीज बुरी नहीं है। (कन्फेशन्स, VII १०)।

उपदेष्टाओं द्वारा कही गई सभी सत्य बात हमारे लिए स्वीकार्य हैं।[1] वे सभी आत्मा के उस सर्व-समन्वयी धर्म के सदस्य हैं, जिसमें उन सबका समावेश है जिनका कोई भी धर्म है जिसमें वे सब लोग आ जाते हैं जो यह मानते हैं कि संसार में एक ऐसा सत्य है जिसके पक्ष में और एक ऐसी बुराई है जिसके विरोध में संघर्ष किया जाना चाहिए। धार्मिक कट्टरता या असहिष्णुता यह प्रकट करती है कि संसार में सबके लिए एक ही धर्म का विधान कर दिया जाए और वह यह समझती है कि उसके धर्म विशेष में प्रतिबिम्बित ईश्वर की जो झाँकी है वही सही है और उसको मानने से ही मुक्ति मिल सकती है अन्यथा नहीं। वह धमकी देती है कि जो उसे स्वीकार नहीं करेंगे उन्हें मृत्यु के बाद नरक की यातनाएँ भोगनी पड़ेंगी क्योंकि आधुनिक लोकतन्त्रीय प्रणाली में इहलोक में तो खुले आम अत्याचार का निषेध है। यह एक ईश्वरवादी विचारधारा है जो कट्टरता की भावना को जन्म देती है। यदि ईश्वर सचमुच ही संसार से भिन्न और पृथक है तो मनुष्य को मुक्ति उसके विशेष कृपा-भाजन व्यक्तियों के द्वारा ही मिल सकती है। किन्तु जो लोग समस्त सत्ता के केन्द्र उस परम सत्ता पर विश्वास करते हैं वे जानते हैं कि प्रत्येक धर्म दैवीय कृपा की प्रतिक्रिया है जिसने हमें ऊँचा उठाया है। विभिन्न परम्पराएँ तो उन भाषाओं के समान हैं जिनमें धर्म के सीधे-सादे तथ्य अभिव्यक्त होते हैं। भाषा भले ही बदल जाए, भावना नहीं बदलती है। पूजा के सभी स्वरूपों में चाहे वे हमें कितने ही भद्दे और मूर्खतापूर्ण लगें एक सार्थकता है। आखिरकार हमारी अवधारणात्मक या काल्पनिक अभिव्यक्तियों की अपूर्णता या अस्वाभाविकता का कारण यह नहीं है कि संसार में कोई भी चीज पूर्ण नहीं है, बल्कि उसका कारण यह है कि संसार म

१ "हमें यह शिक्षा दी गई है और हमने यह घोषणा भी की है कि ईसा ईश्वर का प्रथम पुत्र है, वह ज्ञान और बुद्धिमत्ता है और उनके ज्ञान में मनुष्यों की सभी जातियाँ हिस्सा बटाती हैं। और जो लोग बुद्धि का अनुसरण करते हुए जीते हैं वे सभी ईसाई हैं, भले ही वे नास्तिक समझे जाते रहे हों जैसे कि ग्रीक लोगों में सुकरात और हेराक्लिटस और उन्हीं-जैसे दूसरे आदमी" यही नहीं कि प्लेटो के सिद्धान्त ईसा के सिद्धान्तों के विरोधी हैं, बल्कि वे उनके उससे अधिक सदृश नहीं हैं, जितने कि अन्य उपदेशकों—स्टोइकों कवियों और इतिहासकारों के सिद्धान्त हैं। क्योंकि हरेक ने वैसी वस्तु को अंशतः देखा जो दिव्य-तत्त्व बुद्धि के अनुकूल है और उसे ठीक ढंग से वर्णित किया। अन्य लोगों ने जो कुछ बातें अच्छी कही गई हैं वे सब हम ईसाइयों की सम्पत्ति हैं।" (एपोलोजी II XIII. १-)।

एक चीज पूर्व भी है जो इनसे भिन्न है। हमारी बौद्धिक व्याख्याएं या बयान हमारी भावी प्रगत्‍ दृष्टियों में बाधक तब बनते हैं जबकि हम उन पर संकीर्ण कट्टरता से विश्वास करने लगते हैं और यह भूल जाते हैं कि ये हमारे अनुभवों को जोड़-तोड़कर बनाये गए सिद्धान्त-मात्र हैं। सबसे बड़ी मूर्ति पूजा अक्षर की पूजा है। इसके अतिरिक्त हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि अधिकतर नर नारी एक खास धर्म को भी एक खास भाषा की भाँति इसलिए ग्रहण करते हैं कि वह एक खास स्थान में और एक खास समय पर पैदा हुए हैं। उनकी इस बात के लिए आलोचना नहीं की जा सकती कि उन्होंने अमुक माता-पिता के घर म ही जन्म क्यों लिया उनका ठीक चुनाव क्यों नहीं किया। इसमें व्यक्ति का लाभ ही है कि उसे एक पका-पकाया धर्म और एक सुप्रतिष्ठित धार्मिक परम्परा मिले जो युगों से और विचार तथा प्रक्रिया की प्रतिष्ठा के विकास से परिपक्व हो गए हों। परम्परा तभी तक उचित और मूल्यवान है जब तक कि वह हमारे भीतर भावना को जगाती है। यद्यपि कोई भी परम्परा अनुभव के अनुसार नहीं होती तथापि हर परम्परा म अपनी एक विशिष्टता और मूल्य होता है। यद्यपि सभी परम्पराएँ मूल्यवान होती हैं तथापि कोई भी परम्परा अन्तिम और अपरिवर्तनीय नहीं होता हर परम्परा तब तक बढ़ती और विकसित होती है जब तक उसके अनुयायी आध्यात्मिक दृष्टि से उद्बुद्ध होते हैं। यह तो एक ऐसी चिह्न प्रणाली है जो हर युग मे बदलती रहती है। आत्मा किसी नश्वर और अस्थायी आकार या रीति से बँधी हुई नहीं है। जो लोग आकारों और रीतियों को लेकर झगड़ते हैं वे ईश्वर के शब्दों को नहीं देखते उनकी आत्माओं को जगाते हैं उसके स्वर को नहीं सुनते उसकी प्रतिध्वनियों को सुनते हैं। अज्ञान के जगत मे लोग परम्पराओं का पगडंडियों की तरह मानकर उन पर चलते हैं। किन्तु ऋषि रास्ता के भी पीछे जाते हैं और अपने अनुभव के प्रकाश म उन्हें नया अर्थ प्रदान करते हैं। वे जिस सत्य की ओर संकेत करते हैं वह सिर्फ इसलिए नहीं बदल जाता कि हम पुराने प्रतीकों और चिह्नों के स्थान पर नये प्रतीक और चिह्न रख देते हैं। विभिन्न धर्म विभिन्न चिह्न और प्रतीक इस्तेमाल करते हैं और किसी एक धर्म के इतिहास में भी एक प्रतीक दूसरे प्रतीक का स्थान ले लेता है क्योंकि वह पहले प्रतीक की अपेक्षा अधिक सत्य होता है। ऋषियों में अन्य धर्मों के प्रति जो सहिष्णुता दिखायी देती है वह केवल उनकी बौद्धिक उदारता का प्रदर्शन-मात्र नहीं है बल्कि वह

आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से उत्पन्न निश्चय है।

यद्यपि व्यक्तिवादी धर्म में विश्वास रखते हैं और स्वतन्त्रता और स्वतःस्फूर्त प्रवृत्ति पर बल देते हैं। विज्ञान में यह सम्भव है कि सबके लिए समान स्तर और पैमाने निर्धारित किए जा सकें किन्तु कला और साहित्य तथा दर्शन और धर्म में व्यक्तिवाद अधिक सही है। मनुष्य की असीम की खोज किसी एक भाव या विधा तक ही सीमित नहीं है। विश्व-शक्ति की अपनी सन्तानों को विविध दिशाओं से जो पुकार होती है उसका तकाजा है कि मन को खुला और लचीला रखा जाए। यह हो सकता है कि धार्मिक प्रयत्न जो सैद्धान्तिक मान्यता को अनुभव में परिणत करने और ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया में बिछुड़े हुए जीव का उसके अपने सच्चे स्वरूप से मिलन कराने की चेष्टा करता है भावपूर्ण हृदय सक्रिय इच्छा या प्रबुद्ध मन में प्रारम्भ हो किन्तु उसका प्रारम्भ चाहे कहीं हो उसका परिणाम मनुष्य की समूची प्रकृति पर होता है और वह बदल जाती है। मन का एक विचार, इच्छा की एक उमंग और हृदय की एक आवश्यकता मनुष्य की सारी सत्ता को ही सक्रिय कर सकती है। स्वतन्त्रता आध्यात्मिक जीवन का सर्वोच्च नियम है। उपनिषद् में कहा गया है 'जैसे आकाश में पक्षी और समुद्र में मछलियाँ अपने पीछे कोई चिह्न छोड़े बिना विचरण करती हैं वैसे ही अध्यात्मदर्शी ईश्वर की ओर जाने के मार्ग पर बिना कोई चिह्न छोड़े विचरण करते हैं।' हर व्यक्ति ने अपने हृदय के रक्त से अपनी पूर्णता का मार्ग अंकित किया है। बुद्ध से जब दार्शनिक समस्याओं के उत्तर पूछे गए तो उन्होंने उनके स्पष्ट उत्तर देने से इसलिए इनकार नहीं किया कि वह स्वयं अनिश्चय की दशा में थे या निश्चित उत्तर देने से घबराते थे। बुद्ध अपने मन को किसी से भी कम निश्चित रूप से नहीं जानते थे वह अन्तिम सत्य को जानने में किसी से कम निर्भीक नहीं थे फिर भी उन्होंने अपने अनुयायियों के लिए कोई एक नियत धर्म या मत स्थिर करने से इनकार किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि हर व्यक्ति स्वयं अपनी शिक्षा ग्रहण करे। गुरु का काम तो केवल जिज्ञासा पैदा करना है, सत्य की सिद्धि या साक्षात्कार शिष्य का अपना काम है। 'इस विषय पर मैंने कुछ नहीं लिखा और न मैं लिखूँगा। यह ज्ञान भी अन्य ज्ञानों में विद्यमान अभिव्यक्ति के साधनों से परे है। वरन् स्वयं उस वस्तु (सत्ता) पर दीर्घकाल तक चिन्तन करने और उसके साथ रहने से एकाएक उठते हुए स्फुलिंग की भाँति चमकता है क्योंकि तब उसी

१ योग :

परम सत्ता को पाने के मार्ग का सफ़र बहुत धीमा है। हिन्दू और बौद्ध विचारधाराओं ऑरफ़िज़्म के रहस्यवाद प्लेटो के दर्शन और ईसाई मत के कुछ प्रारम्भिक रूपों में यह माना गया है कि खोये हुए स्वर्ग की पवित्र चाह के पूरा होने में बहुत समय लगता है। स्वर्ग से भ्रष्ट आत्माएँ जो इस समय कारागार की तरह पृथ्वी पर रह रही हैं कभी ऊपर और कभी नीचे घूमती रहती हैं और उनके पूर्व जीवन या जन्म के कर्म उनके उत्तर-जीवन या जन्म को प्रभावित करते हैं। हिन्दुओं का मत है कि आध्यात्मिक पूर्णता का लक्ष्य एक सुदीर्घ और धैर्यपूर्ण अध्यवसाय के बाद प्राप्त होता है। प्रत्येक जीवन प्रत्येक कार्य एक ऐसा कदम है जिसे हम आगे की ओर उठा सकते हैं या पीछे की ओर। अपने विचार और कर्म से हर व्यक्ति यह निश्चित करता है कि उसे अभी क्या बनना है। प्लेटो के अनुसार बुद्धिमान व्यक्ति प्रत्यक्ष जगत् से हटकर अपनी आभ्यन्तर और और आध्यात्मिक आँख हमेशा नित्य आदर्श की ओर लगाए रखता है और यदि वह अपना यह अध्यवसाय जारी रखे तो व्यक्ति स्थूल ऐन्द्रियिक देह के बन्धनों से मुक्त हो जाता है और मृत्यु के बाद वह तब तक ऊपर-ही ऊपर बढ़ता जाता है जब तक कि अन्ततः वह फिर से अपने नित्य प्रकाश के आवास में न लौट जाए। हमारे पाँव उच्चतर जीवन की राह पर रखे हुए हैं हालाँकि वे अनिश्चय की दशा में भटकते रहते हैं और राह भी बिलकुल स्पष्ट नज़र नहीं आती। उच्च आदर्श का आकर्षण हो सकता है किन्तु मनुष्य की समूची प्रकृति उसकी ओर ऊपर नहीं उठती। पूर्ण आत्मसमर्पण ही उसे प्राप्त करने का उपाय है किन्तु वह आसान नहीं है। लेकिन मनुष्य का कोई भी प्रयत्न व्यर्थ नहीं होता। व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार के मामलों में मनुष्य की आध्यात्मिक प्रतिष्ठा के फलितार्थों को हम अभी तक पूर्णतः प्राप्त नहीं कर सके। उसके लिए युगों तक प्रयत्न करना

१ डीन इंगे ने लिखा है : 'आत्मा के पूर्व अस्तित्व में विश्वास अधिक महत्वपूर्ण है, अमरता का एक दार्शनिक आधार बहुतेरों का प्रमाण हो सकता है। यूनान लोगों की रुचि में आत्मा के पूर्व-अस्तित्व का सिद्धान्त मृत्यु के बाद भी आत्मा के रहने या बने रहने के विश्वास के साथ मिला हुआ मिलता है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा के पूर्व-अस्तित्व पर अधिकतर यूनान लोगों का विश्वास नहीं था, और प्लेटो और नव-प्लेटोवादियों के अन्तर्वर्ती काल में तो यह एक तरह से लुप्त ही हो गया था। यह सम्भव है कि पैथागोरस और प्लेटो के सिद्धांत का अब भी भविष्य में कुछ मूल्य हो।' (दि लिगेसी ऑफ ग्रीस (१९२१) लिविंगस्टन द्वारा सम्पादित, पृ० ७४)।

पड़ता है और जन्म जन्मान्तर तथा अनेक स्तरों तक यह प्रक्रिया जारी रहती है।

११ मुक्ति

धर्म का उद्देश्य हमें अपनी क्षणिक और अर्थहीन एकदेशीयता से ऊपर उठाकर नित्य की सार्थकता और उच्च स्थिति तक पहुँचाना और जीवन की पराजयता और व्यामोह को विशुद्ध और अमर तत्त्व में जो उसकी आदर्श सम्भावना है रूपान्तरित करना है। यदि मानवीय मन अपने-आपको इतना बदल ले कि हमेशा दिव्य प्रकाश की भव्यता को अनुभव करे, यदि मानवीय भाव अपने आपको दिव्य आनन्द के परिमाण और गति में परिणत कर लें, यदि मानवीय कर्म दिव्य जीवन की सृजनात्मकता में हिस्सा बँटाएँ, यदि मानवीय जीवन दिव्य तत्त्व की पवित्रता में साक्षात्कार हो जाए और यदि इस समग्र उच्च जीवन को हम कायम रख सकें तो इस ब्रह्माण्ड प्रक्रिया का यह सुदीर्घ श्रम सफल होगा और शताब्दियों की विकास-परम्परा सार्थक सिद्ध होगी। व्यक्ति और समस्त मानव जाति में मानवीय जीवन की दिव्यता प्रदान करना महान् धर्मों का स्वप्न है। इसीको हिन्दू मोक्ष कहते हैं, बौद्ध निर्वाण और ईसाई स्वर्ग का राज्य कहते हैं। प्लेटो की दृष्टि में यह विशुद्ध प्रत्यय के निर्मल और निःस्पृह प्रत्यक्ष ज्ञान में युक्त जीवन है। यह मनुष्य का अपने स्वरूप को पहचानना, अपनी सत्ता का पुनः पूर्ण रूप में अवस्थित करना है। योग सूत्र के शब्दों में यह 'तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्' है। स्वर्ग कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ ईश्वर रहता है, बल्कि यह सत्ता की एक ऐसी अवस्था है, आत्मा का एक ऐसा जगत् है जिसमें ज्ञान, प्रेम और सौन्दर्य की उच्चतम स्थिति हमेशा विद्यमान रहती है। यह एक ऐसा जगत् है जिसमें हम सभी आत्मिक रूप में तत्काल प्रवेश कर सकते हैं, जिसे हम अपने

१ बुद्ध ने बौद्ध का दृष्टिकोण इस प्रकार व्यक्त किया है: "एक ऐसी स्थिति (आयतन) है जिसमें न पृथ्वी है, न जल, न अग्नि है, न वायु, न अनन्त आकाश है, न अनन्त चेतना, न अकिंचन है, न संज्ञा-असंज्ञा स्थिति। न यहाँ यह लोक है, न परलोक, न सूर्य है न चन्द्रमा। इसे न मैं आगमन कहता हूँ, न गमन, न स्थिति कहता हूँ, न च्युति और न उत्पत्ति; यह आलम्बनहीन है, निराधार है और निर्लक्षण है। यह वेदना का अन्त है। यह अनुत्पन्न, असंस्कृत, अजात और अनिर्मित स्थिति है। यदि यह ऐसी न होती तो उत्पन्न, संस्कृत, जात और निर्मित से किसी भी तरह मुक्ति नहीं हो सकती।" ([illegible] १.४।) बौद्धों के निर्वाण-सम्बन्धी दृष्टिकोण को विस्तार से जानने के लिए लेखक की पुस्तक 'इंडियन फिलासफी' भाग १, द्वितीय संस्करण (१९३१) देखिए।

भीतर और समाज के भीतर पूर्णता साकार कर सकता है। इसे ही हमें उसके लिए धैर्य से कठोर परिश्रम करना पड़े। ईसा के पुनर्जन्म की धारणा आत्मा के इस दृढ़ विश्वास की अभिव्यक्ति है कि एक आध्यात्मिक सत्ता वास्तविक रूप में विद्यमान है। विश्व की प्रक्रिया अपनी उच्चतम चरम अवस्था में तब पहुँचती है जब हर आदमी अपने-आपको अमृत आत्मा के रूप में ईश्वर के पुत्र के रूप में जानता है और वैसा हो भी जाता है। जब तक इस लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती तब तक प्रत्येक व्यक्ति विश्वव्यापी चेतना का केन्द्र रहता है। वह अहंकार की भावना के बिना काम करता रहता है। मुक्ति का अर्थ संसार से बाहर चले जाना नहीं है। मुक्ति का अर्थ जीवन से पलायन नहीं है। व्यक्ति इस विश्व ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया में अज्ञात और सीमित अस्मिता के रूप में नहीं रहता बल्कि वह एक ऐसी विश्व या विश्वव्यापी चेतना का केन्द्र बनकर रहता है जो समस्त व्यक्तिगत अभिव्यक्तियों को अपने आलिंगन में लेकर उनमें ऐक्य और सहस्वरता पैदा करती है। मुक्ति का अर्थ है अपनी आन्तरिक सत्ता में गम्भीर परिवर्तन करके संसार में मग्न रहना। आत्मा अपने-आप पर पूर्ण अधिकार रखती है और संसार के प्रलोभनों और आक्रमणों से अपनी शान्ति को भंग नहीं होने देती। आन्तरिक आध्यात्मिक ज्योति व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन को असम्भव नहीं बना देती। यदि मुक्त आत्माएँ ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया से सचमुच ही अलग हो जाएँ तो संसार का कभी भी मोक्ष नहीं हो सकेगा। वह हमेशा अनन्त झगड़ों और विग्रहों एवं अज्ञान और अन्धकार का आवास बना रहेगा। हिन्दू लोग मुक्ति की अनेक अवस्थाएँ मानते हैं किन्तु पूर्ण मुक्ति ही अन्तिम मुक्ति है। महायान बौद्ध सम्प्रदाय की मान्यता है कि बुद्ध ने निर्वाण की देहरी पर खड़े होकर यह प्रण किया था कि वह इस निर्वाण से तब तक संसारी प्राणियों के उद्धार के लिए लौटता रहेगा जब तक कि पृथ्वी पर एक भी व्यक्ति ऐसा है जो मुक्त नहीं हुआ। भागवत पुराण में यह प्रार्थना दी गई है — न मैं आठों सिद्धियों से परिपूर्ण जीवन चाहता हूँ न पुनर्जन्म से मुक्ति — मैं तो समस्त पीड़ित प्राणियों के दुःखों का वहन करना और उनमें प्रविष्ट होकर उन्हें दुःख से मुक्त कराना चाहता हूँ। महान् आत्माएँ जो आत्म पूर्णता चाहती हैं वह तब तक पूर्ण नहीं होती जब तक अन्य आत्माएँ भी यह पूर्णता प्राप्त न कर लें। जहाँ तक धार्मिक लोक का सम्बन्ध है व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का यह आदर आधुनिक लोकतन्त्र की कोई नयी खोज नहीं है। जब इस विश्व ब्रह्माण्ड प्रक्रिया से इस सत्य की प्रतीति होती है कि सभी प्राणी एक ही ईश्वर की सन्तानें

है जब भगवान् के सभी अपने आदमी पैगम्बर, उसके सन्देशवाहक बन जाते हैं जब यह विश्वव्यापी पुनर्जन्म होता है तब उस महान् विश्व-पुनर्जन्म की अन्तिम परिणति होती है जिसमे प्रकृति मुक्ति पाने का प्रयत्न करती है।

इस स्थिति मे हम धार्मिक अनुभव के विभिन्न वर्णनों को एक-दूसरे के निकट ला सकते है।

एक चेतना ऐसी भी होती है जो प्रत्यक्षीय काल्पनिक या बौद्धिक चेतना से भिन्न होती है और यही चेतना स्वतः प्रमाण और पूर्ण होती है। वास्तविक सत्ता के सम्बोध की प्राप्ति के इस सीधे स्वतःप्रमाण उपाय से ही सब युगों के धार्मिक पुरुषों ने ईश्वर को दृढ निश्चय और विश्वास के साथ जाना है।

व्यापक और बृहत्तर परिवेश व्यक्ति के अपने स्वरूप के अनुसार होता है और उसके साथ व्यक्ति अक्सर सम्पर्क मे आता रहता है। इस आध्यात्मिक परिवेश की व्याख्या मे भेद और अन्तर हो सकते हैं किन्तु यह सही है कि सत्य की खोज और सच्चाई को पाने के लिए उसमी जीवन का एकमात्र औचित्य और सार्थकता इसी मे है।

आत्मा और विश्व के बीच सर्वव्यापी ऐक्य के अन्तर्ज्ञान पर कभी-कभी इतना अधिक बल दिया जाता है कि हम एक ऐसे ईश्वर को भी जो हमारे प्रेम का प्रत्युत्तर दे सकता है या अपनी ऐसी आत्मा का भी जो वास्तव मे पूर्णतः स्वतन्त्र और व्यक्तिनिष्ठ हो मानने मे इनकार कर देते हैं।

जिन लोगो मे यह चेतना है कि वे समस्त आत्माएँ हैं उनके जीवन मे आत्मा की सर्वोच्चता की भावना अजेय आशावादिता अन्ततः सभी प्राणियों की मुक्ति की नैतिक भावना और धार्मिक सहिष्णुता भर कर जाती है।

स्थायी आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि धार्मिक प्रयत्न का उद्देश्य है और नैतिक जीवन और ईश्वर का ध्यान उसके उपाय हैं।

धार्मिक अनुभवो के ये सब वर्णन जिन प्रश्नों को उठाते हैं उन पर विस्तार से विचार करना सम्भव नहीं है सिर्फ उन पर कुछ सामान्य विचार ही किया जा सकता है जो इन वर्णनों की प्रामाणिकता की कसौटी उपस्थित कर सकता है।

४ बुद्धि और अन्तर्ज्ञान

यदि समस्त ज्ञान वैज्ञानिक ढंग का हो तो धार्म धर्म को दी चुनौती दी जा रही है वह अन्तिम और निर्णायक प्रतीत होगी। इस प्रकार समस्या हमारे सामने यह रह जाती है कि क्या अन्तर्ज्ञानात्मक सहज ज्ञान-जैसी कोई चीज वास्तव में है और यदि है तो वह किन परिस्थितियों में प्रामाणिक और स्वीकरणीय होती है। क्या ऐसा कोई ज्ञान हो सकता है जो तर्क-वाक्यों में प्रकट न किया जा सके और फिर भी विश्वसनीय हो?

१ पूर्वी विचारधारा में सृजनात्मक अन्तर्ज्ञान पर बल

सुकरात और भारतीय दार्शनिक का कथित संवाद यह सूचित करता है कि पश्चिम की समूची विचार-परम्परा में मनुष्य तत्त्वतः बौद्धिक और तार्किक प्राणी है वह केवल तार्किक ढंग से सोच सकता और उपयोगिता की दृष्टि से कार्य कर सकता है। पश्चिमी मन विज्ञान तर्क और मानवीयभाव पर बहुत बल देता है। इसके विपरीत हिन्दू विचारकों का मत आम तौर पर यह है कि हममें एक ऐसी शक्ति भी है जो तर्क-बुद्धि से अधिक अन्तरालवर्ती है और जिसके द्वारा हम यथार्थ सत्ता को उसकी अधिक घनिष्ठ और आन्तरिक वैयक्तिकता के साथ अनुभव करते हैं केवल उसके ऊपरी सतही और बाह्य पहलुओं को ही नहीं। हिन्दू विचारक फिलॉसफी को 'दर्शन' यानी अन्तर्दृष्टि कहते हैं। उनकी दृष्टि में यह सत्य का ऐसा दर्शन है जो तर्क और युक्ति प्रतियुक्ति और प्रमाण का विषय नहीं है। उनका विश्वास है कि मन को धीरे-धीरे साधना से आनुमानिक या परिकल्पित बुद्धि और मन पर पड़ी हुई अतीत की छापों से मुक्त किया जा सकता है और वह अपने ज्ञान के विषय के साथ ऐक्य स्थापित कर सकता है और तभी उस विषय के स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। उनका मत है कि हम सत्य की अनित

१ वैशेषिक सूत्र ९. २. १। निर्विकल्प प्रत्यक्ष-सी ज्ञान न होने वाले इस ज्ञान को अनेक नाम दिये गए हैं, यथा प्रज्ञा प्रतिभा आर्षज्ञान सिद्धदर्शन और योगिप्रत्यक्ष (अन्त की स्थान

म अपनी नियति को नियन्त्रित कर सकते हैं। ज्ञान का अर्थ है शक्ति। ज्ञान का अभाव ही समस्त दु खों का मूल है। 'विद्या मोक्ष है और अविद्या संसार।' अन्त ज्ञान स आत्मा को जानना ही मुक्ति का साधन है। जो जानता है वह उस ज्ञान क द्वारा ही मुक्त हो जाता है। अन्तर्ज्ञान और अन्तर्दृष्टि ही मोक्ष है। 'जो यह जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ वह ब्रह्म हो जाता है।'[१] 'जो उस परम ब्रह्म को जानता है वह स्वय ब्रह्म हो जाता है।' हम ब्रह्म को तब तक पूर्ण और सत्य रूप म नहीं जान सकते जब तक कि हम उसके स्वरूप के अग न बन जाएँ, उसके साथ तादात्म्य स्थापित न कर ल। ईश्वर को जानने का अर्थ है स्वयं दिव्य स्वरूप हो जाना भय या दुख पैदा करने वाले किसी भी बाह्य प्रभाव से मुक्त हो जाना। ब्रह्म पूर्ण सत्ता तो है ही शुद्ध ज्ञान और अन्तर्ज्ञान भी है। अन्तर्ज्ञान ससार के मूल तत्त्व के रूप में मूर्त होता है। हिन्दू दर्शन और धर्म क विभिन्न सम्प्रदायो में वेद को प्रमाण मानने का अर्थ यह स्वीकार करना है कि अन्तर्ज्ञान और अन्तर्दृष्टि दमन के गहन और दुर्बोध प्रश्नो के समाधान के लिए तार्किक सम्बोध की अपेक्षा अधिक बड़ा ज्ञान और आलोक हैं। उदाहरण के लिए शकर ने अनुभव को सबसे बड़ा मान माना है। वह अनुभव बिलकुल स्पष्ट और निर्विकल्पक न भी हो तो भी वह सुनिश्चित और सजीव होता है। बुद्ध ने बोधि अर्थात् ज्ञान के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। यह सब जानते हैं कि दार्शनिक बारीकियों और सूक्ष्मताओं को उसने कभी पसन्द नहीं किया। बुद्ध के अनुसार दार्शनिक बारीकियों म होने वाली दिमाग की कस रत उच्च जीवन म बाधा डालती है। वास्तविक सत्ता का ज्ञान आध्यात्मिक प्रयत्न स ही प्राप्त किया जा सकता है। चिन्तन और विचार के द्वारा यथार्थ सत्ता तक नहीं पहुँचा जा सकता। उस तक पहुँचने का उपाय है उसी म वास करना। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म म प्रज्ञा अथवा अन्तर्ज्ञान को मानवीय मन की उच्चतम क्रिया कहा गया है। हिन्दू और बौद्ध दोनों विचारधाराओ म मानवीय आत्मा की उच्च जीवन की आकाक्षा को ही ब्रह्माण्ड की व्याख्या की आधारभूत कुञ्जी मानने की प्रवृत्ति

मर्गी' पृष्ठ १ = 'आधार्ं प्दर' ८६)।

१ बृहदारण्यक उपनिषद् १ ४ ... १५।
२ मुण्डकोपनिषद् ३ २ ९।
३ मनुस्मृति, ७।
४ 'बोधि का अर्थ है ... दोनों के ... आधारभूत ... करता ... स्पष्ट हैं ... अर्थ ... करता। ... 'हिन्दी ... (१९१), पृष्ठ ५९। बुद्ध ... ने प्रज्ञा (अन्तर्ज्ञान) को ... (...) ... (...) म ... माना है।

रही है और दोनों में समस्त आलोचनात्मक दार्शनिक विचार इस तथ्य को ध्यान में रखते हैं।

२ पश्चिमी विचारधारा में आलोचनात्मक बुद्धि पर बल

यद्यपि पौरस्त्य विचारधारा की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें सृजनात्मक अन्तर्दृष्टि पर बल दिया जाता रहा है तथापि पश्चिमी विचारधाराओं ने आलोचनात्मक (ऊहापोहात्मक) बुद्धि का अधिक अवलम्बन किया है। किन्तु दोनों विचारधाराओं के इस अन्तर पर बहुत अधिक बल देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह अन्तर सापेक्ष है निरपेक्ष और पूर्ण नहीं है यह अन्तर सिर्फ उनकी मुख्य प्रवृत्तियों को प्रकट करता है किन्तु इन प्रवृत्तियों के अनेक अपवाद भी हैं। यह अन्तर सिर्फ यही बताता है कि दोनों विचारधाराओं में भिन्न-भिन्न बात पर आम तौर पर ज्यादा जोर दिया गया है।

यदि हम पैथागोरस की परम्परा पर विश्वास करें तो ग्रीक दर्शन की प्रणाली और उपलब्धियाँ दोनों ही गणित के उदाहरण से बहुत अधिक प्रभावित थीं। अरस्तू ने सुकरात के बारे में कहा है कि वह आगमनात्मक तर्क (इण्डक्टिव आर्ग्यूमेंट) और सार्वभौम परिभाषाओं का आश्रय लेता था। उसका मत था कि जो यथार्थ है उसका एक ऐसा आकार होना चाहिए जिसकी ठीक परिभाषा की जा सके। हर वस्तु अपने आकार के कारण ही होती है। नैतिक अवधारणाओं का स्पष्टीकरण इस दिशा में किसी भी सुधार की ओर पहला कदम है। सुकरात किसी भी सुझायी हुई परिभाषा की वास्तविक तथ्यों से परीक्षा करने का पक्षपाती था। प्लेटो की दृष्टि में रेखागणित ही आदर्श विज्ञान है। यहाँ तक कि ईश्वर भी हरेक वस्तु रेखागणित की आकृतियों से बनाता है। अरस्तू ने तर्कशास्त्र का आविष्कार किया। उसकी दृष्टि में मनुष्य प्रधानतः एक तार्किक प्राणी है। ग्रीक लोग तर्कशास्त्र को वस्तु की खोज का विज्ञान उतना नहीं मानते थे जितना कि उन प्रमाणित करने का विज्ञान मानते थे। प्राचीन ग्रीक लोगों का नागरिक जीवन विधान सभा और न्यायालयों के चारों ओर केन्द्रित था जहाँ मौखिक कुशलता और वाग्विदग्धता की बहुत अधिक आवश्यकता पड़ती है। उनका मुख्य उद्देश्य होता था विवाद में विजय प्राप्त करना और उसका मुख्य साधन था तर्क विज्ञान में निपुणता। किसी विचार की खोज या उसकी अभिवृद्धि के बजाय उसकी प्रति

देखिए ६ १ मेटाफिजिक्स पृ० ९८७ बी १०।

व्यक्ति और उसे दूसरों तक पहुँचाने को अधिक महत्त्व दिया जाता था। अरस्तू के ओर्गेनन में व्याकरण और तर्कशास्त्र का बहुत गहरा सम्बन्ध है। उसमें विचार का एक बँधे-बँधाए परम्परागत तरीके के अनुसार एक निश्चत साँचे में ढालने की प्रवृत्ति बढ़ गई। औपचारिक तर्कशास्त्र के नियम उस जगह तो सर्वोत्तम सिद्ध होते हैं जहाँ सब सत्य ज्ञात हो चुके हों और कोई भी अन्य ज्ञेय वस्तु शेष न हो किन्तु तर्कशास्त्र अज्ञात वस्तुओं की खोज और अनुसन्धान के स्वरूप और प्रगति के लिए कोई सीमा निर्धारित नहीं कर सकता।

इसमें सन्देह नहीं कि यह संक्षिप्त विवरण ग्रीक विचारधारा तथा दर्शन की जटिलता और विविधता पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त नहीं है। प्लेटो की शिक्षाओं का अभितेतर पक्ष ग्रीक विचार और चिन्तन को सम्भवतः उसका सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान है। प्लेटो की दृष्टि से मानसिक चिन्तन सबसे उच्च श्रेणी का ज्ञान है जो अव्यवहित होने के साथ-साथ बौद्धिक स्तर से ऊपर है। उसका विश्वास पारलौकिक अर्थात् आत्मा के अपने ही साथ वार्तालाप में था जो वैज्ञानिक ज्ञान नहीं है। अरस्तू ने ईश्वर के पूर्ण और निरपेक्ष आत्मज्ञान का उल्लेख किया है जो एक शुद्ध क्रिया है जो किसी नियम या सीमा में बँधी हुई नहीं है। यह विचार करने के लिए यह स्थान उपयुक्त नहीं है कि किस प्रकार पौरस्त्य विचारधारा ने ऑर्फिज्म के रहस्यवाद और पैथागोरस पर असर डाला और उसके द्वारा अन्ततः प्लेटो के दर्शन को प्रभावित किया। पैथागोरस और प्लेटो पर भारतीय विचारों का उससे कहीं अधिक प्रभाव पड़ा जितना कि ग्रीक लोग स्वीकार करने को तैयार हैं। किन्तु मोटे तौर पर यह कहना गलत नहीं होगा कि ग्रीक विचारकों ने 'युनिवर्सल्स' की समस्या की तर्क के द्वारा व्याख्या करने का प्रयत्न किया किन्तु वे स्वयं तर्क द्वारा स्वीकृत तथ्यों को उचित सिद्ध करने में सफल नहीं हुए।

१ [illegible] का कहना है कि प्लेटो की शिक्षाओं की [illegible] पैथागोरियन विचारों के अध्ययन का परिणाम है। [illegible] 'प्लेटोनिक ट्रेडिशन इन [illegible]' (१९२६) की आलोचना करते हुए कहा है : '[illegible] [illegible] ऑर्फिकवाद और पैथागोरसवाद के रूप में [illegible] [illegible] प्लेटो के [illegible] में [illegible]' (दि प्लेटोनिक ट्रेडिशन इन [illegible], [illegible])।

प्लोटिनस[1] और नव-प्लेटोवादी दोनों ही इस सम्बन्ध में सुनिश्चित थे कि अकेला तार्किक ज्ञान अपर्याप्त है। नव-प्लेटोवाद ने जिसका जन्म सिकन्दरिया में हुआ जहाँ पूर्वी विचार-पद्धति सर्वथा अज्ञात नहीं थी अधिक समन्वित और समवेत दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जिसमें तर्क की प्रक्रियाओं का आधार 'अव्यवहित अनुभव की सुनिश्चितता' को बनाया गया था। किन्तु तार्किकोत्तर दार्शनिकों[2] ने फिर से सुनिश्चितता की समस्या के समाधान के लिए विशुद्ध तार्किक मार्ग का आश्रय लिया और जैसे-जैसे प्राकृतिक विज्ञानों की अभिवृद्धि होने लगी और वे प्रेक्षण और परीक्षणों के द्वारा सिद्धि से ज्ञान की सीमाओं का विस्तार करने लगे वैसे-वैसे दर्शन को भी विज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित करने की प्रवृत्ति लोकप्रिय होने लगी। यद्यपि विद्वानों की अध्ययन प्रणाली इस प्रकार की थी कि उसमें उन प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता था जिनसे विश्वास सुदृढ़ होते थे और विचार विकसित होते थे तो भी उसकी प्रधान दिलचस्पी अनुसन्धान के तार्किक पक्ष में जितनी थी उतनी उसके व्यावहारिक पक्ष में नहीं थी। अनुसन्धान के यथार्थ रूप में यदि दिलचस्पी ली जाए तो वह स्वभावतः तार्किक व्याख्याओं को एक नियत सीमा से आगे नहीं बढ़ने देगा।

देकार्त की दृष्टि में जिससे आधुनिक यूरोपीय दर्शनशास्त्र ने एक नयी दिशा ग्रहण की है, सत्य का अर्थ है स्पष्टता और विविक्तता। जो चीज गणित के आकार में अभिव्यक्त की जा सकती है वह स्पष्ट और विविक्त होती है। देकार्त ने तर्क की विश्वव्यापी अवधारणाओं की एक प्रणाली स्थापित की। ये अवधारणाएँ कुछ आधारभूत तार्किक और गणितीय सम्बन्धों पर विचार करके बनायी गई हैं। अपने एक प्रसिद्ध वाक्य में उसने कहा है, 'गणितशास्त्र के नियमों से मुझे बहुत खुशी हुई। और यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ कि इतनी सुदृढ़ और ठोस नींव पर भी कोई अधिक ऊँची इमारत खड़ी नहीं की गई।'

१ प्लोटिनस भारतीय और ईरानी दर्शनशास्त्रों के अध्ययन का अवसर पाने के लिए ही गॉर्डियन की सेना के साथ गया था। यद्यपि मेसोपोटामिया में गोर्डियन की मृत्यु हो जाने से उसे मार्ग में ही रुक जाना पड़ा, तो भी इस बारे में उसका अभिप्राय स्पष्ट है।

२ मध्ययुग की शिक्षाप्रणाली के इस अध्ययन-क्रम को देखिए। (१) व्याकरण (२) अलंकार शास्त्र और (३) तर्कशास्त्र।

३ फिलासफिकल वर्क्स ऑफ देकार्त हाल्डेन और रॉस द्वारा अंग्रेजी में अनूदित (१९११) भाग १ पृष्ठ ८५। साथ ही तुलना कीजिए 'सत्य की ओर जाने के लिए सीधे मार्ग की अपनी खोज में हमें किसी ऐसी वस्तु में अपने आपको नहीं व्यस्त रखना चाहिए या सं-

उसकी विश्वव्यापी गणित की कल्पना और उसके इस विश्वास का कि सभी वस्तुएँ रेखागणित की वस्तुओं की भाँति परस्पर-सम्बद्ध हैं,[1] अर्थ यह है कि यह सारा संसार विशुद्ध यान्त्रिक संसार है। स्पिनोज़ा का तो कहना है कि आचार-शास्त्र में भी रेखागणित की विधि ही इस्तेमाल की जानी चाहिए। लाइबनित्ज़ की दृष्टि में मोनैड या प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले मन प्रत्यक्ष ज्ञान के आकार से भिन्न वस्तु नहीं हैं क्योंकि हर मोनैड यहाँ तक कि उसके प्रत्यक्ष ज्ञान की अन्तर्वस्तु का सम्बन्ध है एक-दूसरे से मिलता जुलता है। हर मोनैड अपने-अपने विशिष्ट कोण से पूर्ण विश्व को ही प्रतिबिम्बित करता है। किन्तु निम्नतम कोटि के मोनैडों पौधे और प्राणी दोनों को धुँधला और अस्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। और उच्चतम मन (ईश्वरीय मन) का ज्ञान पूर्णतः स्पष्ट विविक्त और पूर्ण होता है। हम मानव-प्राणी इन दोनों के बीच में हैं। ऐन्द्रियिक ज्ञानजन्य गुणों के हमारे प्रत्यय अस्पष्ट हैं और तर्क और गणित शास्त्र-सम्बन्धी प्रत्यय स्पष्ट और विविक्त हैं। हम अपने ऐन्द्रियिक प्रत्ययों को तर्क और गणित-शास्त्र पर आधृत प्रत्ययों में और तथ्यात्मक विचारों को तर्क द्वारा कल्पित विचारों में परिवर्तित करने का प्रयत्न करते हैं। लाइबनित्ज़ की दृष्टि में इस उद्देश्य की पूर्ति का अर्थ है विचार के विभिन्न सम्भावित रूपों की एक नियमबद्ध प्रणाली निर्धारित करना और साथ ही इस प्रणाली के अन्तर्गत नियम जिन विश्वव्यापी शाश्वत नियमों का पालन करते हैं उन्हें निश्चित करना। इस तरह की प्रणाली की एक योजना लाइबनित्ज़ ने तैयार की और इस तरह से वह प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र का आधार बन गई। बाद में बूल और पीनो जैसे रसल तथा अन्य व्यक्तियों की रचनाओं में इस तर्कशास्त्र का भारी विकास हुआ।

कान्ट का मूल उद्देश्य दर्शनशास्त्र को विज्ञान के सुरक्षित मार्ग पर ले जाना था और उसने इस सम्भावना पर विचार भी किया कि क्या दर्शनशास्त्र विज्ञान का रूप ले सकता है ताकि उसकी शर्तें निर्धारित की जा सकें। विज्ञान और दैनिक जीवन में जिस 'प्रकृति' से हमारा वास्ता पड़ता है वह उन

गणित और रेखागणित में वर्ण ज्यों के त्यों। सुनिश्चितता के बराबर सुनिश्चित न था।
(डिस्कोर्स ऑन मेथड)।

१ 'डिस्कोर्स ऑन मेटाफिज़िक्स' ... लाइबनित्ज़ ... (१६९?) भाग १ पृष्ठ ११।

अवबोध का परिणाम है जो विविध प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञानों को एक ऐसे तर्क द्वारा नियमबद्ध संसार में व्यवस्थित कर देता है, जिसे काण्ट ने परम्परागत आकारी या विश्लेषणात्मक तर्क से भिन्न संश्लेषणात्मक तर्क का नाम दिया है। उसके उत्तरवर्ती दार्शनिकों ने इस संश्लेषणात्मक तर्क को लेकर काण्ट की प्रणाली की अपूर्णताओं को दूर करने के लिए उसका उपयोग किया। काण्ट में एक बुद्धि गम्य संसार को नैतिक आचार का आधार मानकर चलने की जो प्रवृत्ति दीख पड़ती है, उसे उसके उत्तरवर्ती दार्शनिकों ने असंगत कहकर अस्वीकार कर दिया। इन्होंने प्रत्यक्ष जगत् को भी कवि-कल्पना कहकर उपेक्षित कर दिया। हेगल की विचारधारा में तर्क महज विचार का एक सिद्धान्त ही नहीं रह जाता बल्कि वह वास्तविकता और यथार्थता का वर्णन बन जाता है। वह एक वास्तविक प्रक्रिया का जिसके द्वारा पूर्ण आत्मा मानवीय चेतना प्रकृति इति हास समाज कला और धर्म में अध्याय द्वारा धारण किये गए विभिन्न आकारों से बने विश्व के रूप में अपने-आपको अभिव्यक्त करती है अमूर्त प्रतिपादन है। 'जो तर्कसंगत है वह यथार्थ है और जो यथार्थ है वह तर्कसंगत है।'[1] हेगल ने इतिहास को स्थापना (थीसिस) प्रतिस्थापना (ऐन्टीथीसिस) और संस्थापना (सिन्थेसिस) —इस त्रिविध क्रमिक प्रक्रिया के रूप में आत्मा की अभिव्यक्ति माना है। उसका यह सिद्धान्त एक ऐसी बौद्धिक संयोजना है जो मोटे तौर पर तथ्यों को एक प्रागनुभव (पहले से ही मान लिये गए) सूत्र (ए प्रायोराई फार मूला) में जबरदस्ती बाँधने का प्रयत्न करती है। हेगल का प्रभाव बाद के प्रत्ययवादियों में भी दृष्टिगोचर होता है। एडवर्ड केयर्ड ने कहा है 'कोई भी तथ्य जिसकी व्याख्या न की जा सके या जिसे किसी नियम में न बाँधा जा सके बुद्धिगम्य संसार में विद्यमान नहीं माना जा सकता।'[2] हेगल के अनुयायियों की दृष्टि में यथार्थ सत्ता का ज्ञान तत्वतः तार्किक ढंग से ही हो सकता है। बोसांके का दृष्टिकोण अधिक हेगेलवादी और ब्रैडले का अधिक काण्टवादी है। ब्रैडले के मत में विचार सापेक्ष सम्बन्धों के जगत् में ही गति करता है, वह अन्तिम यथार्थ सत्ता को कभी रूप या ठोस रूप में निर्धारित नहीं कर सकता।

1. हेगल : दि फिलॉसफी ऑफ राइट (डाइड का अंग्रेजी अनुवाद) (१८९६), पृष्ठ १०।
2. हेगेल, पृष्ठ १०२। इसके अतिरिक्त देखिये रिची : फिलासॉफिकल स्टडीज, पृष्ठ ११५। [illegible] : दि [illegible] ऑफ [illegible] एक्सपीरियेन्स (१९१२), भाग १ पृष्ठ ९८ और १९७।

यथार्थवादी लोग तर्कशास्त्र और वैज्ञानिक पद्धति के पुजारी हैं। यथार्थवादी विचारकों का विश्वास है कि ज्ञान का सर्वोत्तम साधन तर्क-बुद्धि है और अपने इस विश्वास के कारण ही उन्होंने विशिष्ट समस्याओं के सूक्ष्म निर्धारण में अपनी अधिकतर शक्ति लगायी है। व्यवहारवादियों का कहना है कि सोचने और बातचीत करने में बहुत गहरा सम्बन्ध है और वे चिन्तन को भाषा या अभिव्यक्ति से सम्बद्ध विषय मानते हैं। मैक्समूलर के शब्दों में 'सोचने का अर्थ है मन्द आवाज में बोलना और बोलने का अर्थ है ऊँची आवाज में सोचना।'

सुकरात के संवादों पर बल से आरम्भ कर रसेल के गणितीय तर्क तक पश्चिमी दार्शनिक विचारधारा का समूचा इतिहास तर्क की प्रधानता का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण रहा है। तर्कवाद हमारे हाड़-मांस में छिपा हुआ है और यही कारण है कि हम वैज्ञानिक ज्ञान पर विश्वास करते हैं और धार्मिक विश्वास को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। यदि 'सामान्य ज्ञान से ऊँची कोई शक्ति नहीं है' यदि 'धर्म की सत्यता' यानी धार्मिक अनुभव की प्रामाणिकता को हम 'संसार, मानवीय इतिहास, आत्मा और उसकी शक्तियों और क्षमताओं-सम्बन्धी विचार और ऊहापोह से तर्कसंगत अनुमान के द्वारा अथवा ज्ञान की इन वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्धों के ज्ञान से'[1] ही सिद्ध करना है तो हमारे लिए ईश्वर की सत्ता पर सुनिश्चित विश्वास कर सकना कठिन हो जाएगा। किन्तु धार्मिक जगत् में सदा यह मान्यता चली आती रही है कि जिन्होंने ईश्वर को अनुभूति से नहीं प्रत्युत स्वयं परिचय से पाया है उन्होंने उसे तर्क और ऊहापोह के निष्कर्षों से नहीं बल्कि अनुभव से पाया है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या अनुभव की प्रामाणिकता वैध और स्वीकरणीय है?

१ ज्ञान प्राप्ति के विभिन्न मार्ग

यद्यपि सभी प्रकार के संज्ञानात्मक अनुभवों से यथार्थ वस्तु का ज्ञान होता है तथापि यह ज्ञान तीन प्रकार से होता है—ऐन्द्रिय ज्ञान (प्रत्यक्ष) बौद्धिक तर्क (अनुमान) और अन्तर्ज्ञानात्मक बोध। प्रत्यक्ष ज्ञान हमें बाह्य संसार के बाहरी स्वरूप को जानने में सहायता देता है। इसके द्वारा हम वस्तुओं के इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य गुणों को जान पाते हैं। इस ज्ञान की प्रदत्त सामग्री (डेटा) प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन का विषय होती है जो इसका वर्णन करने के लिए

1 हेगेल : फिलॉसफी ऑफ रिलिजन, खण्ड १ (१९), अध्याय ११, पृ० १९६।

एक संकल्पनात्मक संरचना तैयार करता है।

तर्कजन्य ज्ञान विश्लेषण और संश्लेषण की प्रक्रियाओं से प्राप्त किया जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान से हमें जो ज्ञान-सामग्री प्राप्त होती है उसका हम विश्लेषण करते हैं और उस विश्लेषण के परिणाम उस प्रत्यक्षगम्य वस्तु का अधिक विशिष्ट ज्ञान प्रदान करते हैं। यह तर्कजन्य या संकल्पनात्मक ज्ञान अप्रत्यक्ष और प्रतीकात्मक होता है वह हमें उस वस्तु को और उसकी कार्य प्रणाली को सँभालने और नियन्त्रित करने में सहायता देता है। जैसे-जैसे अनुभव और विश्लेषण में वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे संकल्पनात्मक व्याख्याएँ बदलती रहती हैं। वे हमारे ज्ञान हमारी दिलचस्पी और हमारी क्षमताओं पर निर्भर हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुभवजन्य ज्ञान दोनों ही ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा हम व्यवहार में अपने परिवेश और परिस्थितियों पर नियन्त्रण प्राप्त करते हैं।

ये दोनों प्रकार के ज्ञान यथार्थ की प्राप्ति के लिए, जिसे ये उपलब्ध करने का प्रयत्न करते हैं, अपर्याप्त हैं। प्लेटो ने नित्य आकारों के संसार और ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष ज्ञान के अस्थायी आकारों में भेद पर बल दिया है। इनमें से प्रथम यथार्थ है और दूसरा अयथार्थ। प्रथम ज्ञान का विषय है और दूसरा सम्मति का। किन्तु यह स्पष्ट है कि तर्कजन्य ज्ञान से जानी गई वस्तुएँ उन वस्तुओं से भिन्न होती हैं जिन्हें हम प्रत्यक्ष के द्वारा जानते हैं। इसी आधार पर कभी-कभी यह तर्क भी दिया जाता है कि प्रत्यक्ष द्वारा जानी गई वस्तु अनुमान द्वारा संकल्पित वस्तु से अधिक यथार्थ होती है। किन्तु जब वस्तुतः बौद्धिक क्रिया हमारी ज्ञान की प्रक्रिया में आ घुसती है तो प्रत्यक्ष ज्ञान में होने वाली अव्यवहितता नष्ट हो जाती है। संकल्पनात्मक संश्लेषण कितना भी किया जाए वह प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत वस्तु की मूर्त पूर्णता और अव्यवहितता को फिर से लौटा नहीं सकता। ब्रेडले और बर्गसाँ ने तर्कजन्य ज्ञान की प्रतीकात्मकता पर बल दिया है। भौतिक या अभौतिक कोई भी वस्तु हो हमारी बुद्धि उसके बाहर-ही-बाहर रहती है वह हमें उसके अन्तरतम तक नहीं ले जाती। जो व्यक्ति मित्र के सम्बन्ध में बात करता है और उसके स्वरूप और उसकी परिस्थितियों के बारे में चर्चा करता है वह मित्र के बारे में और सब-कुछ जानता है, सिर्फ मित्र को ही नहीं जानता है। बर्गसाँ की दृष्टि में समस्त बौद्धिक विश्लेषण यथार्थ का अपमान है उसका मिथ्याकरण है क्योंकि वह उसकी एकता को विभिन्न शब्दों परिभाषाओं और सम्बन्धों में विभक्त कर देता है।

विचार 'यह' (तत्) के यथार्थ रूप और 'जो' (यत्) के अमूर्त रूप के भेद में घूमता रहता है। किन्तु यह 'जो' (यत्) चाहे कितना भी व्यापक हो उसमें समस्त वर्तमान यथार्थ सत्ता का समावेश नहीं हो सकता।[1] बौद्धिक प्रतीक प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत यथार्थ का स्थान कभी नहीं ले सकते। इसके अतिरिक्त अनुभूति और भावना का समस्त जीवन 'मानव देह के हर्ष और व्यथाएँ तथा आत्मा की पीड़ाएँ और आनन्द' विचार के क्षेत्र से बाहर रहते हैं। यदि विचार को जीवन के इन पक्षों के बोध के योग्य और सक्षम बनना है तो वह 'तर्क और ऊहापोह के विचार से भिन्न विचार हो जाएगा। तब वह अधिक पूर्ण अनुभव में निमग्न होगा।[2] ब्रैडले ने विवेक और निर्धारण से सत्ता को स्वरूप से पृथक करने का जो आग्रह किया है और दोनों के पृथक्करण के आधार के रूप में उनकी एकता पर जो बल दिया है उससे सिद्ध होता है कि ऊहापोहमय तर्क में भी एक बड़ा बोध अयथार्थ नहीं है। यथार्थ वस्तु की एकीकृत व्यापकता का ज्ञान हम विचार में नहीं अनुभूति में होता है जिसे ब्रैडले ने उच्चतर एकता की संज्ञा दी है, 'जिसमें विचार अनुभूति और इच्छा एक समवेत रूप में उपस्थित रहते हैं। यह समग्र मानव का मूलनात्मक प्रयत्न है जो मात्र बौद्धिक प्रयत्न से भिन्न है और यथार्थता को पूर्ण अपेक्ष जान सकता है। ब्रैडले का कहना है 'हम एक पूर्ण अनुभव का सामान्य प्रत्यय बना सकते हैं जिसमें समस्त प्रपंचात्मक भेद विलीन हो जाते हैं, और एक पूर्ण समग्र का एक उच्चतर स्तर पर अव्यवहित ज्ञान होता है जिसकी अविकलता और परिपूर्णता में कोई कमी नहीं होती।

४ संकल्पनात्मक ज्ञान पर बर्गसाँ के विचार

बर्गसाँ के अनुसार संकल्पनात्मक विश्लेषण से वस्तु के घटक अवयव प्राप्त नहीं होते बल्कि उसकी विभिन्न अभिव्यक्तियाँ प्राप्त होती हैं। जब हम सूर्यास्त का विश्लेषण करते हैं तो उसमें हम सूर्य के घटकों का अंश अर्थात् स्वयं सूर्यास्त नहीं मिलता जिसका एक अपना सौन्दर्य है बल्कि उसमें हम एक संकल्पनात्मक प्रतीक प्राप्त होता है जिसमें सोना और प्रकाश आदि के गुण हैं। कुछ पूर्णों का

१ देखिए 'अपीयरेंस एण्ड रियलिटी' [illegible] (१ २) अध्याय १५।
देखिए 'अपीयरेंस एण्ड रियलिटी', [illegible] पृ० [illegible]।
२ देखिए 'अपीयरेंस एण्ड रियलिटी', [illegible]।

विज्ञान तत्वतः उपयोगितावाद के आधार पर चलता है, इसलिए उसकी विधि और पद्धति दोषपूर्ण होती है। विज्ञान क्रियात्मक और क्रियाभिमुख होने के कारण अपनी गतिशीलता व परिवर्तन को ग्रहण नहीं कर पाता। हम जड़ और गतिहीन वस्तुओं को मिलाकर गति का निर्माण नहीं कर सकते। यथार्थ सत्ता जीवन, गति कालावधि और मूर्त नैरन्तर्य है, जबकि तर्कबुद्धि से प्राप्त होने वाली संकल्पनाएँ कालहीन, गतिहीन और मृत होती हैं। यदि समस्त ज्ञान संकल्पनात्मक ही होता तो सत्य न केवल मानवीय मन की पकड़ से बाहर होता बल्कि स्वयं सर्वज्ञ की पकड़ से भी अतीत होता। बर्गसा का कहना है कि पूर्ण निरपेक्ष ज्ञान का सही साधन बुद्धि नहीं अन्तर्ज्ञान है।

२. क्रोचे

क्रोचे की सम्मति यह है कि तर्कनिमित ज्ञान हमें व्यक्ति और यथार्थ से दूर हटाकर अमूर्त जगत् में ले जाता है, जबकि अन्तर्ज्ञान हमें व्यक्ति का ज्ञान प्रदान करता है। उसका कहना है, 'ज्ञान के दो रूप हैं, वह या तो अन्तर्ज्ञानात्मक होता है या तर्कात्मक, कल्पना से प्राप्त ज्ञान या बुद्धि से प्राप्त ज्ञान, व्यक्ति का ज्ञान या निखिल विश्वव्यापी ज्ञान, संक्षेप में ज्ञान या तो बिम्बों का जनक होता है या संकल्पनाओं का।'[1] कल्पना से हम व्यक्तिगत वस्तुओं को आकृति प्रदान करते हैं और विचार के द्वारा हम उन बिम्बों (आकृतियों) को विश्वव्यापी संकल्पनाओं के रूप में सम्बद्ध करते हैं। कला-सम्बन्धी क्रिया से सजीव और सप्राण यथार्थ वस्तु को ग्रहण किया जाता है, भले ही कलाकार यह न जानता हो कि वह यथार्थ वस्तु का ग्रहण कर रहा है। कला गलती नहीं कर सकती, परन्तु वह यह नहीं जान सकती कि वह गलती नहीं कर सकती। कोई भी बौद्धिक उत्पादन उसे विचलित नहीं कर सकता। संक्षेप में बर्गसा और क्रोचे दोनों अलग अलग ढंग से यही बात कहते हैं कि बुद्धि जीवन को जड़ कर देता है और उसे संकल्पनाओं में बाँध देती है।

३. अन्तर्ज्ञानात्मक ज्ञान

इस प्रकार एक ऐसा ज्ञान भी है, जो संकल्पनात्मक ज्ञान से भिन्न है जिसके द्वारा हम वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में देखते हैं, तरह किसी वर्ग के

[1] [illegible] पृ. ५६।

किया जाता है, यह संकल्पना और तर्क के द्वारा सोची गई 'आत्मा' से भिन्न होता है। अव्यवहित रूप से अनुभव की गई वस्तु संकल्पना द्वारा संसृष्ट वस्तु से भिन्न होती है। अनुभव में अव्यवहित रूप से जानी गई आत्मा 'जो' (यत्) के रूप में नहीं 'यह' (तत्) के रूप में जानी जाती है। इस अव्यवहित बोध में हमें सत्ता के साथ परिचय का ज्ञान होता है, न कि उसके स्वरूप या प्रकृति का ज्ञान। जिस वस्तु का अव्यवहित बोध होता है, वह एक विशिष्ट अद्वितीय वस्तु के रूप में ज्ञात होती है, अर्थात् उस समय वही समस्त अनुभव का विषय होती है, शेष सब अविषय। जिस समय आत्मा का वास्तविक यथार्थ सत्ता के रूप में अव्यवहित अन्तर्ज्ञानात्मक बोध होता है, उस समय ज्ञान की क्रिया के कर्ता और कर्म का भेद वास्तविक नहीं होता, सिर्फ तर्काश्रित ही होता है। जो जानता है और जो जाना जाता है (बुद्धि और बुद्धि का विषय) वस्तुतः एक ही वस्तु है।

अनेक पश्चिमी विचारकों ने शंकर के इस विचार का समर्थन किया है। देकार्त का सन्देहवाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचकर अन्त में आत्मचेतना की अन्तर्ज्ञानात्मक सुनिश्चितता से टूट जाता है। 'क्योंकि मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ' (कोगिटो एर्गो सुम)। दुर्भाग्य से देकार्त का यह कथन भ्रामक है। आत्मज्ञान तो इतनी मौलिक और इतनी सीधी-सादी चीज है कि उसके लिए किसी 'क्योंकि और इसलिए' वाली हेतु की गुंजायश नहीं है। यदि 'मैं हूँ' इस बात पर निर्भर है कि 'मैं सोचता हूँ' तो 'मैं सोचता हूँ' भी किसी अन्य 'क्योंकि और इसलिए' पर निर्भर होगा और इस प्रकार कार्य-कारण की एक ऐसी शृंखला बन जाएगी जिसका कहीं अन्त नहीं होगा। हेगेल का कहना है कि 'जो व्यक्ति इसे हेत्वनुमान कहता है उसे हेत्वनुमान के सम्बन्ध में इससे कुछ अधिक जानना चाहिए कि उसमें एक 'क्योंकि और इसलिए' होता है। हम यह 'हेतु' कहाँ तलाश करेंगे? 'कॉगिटो एर्गो सुम' यह उक्ति जिस पर आधुनिक दर्शन के सम्पूर्ण इतिहास का भवन खड़ा है, उसके रचयिता द्वारा एक स्वतः सिद्ध सत्य के रूप में प्रारम्भ की गई थी, न कि हेत्वनुमान के रूप में।'[१] यह अनुमान नहीं है, बल्कि एक अद्वितीय तथ्य का कथन है। आत्मचेतना में विचार और सत्ता अविभाज्य रूप से मिले हुए हैं। आत्मा प्रथम निरपेक्ष सुनिश्चित ज्ञान है, समस्त तार्किक प्रमाणों

१ एन्साइक्लोपीडिया हीगेल ६ ४ १।
लॉजिक आफ हेगेल, वैलेस का अंग्रेजी अनुवाद, (१८७४) खण्ड ६४।

अवयव या समूह की इकाई के रूप में न जानकर उनके अपने विशिष्ट और सर्वथा पृथक रूप में जानते हैं। यह अप्रत्यक्ष अव्यवहित ज्ञान है। केवल प्रत्यक्ष ज्ञान ही अव्यवहित ज्ञान नहीं होता। हिन्दू दार्शनिक प्रत्यक्ष ज्ञान के मुकाबले एक परोक्ष ज्ञान मानते हैं जो प्रत्यक्ष की भाँति ही अव्यवहित होता है। यह परोक्ष अन्तर्ज्ञान मन और यथार्थ वस्तु के बीच घनिष्ट ऐक्य से पैदा होता है। यह ज्ञान तादात्म्य हो जाने से तन्मय हो जाने से प्राप्त होता है, यह इन्द्रियों या प्रतीकों से प्राप्त नहीं होता। यह वस्तुओं के साथ तादात्म्य के द्वारा सत्य का ज्ञान है। हम सत्य के साथ ज्ञेय वस्तु के साथ एकत्व स्थापित करते हैं। ज्ञात वस्तु ज्ञाता के 'स्व' से बाहर की वस्तु के रूप में नहीं बल्कि 'स्व' के अंग के रूप में ही ज्ञात होती है। अन्तर्ज्ञान जो कुछ प्रकट करता है वह एक सिद्धान्त उतना नहीं होता जितना कि चेतना होता है। यह मन की एक स्थिति होता है न कि ज्ञेय वस्तु का लक्षण। भाषा और तर्क निम्न कोटि की वस्तुएँ हैं इस प्रकार के ज्ञान का घटिया रूप है। इस बृहत्तर स्वतः सत् ज्ञान में जो कुछ छिपा हुआ है, विचार उसे तार्किक रूप में प्रकट और प्रस्तुत करने का साधन है। ज्ञान वास्तव में ज्ञाता और ज्ञेय के बीच सामान्य और सन्निकट ऐक्य है।[1] तार्किक ज्ञान में हमेशा द्वैत होता है वस्तु के ज्ञान और अस्तित्व में भेद होता है। विचार यथार्थ सत्ता को प्रकट करने में समर्थ है, क्योंकि तत्त्वतः वे दोनों एक ही हैं किन्तु आनुभविक स्तर पर दोनों की सत्ता अलग-अलग है। किसी वस्तु को जानना और वह वस्तु हो जाना अलग-अलग बातें हैं। इसलिए विचार की बाद में पुष्टि आवश्यक हो जाती है।

यथार्थ वस्तु के कुछ ऐसे पहलू भी हैं जिनमें इसी प्रकार का ज्ञान ही उपयुक्त और सक्षम होता है। उदाहरण के लिए क्रोध के भाव को लीजिए। इसके बाह्य तथ्यी रूप के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं है। इसका बौद्धिक या तार्किक ज्ञान भी तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि कहीं बाहर से उसकी आधारभूत तथ्यसामग्री उपलब्ध न हो और इन्द्रियाँ उसे उपलब्ध नहीं करा सकतीं। इससे पूर्व कि तर्कबुद्धि भाव की मानसिक स्थिति का विश्लेषण करे, उसे उस तक पहुँचना चाहिए और वह स्वयं उस तक पहुँच नहीं सकती। क्रोध ऐसा

[1] 'मनुष्य उसी वस्तु पर तर्क के द्वारा विचार करता है जिस पर स्वयं आत्मा नहीं रहते हुए पूर्ण तरह प्रकाश को खोजता नहीं वह उस वस्तु के प्रकाश पर विचार करता है जिससे कि वह स्वयं बना हुआ होता है।' (प्लाटिनस ५ १—५)।

किया जाता है वह तकल्पना और तर्क के द्वारा सोची गई 'आत्मा' से भिन्न होता है। अव्यवहित रूप से अनुभव की गई वस्तु तकल्पना द्वारा संसृष्ट वस्तु से भिन्न होती है। अनुभव में अव्यवहित रूप में जानी गई आत्मा 'जो' (यत्) के रूप में नहीं वह (तत्) के रूप में जानी जाती है। इस अव्यवहित बोध में हमें सत्ता के साथ परिचय का ज्ञान होता है न कि उसके स्वरूप या प्रकृति का ज्ञान। जिस वस्तु का अव्यवहित बोध होता है वह एक विशिष्ट अद्वितीय वस्तु के रूप में ज्ञात होती है अर्थात् उस समय वही समस्त अनुभव का विषय होती है शेष सब अविषय। जिस समय आत्मा का वास्तविक यथार्थ सत्ता के रूप में अव्यवहित अन्तर्ज्ञानात्मक बोध होता है उस समय ज्ञान की क्रिया के कर्ता और कर्म का भेद वास्तविक नहीं होता सिर्फ तर्काश्रित ही होता है। 'जो जानता है और जो जाना जाता है (बुद्धि और बुद्धि का विषय) वस्तुतः एक ही वस्तु है।

अनेक पश्चिमी विचारकों ने शंकर के इस विचार का समर्थन किया है। देकार्त का सन्देहवाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचकर अन्त में आत्मचेतना की अन्तर्ज्ञानात्मक सुनिश्चितता से टूट जाता है। 'क्योंकि मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ' (कोजिटो एरगो सुम)। दुर्भाग्य से देकार्त का यह कथन भ्रामक है। आत्मज्ञान तो इतनी आदिम और इतनी सीधी-सादी चीज है कि उसके लिए किसी 'क्योंकि और इसलिए' वाली हेतु की गुंजायश नहीं है। यदि 'मैं हूँ' इस बात पर निर्भर है कि 'मैं सोचता हूँ' तो 'मैं सोचता हूँ' भी किसी अन्य 'क्योंकि और इसलिए' पर निर्भर होगा और इस प्रकार कार्य-कारण की एक ऐसी शृंखला बन पड़ेगी जिसका कहीं अन्त नहीं होगा। हेगेल का कहना है कि 'जो व्यक्ति इसे हेत्वनुमान कहता है उसे हेत्वनुमान के सम्बन्ध में 'इससे कुछ अधिक जानना चाहिए कि उसमें एक 'क्योंकि और इसलिए' होता है। भ्रम यह 'हेतु' कहाँ तलाश करेंगे? 'कोजिटो एरगो सुम' यह उक्ति जिस पर आधुनिक दर्शन के समूचे इतिहास का भवन खड़ा है उसके रचयिता द्वारा एक स्वतः सिद्ध सत्य के रूप में प्रारम्भ की गई थी न कि हेत्वनुमान के रूप में।[२] यह अनुमान नहीं है, बल्कि एक अद्वितीय तथ्य का कथन है। आत्मचेतना में विचार और सत्ता अविभाज्य रूप से मिले हुए हैं। आत्मा प्रथम निरपेक्ष सुनिश्चित ज्ञान है, समस्त तार्किक प्रमाणों

१ परिच्छेद्य श्री पेम १ ४१२।
२ वालिस कॉफ हेगेल लैंगस का अंग्रेजी अनुवाद, (१ ७४) अध्याय ६ ।

का ही परिणाम है। तथ्य के निर्णयों के लिए निष्पक्षता और निरभिनिविष्टता की आवश्यकता होती है किन्तु इसके विपरीत मूल्यों के निर्णय मनुष्य के अपने सजीव अनुभव पर ही निर्भर करते हैं। किसी कार्य की योजना सही है या गलत, कोई वस्तु सुन्दर है या कुरूप इसका निर्णय वही मनुष्य कर सकते हैं जिनका अन्तःकरण प्रशिक्षित है और जिनकी संवेदनशीलता सधी हुई है। तथ्य सम्बन्धी निर्णयों के सही या गलत होने की परख आसानी से की जा सकती है, जबकि मूल्य-सम्बन्धी निर्णयों की नहीं। किसी गुण के प्रति संवेदनशीलता जीवन का काम है वह केवल सीखकर प्राप्त नहीं की जा सकती। वह आत्मविकास की मात्रा पर निर्भर है।

इसके अलावा जिस वस्तु को हम आम तौर पर इन्द्रियों से प्रत्यक्ष रूप में जानते हैं या बुद्धि द्वारा अनुमान से जानते हैं वह अन्तर्ज्ञान से भी जानी जा सकती है। हम वस्तुओं को इन्द्रियों के माध्यम के बिना भी देख सकते हैं और सम्बन्धों को उनका लम्बा-चौड़ा विस्तार किये बिना स्वतः स्फूर्त रूप से देख सकते हैं। दूसरे शब्दों में हम किसी भी प्रकार की यथार्थ वस्तु को सीधा जान सकते हैं। सामान्य परिस्थितियों में हम तब तक यह जानने के अयोग्य प्रतीत होते हैं कि दूसरे के मन में क्या है जब तक कि वह उन बातों या संकेतों द्वारा प्रकट न करे। किन्तु मनोविद्या (टेलीपैथी) के तथ्यों ने यह सिद्ध कर दिया है कि एक मन दूसरे के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित कर सकता है।

के द्वारा अपने अतीत अनुभव को संचित करती हुई अपने भावी उद्गम की ओर बढ़ती जाती है बल्कि वह विशुद्ध सत् मात्र है जिसका न कोई अतीत इतिहास है और न भविष्य का लक्ष्य। वह अविभाज्य वर्तमान है जिसमें काल का विभाजन असंगत है। हम यह विशुद्ध सत् तब बनते हैं या उसके निकट तब पहुँचते हैं जब हम वास्तविक आनन्द के विरले क्षणों में होते हैं। हमें विशुद्ध निरवाधिक सत्ता का अन्तर्दर्शन तब तक नहीं हो सकता जब तक कि जो कुछ हम देखते हैं उसे बुद्धि द्वारा विभाजित की जानेवाली विभिन्न श्रेणियों में बाँटकर गलत प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति से हम छुटकारा न पा लें। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि हम विशुद्ध सत् का अन्तर्ज्ञानात्मक अनुभव तभी कर सकते हैं जबकि हम तन्मय हो जाएँ। साधारणतः हमारा जीवन विशुद्ध सत् मात्र नहीं है क्योंकि वह अंशतः यान्त्रिक है। इस तरीके से बर्गसाँ ने इस मन्त्व का प्रतिपादन किया है कि ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान के भेद के साथ कार्य करने वाली बुद्धि आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती क्योंकि आत्मज्ञान में इन तीनों में भेद नहीं होता। बुद्धि गति की आधारभूत एकता की उपेक्षा कर देती है। गति अविभाज्य है और विभिन्न आकारों में बँटी हुई नहीं है। अन्तर्ज्ञानात्मक आत्मज्ञान अपने-आपको ज्ञान की एक और अखण्ड क्रिया के रूप में जानता है—एक ऐसी क्रिया के रूप में जो अपनी आत्मसत्ता के साथ एक है। अन्य मनों को हम अन्तर्ज्ञानात्मक अवबोध या सहानुभूतिशील व्याख्या के द्वारा ही जानते हैं।

जीवन की गम्भीरतम और गुह्यतम वस्तुओं का ज्ञान हमें अन्तर्ज्ञानात्मक अवबोध के द्वारा ही होता है। हम उनकी सत्यता पर विश्वास कर लेते हैं उसके लिए तर्क नहीं करते। मूल्यों के क्षेत्र में हम इस प्रकार के ज्ञान पर बहुत अधिक निर्भर करते हैं। मूल्यों का स्वीकार और सृजन अन्तर्ज्ञानात्मक चिन्तन

१ क्रियेटिव एवोल्यूशन अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ११ ।

२. तुलना कीजिए : ग्रोस्टेस्ट "सत्य की सत्ता है, वह सदा सुनिश्चित है। वह ज्ञान हम अनुमान या उपमान से नहीं जानते बल्कि वह एक स्वतः विश्वास है जो एक विशिष्ट प्रकार के अनुभव से बलात् हम पर थोपा जाता है।" (रॉयस, धरम एवं दर्शन (१९१), भाग १ पृष्ठ ६०)। यह कहना गलत नहीं होगा कि किसी भी वस्तु के, उसके समस्त सम्बन्धों सहित (जिनमें हमारी संवेदनशील प्रकृति के साथ सम्बन्ध भी शामिल हैं), पूर्ण ज्ञान का अर्थ होगा उस वस्तु का निर्माण। कारण क्या हम सम्बन्ध की सर्वाङ्गीणता से भिन्न कल्पना कर सकते हैं ? यदि मैं दूसरे व्यक्ति को उसके सम्पूर्ण रूप में जानता तो मैं स्वयं वह व्यक्ति हो जाता। (रिव्यू मार्सल भाग १९ पृष्ठ ११)।

का ही परिणाम है। तथ्य के निर्णयों के लिए निष्पक्षता और निरभिनिविष्टता की आवश्यकता होती है किन्तु इसके विपरीत मूल्यों का निर्णय मनुष्य के अपने सजीव अनुभव पर ही निर्भर करते हैं। किसी कार्य की योजना सही है या गलत कोई वस्तु सुन्दर है या कुरूप इसका निर्णय वही मनुष्य कर सकता है जिसका अन्तःकरण प्रशिक्षित है और जिसकी संवेदनशीलता सधी हुई है। तथ्य सम्बन्धी निर्णयों के सही या गलत होने की परख आसानी से की जा सकती है, जबकि मूल्य-सम्बन्धी निर्णयों की नहीं। किसी गुण के प्रति संवेदनशीलता जीवन का कार्य है वह केवल सीखकर प्राप्त नहीं की जा सकती। वह आत्मविकास की मात्रा पर निर्भर है।

इसके अलावा जिस वस्तु को हम आम तौर पर इन्द्रियों से प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं या बुद्धि द्वारा अनुमान से जानते हैं वह अन्तर्दर्शन से भी जानी जा सकती है। हम वस्तुओं को इन्द्रियों के माध्यम के बिना भी देख सकते हैं और सम्बन्धों को उनका लम्बा-चौड़ा विस्तार किये बिना स्वतः स्फूर्त रूप में देख सकते हैं। दूसरे शब्दों में हम किसी भी प्रकार की यथार्थ वस्तु को सीधा जान सकते हैं। सामान्य परिस्थितियों में हम तब तक यह जानने के अयोग्य प्रतीत होते हैं कि दूसरे के मन में क्या है जब तक कि वह उसे वाणी या संकेतों द्वारा प्रकट न करे। किन्तु मनोविद्या (टैलीपैथी) के तथ्यों ने यह सिद्ध कर दिया है कि एक मन दूसरे के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित कर सकता है।

७ अन्तर्दर्शन और कल्पना :

वस्तु की यथार्थता वह चीज है जो अन्तर्दर्शनात्मक बोध को महज कल्पना से पृथक् करती है। बाह्य वस्तुओं के सामान्य प्रत्यक्ष ज्ञान में हमें एक ऐसी वस्तु का सीधा और अनिवार्य भान होता है जिसका एक अपना निश्चित स्वरूप होता है। इस स्वरूप को हम अपनी इच्छाओं और कल्पनाओं से बदल नहीं सकते। उसी प्रकार अन्तर्दर्शनात्मक चेतना में भी ऐसी यथार्थ वस्तुओं का बोध होता है जिन्हें हम इन्द्रियों से नहीं जान सकते। एक ऐसी वस्तु भी होती है जिसकी हम अपने भरसक प्रत्यक्ष ज्ञान में भी कल्पना नहीं कर सकते और फिर भी वह हमारे ज्ञान को सम्भव बनाती है। उसी प्रकार हमारे अन्तर्दर्शन में भी एक ऐसी यथार्थ वस्तु होती है जो हमारे बोध को नियन्त्रित करती है। यह काल्पनिक वस्तु नहीं होती बल्कि यथार्थ का एक सच्चा अवबोध होती है। [illegible]

शरीर की आँखों से ही नहीं आत्मा की आँखों से भी देख सकता है। अदृष्ट वस्तुएं आत्मा के प्रकाश में वैसी ही स्पष्ट हो जाती है जैसे भौतिक आँख द्वारा देखी गई वस्तुएँ। प्रत्यक्ष ज्ञान का अतीन्द्रिय क्षेत्र में विस्तार ही अन्तर्ज्ञान है।

८. अन्तर्ज्ञान और बुद्धि

बेर्गसाँ के अनुसार जीवन-बल अपने परिवेश के क्रियात्मक नियन्त्रण के साधन के रूप में बुद्धि का विकास करता है। बुद्धि क्रिया के लिए आवश्यक है। यह औजार बनाने वाली शक्ति है जिसके द्वारा जीवन निर्जीव द्रव्य को अपनी क्रिया की शक्तियों के विस्तार के लिए साधनों के रूप में गढ़ता है। यदि हम यथार्थ वस्तु के आन्तरिक स्वरूप को जानना चाहते हैं तो हमें सारे व्यक्तित्व का उपयोग करना पड़ेगा जिसका बुद्धि केवल एक भाग है। तर्क सिर्फ उसी सीमा तक सफल होता है जिस सीमा तक यह यथार्थ के सजीव प्रवाह को हटाकर उसके स्थान पर स्थितिशील संकल्पनाओं की एक प्रणाली को स्थापित करता है। विचार उपयोगी है किन्तु सत्य नहीं है जबकि अन्तर्ज्ञान सत्य है चाहे उपयोगी न हो। बौद्धिक चेतना क्रियात्मक होती है। जब कोई व्यक्ति मुझ पर पिस्तौल तानता है तो मैं यह देखने की चिन्ता नहीं करता कि उसका रंग क्या है और वह कहाँ की बनी हुई है बल्कि मेरी प्रतिक्रिया सिर्फ तुरन्त वहाँ से भाग जाने की होती है। मेरे लिए क्रियात्मक दिलचस्पी की चीज सिर्फ उसका खतरनाक स्वरूप ही है, बाकी सब-कुछ मेरे लिए असंगत है। वैज्ञानिक ज्ञान क्रियात्मक चेतना के कार्यकलाप का विस्तार ही है। यह यथार्थ से उसके कुछ ऐसे पहलुओं को अलग कर लेता है जो क्रियात्मक दृष्टि से उपयोगी हैं और जो अन्य कामों में उपयोगी देखे जा सके हैं। क्रिया तब तक सम्भव नहीं है जब तक यह पृथक्करण न हो और विचार, वहाँ तक कि वह तर्काश्रित है, पृथक्करण ही है।

हम क्योंकि यथार्थ पर नहीं पहुँच पाते इसलिए हम अपने सिद्धान्तों की पुष्टि की प्रतीक्षा करते हैं। हम पूर्व कथन (प्रिडिक्शन) की शक्ति से अपने विचारों की सत्यता की परीक्षा करते हैं। किन्तु प्रतीकों और सम्बन्धों में चाहे उनसे हम कितना ही पूर्व-कथन कर सकें अव्यवहित अनुभव की विशिष्टता नहीं होती। एक भौतिक-शास्त्री कहता है कि वह बिजली के नियमों को जानता है हालाँकि वह इस बात से अनभिज्ञ है कि स्वयं बिजली क्या चीज है। बिजली का उसका ज्ञान जो उसे सीधा प्राप्त नहीं हुआ अधिकाधिक बढ़ता जाता है किन्तु

किन्तु वास्तविक ज्ञान एक दृष्टि से अपूर्ण होता है, क्योंकि उसमें कर्ता और कर्म का ज्ञाता और ज्ञेय का भेद होता है। कर्म कर्ता तक एक माध्यम के द्वारा पहुँचता है। विचार और ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष वस्तुनिष्ठ ज्ञान के साधन के रूप में आवश्यक हो जाते हैं। इस प्रकार इसमें हमेशा द्वैत बना रहता है। किसी वस्तु का ज्ञान और उसकी सत्ता अलग अलग चीज हैं। सत्ता विचार में समाविष्ट होने से इनकार करती है। इसलिए विचार को पुष्टि की आवश्यकता होती है। ज्ञान के क्षेत्र में हम तथ्यों और कल्पनाओं में आनुभविक यथार्थ के पैमाने से भेद कर सकते हैं। हम किसी वस्तु को जानते हैं यह तभी कहा जाता है जबकि हम उस वस्तु को अनुभव की अन्य वस्तुओं के साथ निश्चित सम्बन्धों में स्थापित कर सकें। आनुभविक यथार्थ का अर्थ है तार्किक विश्व के भीतर आवश्यक सम्बन्ध। जैसे-जैसे हमारा इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान बढ़ता जाता है, जैसे-जैसे नये अनुभवों को ज्ञान के ढाँचे के भीतर निश्चित स्थान दिये जाते हैं वैसे-वैसे हमारे ज्ञान में भी वृद्धि होती जाती है। नये ऐन्द्रियिक तथ्य तभी सत्य स्वीकार किये जाते हैं जबकि वे हमारी योजना में अनुकूल बैठते हों। उनका प्रामाण्य उनमें स्वतः विद्यमान नहीं होता बल्कि वह अन्य वस्तुओं से प्राप्त किया जाता है।

अन्तर्ज्ञानात्मक सत्य मानसिक दृष्टि की सीधी-सादी सरल क्रिया होने के कारण सन्देह से मुक्त होते हैं। वे इसलिए विश्वसनीय नहीं होते कि तर्क के द्वारा उनकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है बल्कि ज्योंही हम इन सत्यों की अन्तर्ज्ञान से उपलब्ध करते हैं, त्योंही हम उन पर विश्वास कर लेते हैं। सन्देह तो तब पैदा होता है जब विमर्श ऊपर से आ टपकता है। ठीक-ठीक कहा जाए तो तर्काश्रित ज्ञान वास्तव में अज्ञान है अविद्या है। वह सिर्फ तभी तक प्रामाणिक होता है जब तक कि अन्तर्ज्ञान पैदा नहीं होता और अन्तर्ज्ञान तब पैदा होता है जबकि हम निजी अहंकारपूर्ण सत्ता के खोल को उतार फेंकते हैं और अपने भीतर विद्यमान शुद्ध आदिम आत्मा में लौट जाते हैं जहाँ से हमारी बुद्धि और ऐन्द्रियिक ज्ञान प्राप्त होते हैं। यदि अन्तर्ज्ञानात्मक ज्ञान तादात्म्य से प्राप्त होने वाला ज्ञान है तो यथार्थ सत्ता के अन्तर्ज्ञानात्मक ज्ञान की प्राप्ति का अर्थ यह है कि हम यथार्थ

[illegible] — [illegible] और न [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] जैसे कि [illegible] था। ([illegible])

है कि आकार का बोध तब तक नहीं हो सकता जब तक कि आप ठोस और गणना के निमित्त विज्ञानों द्वारा और अमूर्त अध्ययनों के कठोर और श्रमसाध्य अभ्यास से मन को आवश्यक प्रारम्भिक प्रशिक्षण न मिल जाए।[1] अन्तर्ज्ञान तर्क विरोधी नहीं बल्कि तर्क से ऊपर है। यह एक ऐसा ज्ञान है जो समूची आत्मा द्वारा ग्रहण किया जाता है जो अपने ही किसी टुकड़े से चाहे वह प्रत्यक्ष ज्ञान हो या बौद्धिक तर्क ऊपर होता है। मन का समग्र जीवन उसके किसी विशिष्ट प्रकार से अधिक मूर्त होता है। इसका अर्थ यह है कि महान् अन्तर्ज्ञानों पर व्यक्तित्व की छाप होती है। किन्हीं भी दो व्यक्तियों को विज्ञान का एक ही नियम सूझ सकता है जैसा कि डार्विन और वैलेस के साथ सचमुच हुआ भी किन्तु कोई भी दो व्यक्ति एक ही रूपाकृति का सृजन नहीं कर सकते क्योंकि कला समग्र व्यक्तित्व की समस्त आत्मा की अभिव्यक्ति है जबकि विज्ञान अपने सामान्य उपयोग में आत्मा के एक अंश की अभिव्यक्ति है।

६ अन्तर्ज्ञान पर हेगेल के विचार

अन्तर्ज्ञानात्मक ज्ञान के इस अखण्ड और समग्र स्वरूप पर बल देना इस लिए आवश्यक है क्योंकि हेगेल-जैसा विचारक उसकी आलोचना इस गलतफहमी के कारण करता है कि अन्तर्ज्ञानात्मक शक्ति शेष मानसिक जीवन से एक भिन्न और अलग-थलग वस्तु है और उससे जिस यथार्थता का बोध होता है वह भी शेष सत्ता से एकदम अलग और अमूर्त सत्ता है। हेगेल का कहना है कि अव्यवहित ज्ञान जिसमें विचार का कोई स्थान न हो सत्य नहीं हो सकता। वह अन्तर्ज्ञान को एक ऐसी वस्तु मानता है जिसका बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं है और जो इसी लिए हमें साधारण सत्ता के सिवाय और कुछ प्रदान नहीं कर सकती। किन्तु जिस तरह केवल सत्ता की धारणा को भी मूर्त जगत् की सम्पदा से भरकर विभिन्न श्रेणियों का मूर्त रूप देना पड़ता है उसी तरह निरे अन्तर्ज्ञान को भी मानसिक क्रिया के अन्य कार्यों से पुष्ट करना पड़ता है। हेगेल की यह आलोचना एक लिहाज से अच्छी है क्योंकि यह इस प्रकार की धारणाओं के विरुद्ध चेतावनी देती है कि अन्तर्ज्ञान बुद्धि के सर्वथा विपरीत है या कि अन्तर्ज्ञान निरी कल्पना या निरी अनुभूति मात्र है।

वस्तुतः न हम अन्तर्ज्ञान को बुद्धि के मुकाबले विरोधी के रूप में रखते

१ रिपब्लिक ५३१-३२।

बात पर एकमत हैं कि इस प्रकार की अन्तर्दर्शनात्मक सुनिश्चितता तर्कपूर्ण चिंतन पक्ष की एक लम्बी प्रक्रिया के बाद प्राप्त होती है। किन्तु जब एक बार अन्तर्दर्शन की स्थिति प्राप्त हो जाती है तो हम उसे और बढ़ाकर विम्बों और संकल्पनाओं को बौद्धिक दृष्टि से स्पष्ट करते हैं। चिन्तन की सभी गतिशील क्रियाएँ, चाहे वे शतरंज के खेल में हों या गणित के किसी प्रश्न के समाधान में हों समूची स्थिति की अन्तर्दर्शनात्मक पकड़ के द्वारा नियमित होती है।

यदि अन्तर्दर्शनों का स्वरूप इतना बौद्धिक है तो उन्हें अन्तर्दर्शन कहने की आवश्यकता ही क्या है? क्या बुद्धि और अन्तर्दर्शन का भेद जैसा कि हेगेल ने कहा है वैसा ही नहीं है जैसा कि अवबोध या प्रतिपत्ति (अण्डरस्टैंडिंग) और तर्क (रीज़न) का? अवबोध जिसका सम्बन्ध निरे स्व-तादात्म्यों से है अमूर्त विचार है जबकि तर्क एक मूर्त विचार है जिसके द्वारा विशिष्ट स्थितियों के उदाहरणों से विश्वव्यापी नियम बनाए जाते हैं और उन विशिष्ट स्थितियों के साथ एक अविभाज्य एकता कायम की जाती है। अवबोध में होनेवाला विशुद्ध तादात्म्य समस्त भिन्नताओं को अपने से अलग और बाहर रखता है जबकि तर्क के तादात्म्य की दृष्टि में भेद आत्मिक और तात्त्विक होता है। अवबोध यथार्थ वस्तु की एकता को जिन विरोधी तत्त्वों में विभक्त करता है वे परस्पर तो विरोधी होते हैं किन्तु उस समग्र वस्तु से जिसके विभाजन से वे अलग किये जाते हैं, उनका विरोध नहीं होता। सत् (बीइंग) और असत् (नॉन-बीइंग) मूर्त गति के दो विभिन्न दृष्टिकोणों से देखे गए दो पहलू हैं। एक ओर पर सत् है और दूसरे पर असत्, किन्तु यथार्थ वस्तु न तो विशुद्ध सत् है और न विशुद्ध असत् वह एक मूर्त उत्पत्ति या घटना (बिकमिंग) है। केवल सत् होना या केवल असत् होना जैसा कि अवबोध उन्हें ग्रहण करता है, अर्थहीन है। परस्पर प्रतियोगी इस यथार्थ उत्पत्ति या घटना (बिकमिंग) की दो परस्पर निर्भर किन्तु परस्पर-विरोधी शक्तियाँ हैं और उनका अनन्त संघर्ष ही सृजन की प्रतिमा है। हेगेल की दृष्टि में समूची जीवन-प्रक्रिया परस्पर-प्रतियोगी द्वन्द्वात्मक वस्तुओं का संघर्ष और विरोध पर विजय पाने का संघर्ष है। विरोध पर विजय पाने और संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न ही संघर्ष और सब वस्तुओं के अस्तित्व का कारण है। किन्तु यदि सन्तुलन या सराधन (रिकन्सिलिएशन) पूर्ण हो जाए तो सृष्टि क्रम बन्द हो जाए। सृष्टि (बिकमिंग) की प्रक्रिया का अर्थ या तो यह है कि सत् असत् पर विजय पाने के लिए संघर्ष कर रहा है या असत् सत् पर विजय पाने के लिए प्रयत्न

चीज है। विजय पाने की इस प्रक्रिया का कभी अन्त नहीं होता क्योंकि यदि प्रक्रिया पूरी हो जाए अर्थात् सत् को संघर्ष और विजय पाने के लिए कोई असत् न मिले या असत् को संघर्ष के लिए सत् न मिले तो उसके परिणामस्वरूप या तो विशुद्ध सत् ही रह जाएगा या विशुद्ध असत् ही जो दोनों अर्थहीन अमूर्तीकरण मात्र हैं। यह विकास की प्रक्रिया यह सृष्टि-क्रम दो के संघर्ष का नाम है और उसकी ठीक-ठीक कल्पना हम ऐसी विरोधी संकल्पनाओं की परस्पर अनिवार्यता की पूर्व कल्पना करके ही कर सकते हैं इन संकल्पनाओं की पारस्परिक विरोधिता यथार्थ वस्तु में अन्तःसंघर्ष को व्यक्त करती है।

हेगेल के तर्क और अवबोध-सम्बन्धी विचार तथा अन्तर्ज्ञान और बुद्धि के भेद में विवाद का मुख्य बिन्दु क्या है? इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर यह है कि क्या हम सत् और असत् के संघर्ष से होने वाली उत्पत्ति या सृष्टि (बिकमिंग) को देखते हैं या सिर्फ उसके बारे में सोचते ही हैं क्या हम यथार्थ को विचार के द्वारा कल्पित करते हैं अथवा अपरोक्ष अन्तर्दृष्टि की एक सर्वथा असाधारण शक्ति से उसे अन्तर्ज्ञान के द्वारा जानते हैं। हेगेल तर्कनात्मक चिन्तन को अत्यधिक महत्त्व देता है इसलिए यद्यपि वह यथार्थता की कल्पना की श्रेणी में नहीं पहुँचता तो भी उसमें तर्क और यथार्थ में अविच्छेद्य आंगिक (आर्गेनिक) सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति है। उसका कहना है कि हर सत्ता की पहली शर्त यह है कि उसका कोई-न-कोई तर्कसंगत विरोधी (प्रतियोगी या अपोजिट) भी है। हेगेल की दृष्टि में द्वन्द्वात्मक तर्क दार्शनिक शोध और व्याख्या की ही एक प्रणाली नहीं है बल्कि यह वस्तुओं के अस्तित्व और विकास का वर्णन करने की एक विधि भी है। यद्यपि यह कहना सही होगा कि हेगेल मूर्त प्रकृति के भरपूर जीवन को निर्जीव द्वन्द्वात्मक तर्क में परिणत कर देता है तथापि स्व टी ग्रीन आदि उसके कुछ अनुयायी कहते हैं कि विचार न केवल यथार्थ को व्यक्त करता है बल्कि वही यथार्थ है। हेगेल के दर्शन में तर्क ही प्रधान वस्तु है उसने जीवन को भी एक जड़ तर्क में परिणत कर दिया है जीवित सत्य को एक अमूर्त सूत्र (फार्मूला) में बदल दिया है। यदि जीवन को सिर्फ एक तर्क-प्रणाली में ही व्यक्त किया जा सके तो वह जीवन ही न रहे। हेगेल का द्वन्द्वात्मक तर्क पूर्ण (होल) से आरम्भ नहीं होता जिसमें परस्पर-विरोधी

१ तुलना कीजिए, ग्रीन 'विचार ही वस्तु है और वस्तु ही विचार है।' [illegible]

द्वन्द्वात्मक रूप अपने-आपको अभिव्यक्त करते हैं बल्कि वह उनमें से किसी एक रूप से प्रारम्भ होता है और वह रूप हमें अपने प्रतियोगी रूप की ओर ले जाता है और फिर दोनों मिलकर परस्पर संघर्ष से एक ऐक्य का निर्माण करते हैं जो उन दोनों परस्पर-विरोधी रूपों को परस्पर बाँधता है। अन्तर्ज्ञान की दृष्टि में वस्तु की अविभाज्य एकता एक प्राथमिक (मूल) यथार्थ वस्तु है किन्तु हेगेल यह मानता है कि यह दो परस्पर-विरोधी द्वन्द्वात्मक रूपों से मिलकर बनती है, जिनका अस्तित्व तार्किक दृष्टि से पूर्ण या एकता से पहले विद्यमान है। हेगेल के अनुसार एकता संश्लेषण के फलस्वरूप बनती है जिसके घटकों का बोध और ग्रहण संश्लिष्ट पूर्ण से पहले होता है। हेगेल के द्वन्द्वात्मक तर्क का सार-तत्त्व एक सहज और असीमित विकास-प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक सीमित और सान्त वस्तु अपने विरोधी (प्रतियोगी) में प्रवेश करती है जिससे वह पहली वस्तु अपने-आपको समाप्त कर देती है और अपनी विरोधी वस्तु के साथ मिलकर एक उच्चतर और व्यापकतर संकल्पना में परिणत हो जाती है। पूर्ण वस्तु की अन्त र्दृष्टि संश्लेषण के बाद प्राप्त होती है। यह विचारधारा सम्भवतः काण्ट से विरासत में प्राप्त हुई है जो विमर्शात्मक विचार से पूर्व किसी एकता को स्वीकार नहीं करता। उसकी दृष्टि में अनेक का (चाहे वह अनुभव से प्राप्त हो या प्रागनुभव अर्थात् अनुभव से पूर्व ही) संश्लेषण ही सबसे पहले ज्ञान को जन्म देता है।[1]

इसके अलावा हेगेल यथार्थ वस्तु को केवल द्वन्द्वात्मक तर्क के द्वारा समझे जाने योग्य कुछ सम्बन्धों का समूह बताकर भावना, इच्छा तथा मानसिक आन्तरिकता के तत्त्वों की उपेक्षा कर देता है कम-से-कम वह प्रधानता जिस वस्तु को देता है वह निरा तार्किक तत्त्व है। यह ठीक है कि मनुष्य एक विचार करने वाली सत्ता है किन्तु उसका अस्तित्व केवल चिन्तन ही नहीं है। हेगेल भले ही न मानता हो किन्तु उसके कुछ अनुयायी अवश्य यह मानते हैं कि केवल विचार ही समस्त सत्ता का सृजन करता है। यथार्थ सत्ता ही मूर्तिमान विचार है प्रत्यय ही सत्ता के रूप में मूर्तिमान है। यथार्थ सत्ता सर्वसमावेशी तार्किक अनुभव या मन है। विश्व प्रक्रिया एक तार्किक प्रक्रिया का ही अंश है एक असमाप्त तर्कवाक्य है। सारा भविष्य एक तरह से वर्तमान में निहित है। ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया में नया कुछ घटित नहीं होता और न ऐसा ही कुछ घटित

१ फ्रिट्स मार्क्स व्हार टाउन मार्सन केम्प स्मिथ का अंग्रेजी अनुवाद, खण्ड १।

होता है जिसका इस तर्क-वाक्य से पूर्व कथन न किया जा सकता हो।

यदि जीवन इतिहास है, यदि यथार्थ सही अर्थों में सृजन (उत्पत्ति) है, एक शाश्वत पुनर्नवीकरण है, पुनरावृत्ति नहीं, तो उसका बोध विशुद्ध द्वन्द्वात्मक तर्क के रूप में नहीं हो सकता। पूर्ण ज्ञान अपने पूर्ण रूप में अन्ततः अन्तर्दृष्टि या अन्तर्दर्शन की शक्ल में होता है। यह अभिव्यक्ति की अपेक्षा अव्यवहित अधिक, सप्रत्ययनात्मक की अपेक्षा अनुभवात्मक अधिक होता है। इसमें सप्रत्ययनात्मक पुनर्निर्माण उतना नहीं है जितना कि अन्तर्दृष्टि का प्रकटीकरण। यथार्थ का सबसे सच्चा वर्णन, जो जीवन के स्वरूप का वर्णन है, जो एक मूल संघटन या विकास है, ऐतिहासिक वर्णन के समान होता है न कि द्वन्द्वात्मक तर्क के विकास के वर्णन के रूप में। जो इतिहास वास्तविक विकास को केवल एक तार्किक प्रणाली में परिणत करता है वह सच्चा इतिहास नहीं नाम-मात्र का इतिहास है। यह पुरानी मान्यता कि संसार रेखागणित की पद्धति से चलता है जिसमें उसकी गति पीछे की ओर भी होती है और एक ही वस्तु की पुनरावृत्ति भी होती है, न केवल तर्कशून्य दृष्टिकोण है, बल्कि प्लेटो के विचार के प्रतिकूल भी है। यदि यथार्थ सही अर्थों में [illegible] होता है तो ज्ञान केवल अन्तर्दृष्टि ही हो सकता है। सप्रत्ययनात्मक ज्ञान के रूप में दर्शनशास्त्र अन्तर्दर्शनात्मक बोध के लिए, और यह बोध हो जाने पर उसे प्रकट करने के लिए एक तैयारी है। इसके लिए भाषा और तर्क की आवश्यकता होती है। वास्तव में सभी प्रकार के ज्ञान के लिए चाहे वह प्रत्यक्ष हो या सप्रत्ययनात्मक या अन्तर्दर्शनात्मक सप्रत्ययनाओं की आवश्यकता होती है। हमें सिर्फ इतना ही याद रखना है कि अनुभव को तर्क के रूप में बाँधना ही सम्पूर्ण सत्य नहीं है। दर्शन के महान सत्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं किये जाते बल्कि स्वानुभव से देखे जाते हैं। दार्शनिक लोग केवल अपने स्वानुभव से प्राप्त अन्तर्दर्शनों को तार्किक प्रमाण के रूप में दूसरों तक पहुँचाते ही हैं। दर्शनशास्त्र के आलोचक सिर्फ यही देखते हैं कि क्या कथन में प्रकट किये गए विचार तार्किक हैं या पूर्ण शुद्ध हैं या अशुद्ध।

अन्तर्दर्शन और बुद्धि के बीच विरोधात्मकता का भाव दृष्टव्य नहीं। अर्थ में हम जब अन्तर्दर्शन की ओर जाते हैं तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि हम तर्क की ओर जा रहे हैं बल्कि हम उस तर्क की ओर जा रहे हैं जो सम्पूर्ण प्रकृति की क्षमता के अन्तर्गत सम्मिलित रहता है। इस सम्मिलित [illegible] स्थिति [illegible]

हम अधिक गहराई से सोचते हैं अधिक गहराई से अनुभव करते हैं और अधिक सत्यता के साथ देखते हैं। हम अपना समस्त प्रकृति के आवेग के अनुसार देखते अनुभव करते और स्वयं वैसे हो जाते हैं। उस स्थिति में हम वस्तुओं को तर्क के मांत्रिक पैमानों से नहीं नापते हम एक सम्पूर्णता के साथ सोचते हैं। बुद्धि और अन्तर्ज्ञान दोनों का सम्बन्ध व्यक्ति की आत्मा के साथ है। बुद्धि केवल उसके एक विशिष्ट भाग का उपयोग करती है जबकि अन्तर्ज्ञान समूचे व्यक्तित्व और आत्मा का उपयोग करता है। दोनों आत्मा में सश्लिष्ट हो जाते हैं और दोनों की प्रवृत्तियाँ और कार्य परस्पर-निर्भर हैं।

अन्तर्ज्ञानात्मक ज्ञान अबौद्धिक ज्ञान नहीं है, यह असंकल्पनात्मक प्रबन्ध है। यह बौद्धिक अन्तर्ज्ञान है जिसमें अव्यवहितता और व्यवहितता दोनों ही सम्मिलित हैं। वास्तव में जीवन भर हमारे अन्तर्ज्ञानात्मक और तार्किक दोनों पक्ष सक्रिय रहते हैं। विशुद्ध गणित-शास्त्र में भी जहाँ परिणाम तब तक स्पष्ट नहीं होते जब तक कि दत्त वस्तुओं को परस्पर मिलाकर एक तर्कपूर्ण क्रम में न रखा जाए, अन्तर्ज्ञान का कुछ तत्त्व उपस्थित रहता है। कुछ मामलों में उदाहरणार्थ मूल्यों के मामले में हम सोच-समझकर तर्क किये बिना निर्णय और विनिश्चय करते हैं। यद्यपि दोनों में से कोई भी प्रक्रिया विशुद्ध रूप से किसी एक क्षेत्र तक सीमित नहीं है तो भी बौद्धिक प्रक्रियाएँ वस्तुओं के प्रेक्षण और वर्णन में तथा उनके भावात्मक सम्बन्धों में अधिक उपयोगी होती हैं। अन्तर्ज्ञान हमें पूर्ण का प्रत्यय प्रदान करता है और बुद्धि उसके अंगों का विश्लेषण। बुद्धि परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली वस्तुओं का जो सश्लेषण करती है स्वयं वह भी अन्तर्ज्ञान द्वारा प्रेरित होता है। अन्तर्ज्ञान हमें वस्तु के अंश नहीं बल्कि स्वयं वस्तु प्रदान करता है जबकि बुद्धि उसके अंशों का विस्तृत विश्लेषण करती है। अन्तर्ज्ञान हमें वस्तु के अद्वितीय और अनुपम स्वरूप का ज्ञान कराता है जबकि बुद्धि हमें यह बताती है कि उसके कौनसे ऐसे गुण हैं जो दूसरी वस्तुओं में भी हैं। हर अन्तर्ज्ञान में कुछ बौद्धिक तत्त्व भी होता है और उसे और अधिक बौद्धिक बनाकर हम उस तत्त्व को गहरा कर देते हैं। यदि अन्तर्ज्ञानात्मक परम तर्कानुसारी सत्य सिद्ध नहीं किये जा सकते तो भी यह तो सिद्ध किया ही जा सकता है कि वे तर्क-विरुद्ध नहीं हैं बल्कि तर्क के अनुकूल हैं। अन्तर्ज्ञान न तो अमूर्त विचार और विश्लेषण है और न आकारहीन अन्धकार और आदिम ऐन्द्रियिक अनुभव। यह प्रज्ञा (विज़डम) है जिसे अरस्तू ने 'नाउज' (ज्ञान) कहा

है जिसे प्लेटो ने सर्वव्यापी बुद्धि कहा है।

१ दर्शनशास्त्र में अन्तर्दर्शन की आवश्यकता

जो महत्तम निश्चय हमारे जीवन और चिन्तन के आधार हैं, मूल सामग्री हैं, वे प्रत्यक्ष अनुभव से या तार्किक ज्ञान से नहीं प्राप्त किये जाते। हम यह कैसे जानते हैं कि यह ब्रह्माण्ड तत्त्वतः परस्पर-संगत और स्थिर है? हिन्दू विचारकों का कहना है कि जो सर्वोच्च और स्वतन्त्र मान्यताएँ जीवन के उद्यम को नियन्त्रित करती हैं वे आत्मा के गम्भीरतम अनुभव से उत्पन्न अन्तर्दर्शन के सत्य हैं। हमारी इन्द्रियों और बुद्धि की दृष्टि से संसार एक बहुत सी वस्तुओं का समुदाय है जो न्यूनाधिक परस्पर-सम्बद्ध हैं और उन (इन्द्रिय और बुद्धि) से बाहर हैं, फिर भी तर्क की यह मान्यता है कि यह समस्त संसार अनुभव अन्तिम नहीं है बल्कि संसार का अन्तिम रूप एक सुव्यवस्थित पूर्ण है। यदि हम संसार को सुव्यवस्थित और सम्पूर्ण न मानें तो ज्ञान की अन्वेषणात्मक प्रवृत्ति असम्भव और अर्थहीन हो जायगी। संसार की यह सर्वपूर्णता परिकल्पना की संरचना द्वारा हमें प्राप्त नहीं होती। हमने न तो प्रकृति की बाह्यतम और सुदूरतम सीमाओं को छुआ है और न हम आत्मा की अन्तरतम गुह्य गहराइयों तक गए हैं जिससे हम यह कह सकें कि संसार की नियमबद्ध एकता एक सर्वसम्मत परिणाम है। यह ठीक है कि विचार संसार की समग्रता में विश्वास के बिना आगे नहीं बढ़ सकता तथापि स्वयं विचार के लिए भी संसार की नियमबद्धता एक स्वतःसिद्ध स्वीकृत तथ्य है, एक विश्वास की चीज़ है, तर्क की नहीं। हमारा तार्किक आवेग (इम्पल्स) आत्मा की एक शक्ति है इसलिए उसकी अपनी सत्ता में ही विश्व को व्यवस्थित और नियन्त्रित करने वाले नियम की सत्ता विद्यमान है। प्रकृति की नियमबद्धता और व्यवस्था एक विश्वसनीय और सराम के ग्राह्य रहता है क्योंकि आत्मा अपने-आप एकता है। जब तक मैं स्वयं मैं (अर्थात् एक) रहता हूँ तब तक मैं हर वस्तु को एक एकता के रूप में जान सकता हूँ। विचार का निर्देशन मनुष्य की अन्तरात्मवर्ती आत्मा के द्वारा हमारे भीतर विद्यमान ईश्वर के द्वारा होता है। विश्व की नियमबद्धता और सार्वत्रिकता जीवन का एक ऐसा सुदृढ़ विश्वासात्मक ज्ञान है जो निरे तार्किक ज्ञान से परे है। केवल तर्कसम्मत (लॉजिकल) होने से काम नहीं चल सकता, बुद्धिमत्त (रीज़नेबल) होना भी आवश्यक है। यदि हम यह जानते हैं कि हमारी सर्व

भी मान्यताएँ हैं किन्तु ये मान्यताएँ असत्य और अयुक्तियुक्त नहीं हैं। ये मान्यताएँ आत्मा के बोध हैं मनुष्य के 'स्व' के अन्तर्ज्ञान हैं और ये वैसी ही युक्तियुक्त हैं जैसा कि विश्व या बौद्धिक योजनाओं में विश्वास युक्तियुक्त होता है हालांकि इन अन्तर्ज्ञानों की प्राप्ति हमें विश्व और बौद्धिक योजनाओं पर विश्वास के [illegible] सिद्ध नहीं होती। इन मान्यताओं पर अविश्वास करने का अर्थ है घोर सन्देहवाद। यदि सभी ज्ञान प्रत्यक्षात्मक या संकल्पनात्मक (अनुमानात्मक) होवे तो इन मान्यताओं पर अविश्वास अनिवार्य हो जाता। अन्तर्ज्ञानात्मक ज्ञान मान्यताओं की वैधता का प्रमाण कुछ-कुछ वैसा ही है जैसा कि कष्ट के प्रागनुभव तत्त्वों की वैधता का प्रमाण। हम उन्हें सोच-विचार या तर्क के द्वारा उड़ा नहीं सकते। उनके विरोधियों (प्रतिरोधियों) की कल्पना नहीं की जा सकती। यह सम्भव नहीं है कि हम उन पर अविश्वास करें, फिर भी बुद्धि और तर्क के मार्ग पर आरूढ़ रहें। ये मान्यताएँ हमारे मन की रचना में समाई हैं। ये हमारी आत्मा के साथ अविभाज्य रूप से जुड़ी हुई हैं। ये इन्द्रियजन्य ज्ञान से या तर्क द्वारा किये गए अनुमान से प्राप्त निष्कर्ष नहीं हैं फिर भी यदि हम उनका उपयोग न करें तो न प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव है और न अनुमान। यदि हम आत्मज्ञान को अस्वीकार करें, यदि हम मनुष्य की आत्मा में किसी स्वतः प्रकाशतत्त्व को स्वीकार न करें तो यह समस्त ज्ञान और जीवन से ही इन्कार करना होगा। [illegible] की एक महान् उक्ति है 'जो लोग हर चीज के लिए तर्क की खोज करते हैं वे एक प्रकार से तर्क का हमेशा के लिए ही अपहरण कर देते हैं। यदि समस्त ज्ञान अपनी प्रामाणिकता के लिए किसी बाहरी कसौटी पर ही निर्भर हो तब कोई भी ज्ञान प्रामाणिक नहीं रहेगा। एक चीज दूसरी पर निर्भर है और दूसरी-तीसरी पर इस प्रकार एक अनन्त शृंखला बन जाएगी। इस शृंखला की अनन्तता से बचने का एक ही उपाय है कि हम ऐसा भी एक ज्ञान स्वीकार करें जो स्वतःप्रमाण हो। ऐसा [illegible] प्रमाण ज्ञान आत्मज्ञान ही है। विचार के लिए कोई ऐसी चीज सोचना सम्भव नहीं है जो सत्य न हो। यदि ऐसा सम्भव हो तो सत्य की ऐसी कोई बाह्य कसौटी या पैमाना नहीं हो सकता जो विचार के भीतर स्वतः प्रमाण कसौटी का स्थान ले सके क्योंकि इस प्रकार की बाहरी कसौटी का काम स्वयं विचार का ही काम होगा और उसे स्वयं प्रामाण्य के लिए एक बाहरी कसौटी की आवश्यकता होगी। [illegible] विचारक [illegible] में ही यह बात निहित है कि वह सत्य और [illegible] बना सकती [illegible]। स्पिनोज़ा ने इस प्रसंग पर टिप्पणी करते हुए

की मान्यताएँ हैं किन्तु ये मान्यताएँ गलत और अयुक्तियुक्त नहीं हैं। ये मान्यताएँ आत्मा के बोध हैं मनुष्य के 'स्व' के अन्तर्दर्शन हैं और वे वैसी ही युक्तियुक्त हैं जैसा कि विश्व या बौद्धिक योजनाओं में विश्वास युक्तियुक्त होता है हालांकि इन वस्तुओं की प्राप्ति हम विश्व और बौद्धिक योजनाओं पर विश्वास के-न होने से नहीं होती। इन मान्यताओं पर अविश्वास करने का अर्थ है पूर्ण सन्देहवाद। यदि सभी ज्ञान प्रत्ययात्मक या तर्कनात्मक (अनुमानात्मक) होते तो इन मान्यताओं पर अविश्वास अनिवार्य हो जाता। अन्तर्ज्ञानात्मक ज्ञान मान्यताओं की वैधता का प्रमाण कुछ-कुछ वैसा ही है जैसा कि कष्ट के प्रत्यनुभव तत्त्वों की वैधता का प्रमाण। हम उन्हें सोच-विचार या तर्क के द्वारा उड़ा नहीं सकते। उनके विरोधियों (प्रतिपोषिता) की कल्पना नहीं की जा सकती। यह सम्भव नहीं है कि हम इन पर अविश्वास कर फिर भी बुद्धि और तर्क के मार्ग पर आरूढ़ रहें। ये मान्यताएँ हमारे मन की रचना में उपजत हैं। ये हमारी आत्मा के साथ अवि

यह ब्रह्माण्ड मानवीय आत्मा की पुकार को सुनेगा और उसकी माँगों को पूरा करेगा यह तथ्यों का प्रसार आत्मा के वाक्य के अनुसार चलेगा? आनुभविक बोध के दृष्टिकोण से तो यह मान्यता कि प्रकृति और आत्मा के राज्य अस्तित्व और मूल्य एक-दूसरे के विरुद्ध नहीं हैं एक निरी प्राक्कल्पना है, किन्तु प्रन्तर्दर्शन की दृष्टि से देखा जाए तो यह एक तथ्य है। तर्क की दृष्टि से देखा जाए तो यथार्थ सत्ता की संरचना में ऐसी कोई चीज नहीं है जो इस प्राक्कल्पना का खण्डन कर सके हालाँकि स्वयं तर्क उसे किसी तरह सिद्ध नहीं कर सकता। यह कोई संसार को वैसा ही मान लेने का प्रश्न नहीं है, जैसा कि हम उसे बनाना चाहते हैं। यह तो मनुष्य की आत्मा का आधारभूत कथन है, यह समस्त मूल्यों का आधार और समस्त जीवन का निदेशक सिद्धान्त है। यह मान्यता इस बात पर बल देती है कि नैतिक व्यवस्था का आधार ही वास्तव में प्रवस्थित ब्रह्माण्ड का मूल स्रोत है। जीवन ही हम पर यह दायित्व सौंपता है कि हमें सच्चा और अच्छा बनना है। हमारे दुष्कर्म और पाप भी एक ऐसी वस्तु के गलत कदम हैं जिसका लक्ष्य बुराई और पाप नहीं बल्कि अच्छाई और पुण्य है। प्रकृति स्वतः बुराई और पाप से घृणा करती है और अच्छाई के लिए प्रयत्न करती है। यह समस्त आचारशास्त्र का मूल स्वतःसिद्ध सिद्धान्त है।

इसी प्रकार मनुष्य का हृदय सुख की कामना करता है। दुःख और व्यथा को दूर करना हमारी प्रकृति की प्रधान वृत्ति है। जीवन मृत्यु का प्रतियामी विरोधी और उलटा है। पीड़ा अपनी और प्रयोत्कर्ष का जो हमारी सत्ता की हमारे सच्चे आत्म-स्वरूप की अधिक गहरी सम्भावनाओं के विरोधी हैं, दूर करने के लिए निरन्तर प्रयत्न चलता रहता है। सभी प्रन्तर्दर्शनों का सम्बन्ध आत्मज्ञान से होता है। हमारे ज्ञान में होने वाली समस्त वृद्धि इस सहज वृत्ति का ही विस्तार है, मनुष्य के मन का उसकी आत्मा में अधिकाधिक तादात्म्यीकरण है। समस्त अनुभव उसी से उद्भूत होता है और उसी में रहता है। जैसा कि उपनिषद में कहा है यह मन और इन्द्रियों की पहुँच से परे है हालाँकि यह मन और इन्द्रियों के बारे में सोचता है।

यदि प्रन्तर्दर्शन हमें ऐसे मुख्य विश्वव्यापी स्वतःसिद्ध सिद्धान्तों का ज्ञान प्रदान न करे, जिनका न तो हम खण्डन कर सकें और न पुष्टि तो हमारे जीवन का अन्त हो जाए। ब्रह्माण्ड की नैतिक दृष्टि से सुदृढ़ता तार्किक दृष्टि से सार्थकता और सौन्दर्य बोध की दृष्टि से सुन्दरता विज्ञान तथा कला और नैतिक आचार

प्रणाली का परिणाम और निष्कर्ष सही हो तो यह आवश्यक है कि हम उसे सही आधार-वाक्यों से प्रारम्भ करें। अन्तर्ज्ञान भी उतना ही सबल है जितना कि स्वयं जीवन जिसकी गहराई से यह उद्भूत होता है। यह हमें बताता है कि यह विश्व एक आध्यात्मिक क्रम-व्यवस्था का अंग है भले ही हम उसके लिए स्पष्ट और तर्कसंगत प्रमाण न खोज सकें। आलोचनात्मक बुद्धि विश्व एकत्व और सहस्वरता को जानने का प्रयत्न करती है जब हम अन्तर्ज्ञान से काम लेते हैं। प्रकृति में इतने अधिक और स्पष्ट बेमेलपन के बावजूद हम यह विश्वास कर लेते हैं कि यह विश्वसनीय है और एक नियत क्रम में बँधी हुई है। वैज्ञानिक अनुभव हमारी इस विश्वास की साहसिकता की अधिकाधिक पुष्टि करता है किन्तु हमारा यह विश्वास कभी भी तर्कशास्त्र का तर्कवाक्य नहीं बनता। हमारा समूचा तार्किक जीवन एक अधिक गहरी अन्तर्दृष्टि की बुनियाद पर विकसित होता और बढ़ता है, और यह अन्तर्दृष्टि ठीक समझदारी सिद्ध होती है गलती नहीं क्योंकि उसके आधार पर हम आगे बढ़ सकते हैं।

इसके अलावा हम यह कैसे जानते हैं कि इस ब्रह्माण्ड में जीवित रहना अच्छा है? आचारशास्त्र के जो सिद्धान्त इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करते हैं वे यह मानकर चलते हैं कि जीवित रहना अच्छा है और यह ब्रह्माण्ड हमें निराश नहीं करेगा। संसार अन्ततः भद्र है। जिस प्रकार वैज्ञानिक खोज इस पूर्वधारणा के साथ प्रारम्भ होता है कि हमारी शक्तियाँ विश्वास और भरोसे के योग्य हैं और उनसे हम सत्य की एक ऐसी प्रणाली पर पहुँच सकेंगे जिसमें यह संसार हमारे लिए अनबूझ पहेली नहीं रहेगा उसी प्रकार नैतिक आचारशास्त्र यह मानकर चलता है कि जीवन जीने योग्य है और उसमें हम अच्छाई को प्राप्त सकेंगे और हम संसार को उसके आमूलचूल नैतिक सुधार के लिए मजबूर कर सकते हैं। हम यह मानकर चलते हैं कि एक ईश्वरीय आवेश हमें यह प्रेरणा देता है कि [illegible] और व्यावहारिक कल्याण पथ पर चलने के बजाय देर [illegible] कल्याण के सम्पन्न कर सकें किन्तु इस कल्याण का अर्थ सांसारिक सुख-समृद्धि नहीं है। तर्कशास्त्र और आचारशास्त्र यह मानकर चलते हैं कि जीवन अर्थपूर्ण है इस अर्थपूर्णता की उन्हें अपने प्रयोजन के लिए आवश्यकता है किन्तु उसे वे सिद्ध नहीं कर सकते स्वतःसिद्ध मानते हैं।

हम चाहते हैं कि यह संसार अच्छा हो, किन्तु क्या यही उसके अच्छा होने का पर्याप्त तर्क है? क्या हम यह निश्चिन्त होकर भरोसा कर सकते हैं कि

बाराके ने लिखा है 'सत्य मन का स्वाभाविक नियम है और असत्य और गलती अपवाद है। यदि आप मन के विचार को शुद्ध निर्मल रूप में अर्थात् जैसा कि वह अपने प्राकृतिक रूप में है उसी रूप में और कुछ निश्चित दोषों से रहित ग्रहण कर सकें तो आपको उसमें यथार्थ का सच्चा रूप मिलेगा। क्योंकि विचार का स्वभाव ही यह है कि वह यथार्थ को प्रकट करता है और उससे यथार्थ की अभिव्यक्ति उसका सहज स्वरूप है अपवाद नहीं है। प्रत्येक विचारक प्राणी में मानवीय विचार की प्रामाणिकता का विश्वास अन्तर्निहित रहता है। गलती विचार नहीं है। हम उसे सोचते कभी नहीं बल्कि वह लोगों के आवेशों और स्वार्थों के कारण हो जाती है जो उनके विचारों को बादल की तरह ढक लेते हैं। हमारा तार्किक ज्ञान सत्य और गलती का मिश्रण है क्योंकि क्रियात्मक और व्यावहारिक प्रेरणाएँ विशुद्ध विचार में बाधा डालती हैं। यदि मन को मुक्त न किया जाए और वह समस्त कामना और चिन्ता को समस्त स्वार्थ और भेद को उतार न फेंके तो वह शुद्ध सत्ता के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता और न उसे अभिव्यक्त कर सकता है। यह विशुद्ध विचार की स्थिति ज्ञाता और ज्ञेय के सत्य और गलती के भेद से पहले की स्थिति होती है। ये भेद शुद्ध विचार की स्थिति में नहीं बल्कि बाद में विमर्श के स्तर पर पैदा होते हैं। जो सब तार्किक ज्ञानों में अन्तर्निहित है उसका तार्किक ज्ञान सम्भव नहीं है। जीवित आत्मा समस्त विचारों का अन्तिम आधार है और क्योंकि वह अन्य किसी भी आधार से मुक्त है इसलिए वह स्वतन्त्र और निरुपाधिक है। इसी प्रकार नैतिक सुनिश्चितता के लिए भी एक उच्चतम उद्देश्य की आवश्यकता है जिससे शेष सब उद्देश्य निकलते हों—एक ऐसा उद्देश्य जो स्वयं आत्मा से उद्भूत होता है और जिससे अन्य कम सामान्य नैतिक उद्देश्यों की भी सार्थकता हो। सब मान्यताओं की अन्तिम मान्यता यह है कि हमारे भीतर एक आत्मा है मनुष्य में ईश्वर का वास है। जीवन ईश्वर है और उसका प्रमाण स्वयं जीवन ही है। यदि हम अपने भीतर किसी जगह पूर्ण निश्चय से यह अनुभव न करते कि ईश्वर है तो हम जी न सकते। यदि सूर्य और चन्द्रमा भी सन्देह करने लगें तो वे भी बुझ जाएँ। हमारे जीवन अपनी मित्रता की सीमाओं में नहीं जिये जाते। हम स्वयं एकाकी नहीं हैं। हम ईश्वर-मानव हैं।

[illegible] (१९५)

की मान्यताएँ हैं, किन्तु ये मान्यताएँ गलत और अयुक्तियुक्त नहीं हैं। ये मान्यताएँ आत्मा के बोध हैं, मनुष्य के 'स्व' के अन्तर्ज्ञान हैं और ये वैसी ही युक्तियुक्त हैं जैसा कि विज्ञान या बौद्धिक योजनाओं में विश्वास युक्तियुक्त होता है, हालाँकि इन अन्तर्ज्ञानों की प्राप्ति हमें विज्ञान और बौद्धिक योजनाओं पर विश्वास के-से ढंग से नहीं होती। इन मान्यताओं पर अविश्वास करने का अर्थ है पूर्ण सन्देहवाद। यदि सभी ज्ञान प्रत्यक्षात्मक या तर्कनात्मक (अनुमानात्मक) होते तो इन मान्यताओं पर अविश्वास अनिवार्य हो जाता। अन्तर्ज्ञानात्मक ज्ञात मान्यताओं की वैधता का प्रमाण कुछ-कुछ वैसा ही है जैसा कि तर्क के प्राक्‌अनुभव तत्त्वों की वैधता का प्रमाण। हम उन्हें सोच-विचार या तर्क के द्वारा उड़ा नहीं सकते। उनके विरोधियों (प्रतिरोधियों) की कल्पना नहीं की जा सकती। यह सम्भव नहीं है कि हम उन पर अविश्वास करें, फिर भी बुद्धि और तर्क के मार्ग पर आरूढ़ रहें। ये मान्यताएँ हमारे मन की रचना से सम्बद्ध हैं। ये हमारी आत्मा के साथ अविभाज्य रूप से जुड़ी हुई हैं। ये इन्द्रियजन्य ज्ञान से या तर्क द्वारा किये गए अनुमान से प्राप्त निष्कर्ष नहीं हैं, फिर भी यदि हम इनका उपयोग न करें तो न प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव है और न अनुमान। यदि हम आत्मज्ञान को अस्वीकार करें, यदि हम मनुष्य की आत्मा में किसी स्वतः प्रकाशतत्त्व को स्वीकार न करें तो हमें समस्त ज्ञान और जीवन से ही इन्कार करना होगा। थ्योफेस्टस की एक महान उक्ति है : "जो लोग हर चीज के लिए तर्क की खोज करते हैं, वे एक प्रकार से तर्क को हमेशा के लिए ही ध्वस्त कर देते हैं।" यदि समस्त ज्ञान अपनी प्रामाणिकता के लिए किसी बाहरी कसौटी पर ही निर्भर हो तब कोई भी ज्ञान प्रामाणिक नहीं रहता। एक चीज दूसरी पर निर्भर है और दूसरी-तीसरी पर; इस प्रकार एक अनन्त शृंखला बन पड़ती। इस शृंखला की अनन्तता से बचने का एक ही उपाय है कि हम ऐसा भी एक ज्ञान स्वीकार करें जो स्वतःप्रमाण हो। ऐसा स्वतःप्रमाण ज्ञान आत्मज्ञान ही है। विचार के लिए कोई ऐसी चीज सोचना सम्भव नहीं है जो सत्य न हो। यदि ऐसा सम्भव हो तो सत्य की ऐसी कोई बाह्य कसौटी या पैमाना नहीं हो सकता, जो विचार के भीतर स्वतःप्रमाण कसौटी का स्थान ले सके, क्योंकि इस प्रकार की बाहरी कसौटी का बोध स्वयं विचार का एक कार्य होगा और उसे स्वयं प्रामाण्य के लिए एक बाहरी कसौटी की जरूरत होगी। एक विचारक सत्ता की प्रकृति में ही यह बात निहित है कि वह सत्य और यथार्थ विचार करता रहता है। जिज्ञासा के इस पहलू पर टिप्पणी करते हुए

वासोके ने लिखा है, 'सत्य मन का स्वाभाविक नियम है और असत्य और गलती अपवाद हैं। यदि आप मन के विचार को शुद्ध निर्मल रूप में अर्थात् जैसा कि वह अपने प्राकृतिक रूप में है उसी रूप में और कुछ निश्चित दोषों से रहित ग्रहण कर सकें तो आपको उसमें यथार्थ का सच्चा रूप मिलेगा। क्योंकि विचार का स्वभाव ही यह है कि वह यथार्थ को प्रकट करता है और उससे यथार्थ की अभिव्यक्ति उसका सहज स्वरूप है अपवाद नहीं है।' प्रत्येक विचारक प्राणी में मानवीय विचार की प्रामाणिकता का विश्वास अन्तर्निहित रहता है। गलती विचार नहीं है। हम उसे सोचते कभी नहीं बल्कि वह लोगों के आवेगों और स्वार्थों के कारण हो जाती है जो उनके विचारों को बादल की तरह ढक लेते हैं। हमारा तार्किक ज्ञान सत्य और गलती का मिश्रण है क्योंकि क्रियात्मक और व्यावहारिक प्रेरणाएँ विशुद्ध विचार में बाधा डालती हैं। यदि मन को मुक्त न किया जाए और वह समस्त कामना और चिन्ता को समस्त स्वार्थ और वैर को उतार न फेंके तो वह शुद्ध सत्ता के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता और न उसे अभिव्यक्त कर सकता है। यह विशुद्ध विचार की स्थिति ज्ञाता और ज्ञेय के सत्य और गलती के भेद से पहले की स्थिति होती है। ये भेद शुद्ध विचार की स्थिति में नहीं बल्कि बाद में विमर्श के स्तर पर पैदा होते हैं। जो सब तार्किक ज्ञानों में अन्तर्निहित है उसका तार्किक ज्ञान सम्भव नहीं है। जीवित आत्मा समस्त विचारों का अन्तिम आधार है और क्योंकि वह अन्य किसी भी आधार से मुक्त है इसलिए वह स्वतन्त्र और निरुपाधिक है। इसी प्रकार नैतिक सुनिश्चितता के लिए भी एक उच्चतम कर्तव्य की आवश्यकता है जिससे शेष सब कर्तव्य निकलते हों—एक ऐसा कर्तव्य जो स्वयं आत्मा से उद्भूत होता है और जिससे अन्य कम सामान्य नैतिक कर्तव्यों की भी सार्थकता हो। सब मान्यताओं की अन्तिम मान्यता यह है कि हमारे भीतर एक आत्मा है मनुष्य में ईश्वर का वास है। जीवन ईश्वर है और उसका प्रमाण स्वयं जीवन ही है। यदि हम अपने भीतर किसी जगह पूर्ण निश्चय से यह अनुभव न करते कि ईश्वर है तो हम जी न सकते। यदि सूर्य और चन्द्रमा भी सन्देह करने लग जाएँ तो वे भी बुझ जाएँ। हमारे जीवन अपनी निज की सीमाओं में नहीं घिर जाते। हम स्वयं एकाकी नहीं हैं। हम ईश्वर-मानव हैं।

मीनिंग ऑफ़ एम्पिरिसिज़्म इन कन्टेम्पोरेरी फ़िलॉसफ़ी (११), ८२।

११ प्लेटो

महान् दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि जीवन के बड़े निश्चयात्मक ज्ञान अन्तर्ज्ञान से पैदा होते हैं। उदाहरण के लिए सुकरात ने अपने विचारों का आधार स्वतःसिद्ध सत्यों या अन्तर्ज्ञान से प्राप्त ज्ञानों को बनाना पसन्द किया प्रेक्षित तथ्यों से प्राप्त आगमनात्मक प्रमाणों को नहीं। आन्तरिक दैवात की आवाज़ भी उसके लिए बाह्य प्रत्यक्ष या तार्किक विवेचन से अधिक महत्त्वपूर्ण थी। प्लेटो का प्रत्यास्मरण (रिकलैक्शन) का सिद्धान्त यह संकेत करता है कि मानवीय जीवन के सभी पहलुओं में साहसिक उद्यम के लिए कुछ ऐसे सत्यों की आवश्यकता होती है जो बाह्य वस्तुओं के साथ इन्द्रियों के सम्पर्क से या विविध सम्बन्धों के साथ बुद्धि के सम्पर्क से उपलब्ध नहीं होते। प्लेटो के 'प्रत्यास्मरण' का अर्थ है समस्त मानव का संकेन्द्रित उद्यम जिसके द्वारा जीवन और तर्क के आवश्यक सिद्धान्तों का बोध प्राप्त किया जा सकता है। अमर आत्मा दीर्घ काल पूर्व ही समस्त सत्यों को जान चुकी है और इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त सत्य का अनुभव वास्तव में उसे उन सत्यों का स्मरण कराता है जिन्हें वह किसी समय जानती थी और अब भूल चुकी है। प्रत्यास्मरण तार्किक प्रक्रिया का आधार है जिसमें प्रत्ययों का अनावरण (खोज) किया जाता है और इस अनावरण में वस्तुओं के विशिष्ट विवरण भाग लेते हैं। प्लेटो के अनुसार विश्वव्यापी मन विभिन्न तत्त्वों का बना हुआ है और इन तत्त्वों का संसार में पुनर्योजन होता रहता है और वे उसके विकास में समान नियामक शक्तियों के रूप में कार्य करते हैं। मनुष्य के मन को वे 'प्रत्यय' के रूप में प्रतीत होते हैं और वे उसके विचारों के प्रधान उपादान कारण हैं। तर्क हमें उन प्रत्ययों का बोध प्राप्त करने में चाहे कितनी भी सहायता दे किन्तु उनके लिए हम तर्क के ऋणी नहीं होते। हमने अपने जन्म से पूर्व अपरोक्ष और सीधे तौर पर जो कुछ देखा होता है उसकी स्मृति से ही हम उन प्रत्ययों को ग्रहण कर पाते हैं। जब प्लेटो यह कहता है कि 'ज्ञात वस्तु को सत्यता और ज्ञाता को ज्ञान की शक्ति जिससे प्राप्त होती है उसी को तुम लोग अच्छाई का प्रत्यय (आइडिया आफ गुड) समझो और इसी को विज्ञान का कारण समझो' तब वह यही चाहता है कि हम अच्छाई की जिसका ज्ञान हमें प्रत्यास्मरण से प्राप्त होता है यथार्थ सत्ता को स्वीकार करें। कोई भी ज्ञान तब तक हमारा अपना नहीं हो सकता जब तक कि वह आत्मा के

१ रिपब्लिक ६.२ ।

१२ डेकार्ट

डेकार्ट ने इस बात पर बल दिया है कि स्वयं हमारे विचार के स्वरूप से ही ईश्वर के अस्तित्व का स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है। उसका सम्बन्ध अन्तर्दर्शनात्मक सुनिश्चितता के उसी क्षेत्र से है जिससे गणित विज्ञान के मूल स्वतःसिद्ध स्वीकृत सिद्धान्तों का। इन प्रत्ययों की सत्यता इस बात में है कि वे स्पष्ट रूप से समझ में आते हैं। इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि समस्त अनुभव ही उनकी पुष्टि करता है। डेकार्ट ने यह कहकर स्थिति को असावधानक रूप से उलझा दिया है कि स्पष्ट और विविक्त प्रत्ययों की सत्यता में हमारे विश्वास का आधार ईश्वर की सत्यता है। कारण यह कि स्पष्ट और विविक्त प्रत्यय को ईश्वर भी असत्य नहीं बना सकता। वे स्वरूपतः ही सत्य हैं और उनका स्पष्ट रूप से बुद्धिगम्य होना ही उनकी सत्यता का पर्याप्त प्रमाण है। कडवर्थ ने डेकार्ट द्वारा स्पष्ट और विविक्त प्रत्ययों की पुष्टि के लिए बतायी गई कसौटी की चर्चा करते हुए यह ठीक ही कहा है 'सत्य कृत्रिम वस्तु नहीं है यह ऐसी चीज नहीं है कि जब चाहे बनाई जा सके यह तो सिर्फ "है"। सत्य का जीवन-तत्त्व उसकी यह स्पष्ट सुबोधता और बुद्धिगम्यता ही है।' डेकार्ट ने यह स्वीकार किया है कि अन्तर्दर्शनात्मक ज्ञान जिसके उद्गम को उसने बुद्धि का प्रकाश कहा है ऐसा ज्ञान है जो इन्द्रियों के परिवर्तमान साक्ष्य और कल्पना की भूल करने वाली संरचनाओं से उद्भूत भ्रामक निर्णय दोनों से भिन्न है। यह एक अन्तर्दर्शन है जो हमें अनावृत और एकाग्र मन से इतने स्पष्ट और विविक्त रूप में प्राप्त होता है कि हम उसके सम्बन्ध में समस्त सन्देहों से मुक्त हो जाते हैं।

१३ स्पिनोज़ा :

स्पिनोज़ा ने कल्पना और तर्क-बुद्धि को अन्तर्दर्शन (साइंटिया इंट्यूटिवा) से भिन्न माना है। कल्पना से हम सम्मतियाँ मानी अपर्याप्त और उलझे हुए विचार बनाते हैं। तर्क-बुद्धि द्वारा हम विविक्त नियमबद्ध ज्ञान प्राप्त करते हैं जो एक वैज्ञानिक की विशेषता है। किन्तु विज्ञान की दुनिया में जीवन का प्राण निकल गया है सिर्फ अन्तर्दर्शन ही उसमें पुनः इस प्राण की प्रतिष्ठा कर सकता है। 'हम तीसरे प्रकार के ज्ञान से जो कुछ समझते हैं उससे हम खूब प्रसन्न होते हैं और हमारी इस प्रसन्नता के साथ यह प्रत्यय भी रहता है कि ईश्वर उसका कारण

हल्डेनसन मिमम ४ १ १ १ ।

है। 'वस्तुओं के आन्तरिक स्वरूप को जानने के लिए, अर्थात् उन्हें वैज्ञानिक की भाँति सामान्य रूप में जानने के लिए नहीं बल्कि जिस तरह ईश्वर उन्हें अन्दर से जानता है उस तरह जानने के लिए हमें एक उच्चतर श्रेणी के ज्ञान की भी आवश्यकता है जिसकी ओर वैज्ञानिक ज्ञान संकेत करता है।'[१] 'शॉर्ट ट्रीटिज' में कहा गया है कि अन्तर्दर्शनात्मक ज्ञान का अर्थ 'तर्क या बुद्धि से किसी वस्तु पर विश्वास करना नहीं है बल्कि उस वस्तु के साथ अव्यवहित मिलन स्थापित करना है। यह अन्तर्दर्शन किसी अन्य वस्तु से पैदा नहीं होता बल्कि स्वयं ज्ञेय वस्तु हमारे आप में अपने-आपको प्रकाशित करती है।'[२] अन्तर्दर्शन से प्राप्त संतोष से मन को उच्चतम शान्ति प्राप्त होती है।

१४ लाइबनित्ज

लाइबनित्ज ने अपनी 'न्यू ऐसेज' पुस्तक में कहा है कि 'शुद्ध बुद्धि जैसी एक वस्तु भी है जिसकी परख आत्म प्रत्यक्ष द्वारा की जा सकती है।' उसका यह विश्वास कि बुद्धि में स्वयं बुद्धि के सिवाय कुछ भी सहज या जन्मजात नहीं है इस विचार को स्वीकार नहीं करता कि समस्त ज्ञान या तो प्रत्यक्षात्मक है या आनुमानिक।

१५ पास्कल

पास्कल की यह उक्ति बहुत प्रसिद्ध है कि हृदय के अपने निजी तर्क होते हैं जिन्हें बुद्धि नहीं जानती। देश, काल, गति और संख्या का अस्तित्व आदि स्वतःसिद्ध स्वीकृत सिद्धान्तों का ज्ञान भी उतना ही सुनिश्चित होता है जितना कि हमें अपनी तर्क-बुद्धि द्वारा प्राप्त सिद्धान्तों का ज्ञान। बुद्धि स्वयं यह स्वीकार करती है कि स्वयं उससे परे भी एक अनन्त क्षेत्र फैला हुआ है। पास्कल के अनुसार मन दो तरह से सोचता है—एक गणित की पद्धति से (मेस्प्री ज्योमेत्रीक) और दूसरे एक सूक्ष्मतर पद्धति से (एस्प्री द फिनेस)। इस दूसरी पद्धति से हम सत्य को देखते और अनुभव करते हैं।

१ एथिक्स, ५ ३ ।
[illegible]
३ [illegible]
४ एथिक्स ५ [illegible] ।

१६. काण्ट :

धर्म के दर्शन को काण्ट की मुख्य देन उसका यह आग्रह है कि ईश्वर को तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता। अपनी पुस्तक 'क्रिटीक आफ प्योर रीज़न' में उसने यह बताया है कि ईश्वर को सिद्ध करने के लिए दिये गए तर्क दोषपूर्ण हैं और वस्तुतः उनसे ईश्वर का खण्डन ही होता है। हमारी ज्ञान की क्षमताएँ प्रपंचमय जगत् तक ही सीमित हैं और यदि हम दैशिक और कालिक अनुभव के सिद्धान्तों का उससे भी परे के क्षेत्रों में विस्तार करें तो हम धोखा खा जाएँगे और बुद्धि के भ्रमों में फँस जाएँगे। कारण यह कि हमारा श्रेणी-विभाजन तब तक निरुपयोगी है जब तक कि उसकी सामग्री ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष से प्राप्त न हो और ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष हमें परिकल्पनात्मक तर्क-बुद्धि के लिए आवश्यक सामग्री कभी उपलब्ध नहीं करा सकता। ईश्वर न तो प्रत्यक्ष का विषय है और न अनुमान का। और यदि उसका अस्तित्व है तो उसका बोध किसी ऐसी पद्धति से होना चाहिए जो बाह्य जगत् पर लागू होने वाली पद्धति से भिन्न है। किन्तु दुर्भाग्य से काण्ट ने संसार को उसके देशातीत और कालातीत स्वरूप में जानने की विभिन्न पद्धतियों की सम्भावना के प्रश्न पर विचार नहीं किया हालाँकि उसने कुछ महत्त्वपूर्ण कीमती सुझाव दिये हैं विशेषकर विवेक के प्रत्यय नैतिक समस्या और उद्देश्यवादी निर्णयों के विवेचन के प्रसंग में।

हमारे बोध की विभिन्न श्रेणियों उदाहरणार्थ कारणता और द्रव्य आदि में हमें केवल आंशिक एकत्व प्राप्त होता है किन्तु मनुष्य के मन पर सर्वथा अविकल और पूर्ण अनुभव के प्रत्यय मँडराते रहते हैं। मनुष्य का मन अनुभव किये गए समग्र पूर्ण को चाहे वह ज्ञाता के रूप में हो या ज्ञेय के रूप में या दोनों के ऐक्य के रूप में एक ऐसे आकार में लाना चाहता है जिसमें उसे एक के रूप में ग्रहण किया जा सके। काण्ट ने भी प्लेटो की भाँति प्रत्ययों को विवेक के प्रत्यय (आइडियाज आफ रीज़न) कहा है। विवेक के प्रत्यय तीन हैं—आत्मा, सम्पूर्ण विश्व और ईश्वर। ये अनुभव के विषय नहीं हो सकते हालाँकि वे अनुभव का नियमित करते हैं। वे हमारे सामने कुछ समस्याएँ प्रस्तुत करते हैं और बुद्धि का आह्वान करते हैं कि वह अपनी ज्ञान की खोज में उनका समाधान करे। साथ ही वे संकल्पनाओं को सीमा में बाँधते हैं। वे यथार्थ सत्ता के स्वरूप का प्रतिपादन नहीं करते कारण विवेक के इन प्रत्ययों की आनुभविक पुष्टि नहीं हो सकती क्योंकि हर आनुभविक वस्तु सोपाधिक और सापेक्ष होती है और ये प्रत्यय निरुपाधिक

और निरपेक्ष है। यदि हम यह प्रश्न करें कि ये प्रत्यय पैदा कैसे होते हैं क्योंकि ये अनुभव की विषय-वस्तु के विपरीत हैं तो काण्ट का उत्तर यह है कि अवबोध उन उपाधियों को हटाकर, जिनके अन्तर्गत अनुभव में वस्तुएं जानी जाती हैं इन प्रत्ययों को आकार प्रदान करता है। प्रत्यय अवबोध की माँगों को अभिव्यक्त करते हैं। ये माँग है कुछ निष्ठ स्वाव जो अवबोध को अनुभव के लिए आवश्यक तथ्यों को एक एकीकृत प्रणाली में संगठित करने के कार्य में प्रेरित करते हैं। उनका एकमात्र कार्य अवबोध के कार्य को नियमित करना है उनका कोई वास्तविक महत्त्व नहीं है। वे हमें अपने अनुभव को समष्टित करने और उसका मूल्य आँकने में सहायता देते हैं। विज्ञान भी अन्ततः एक विश्वास और आशा पर आधृत है—अर्थात् तर्क के इस विश्वास पर कि वह सर्वोपरि है और इस आशा पर कि संसार एक बुद्धियुक्त तर्क के नियमों से बँधा हुआ है।

काण्ट ने विवेक को एक ऐसी शक्ति के रूप में कल्पित किया है जिसमें हम अपने अन्तिम या निरुपाधिक मूल सिद्धान्तों को जानते हैं। संज्ञानात्मक अनुभव के मामले में ये मूल सिद्धान्त हमें प्रामाणिक ज्ञान नहीं देते क्योंकि ज्ञान की सामग्री के लिए व्यक्ति को इन्द्रियों पर निर्भर करना पड़ता है और इसे जो सामग्री उपलब्ध होती है वह विवेक के मूल सिद्धान्तों के लिए पर्याप्त नहीं होती। किन्तु अपने व्यावहारिक प्रयोजन के लिए विवेक बहुतर स्थिति में है। एक आदेश देश और काल की दुनिया में वास्तविक आकार धारण किये बिना भी प्रामाणिक हो सकता है। इसलिए व्यावहारिक विवेक के सिद्धान्तों की निरुपाधिक प्रामाणिकता में कोई नैसर्गिक दोष नहीं है। नैतिक जीवन में विवेक के प्रत्ययों की प्रबलता और भी अधिक गहरी हो जाती है। विवेक के प्रत्यय जिस प्रकार की यथार्थ सत्ता की ओर संकेत करते हैं उसका एक उदाहरण कर्तव्य का तथ्य है। यह यथार्थ सत्ता निश्चित होते हुए भी अनुभव के सन्दर्भ में अन्य वस्तु नहीं है। हम अपने अन्तर्ज्ञान से ही नैतिक नियम को स्वतः अच्छा मान लेते हैं। उसे ऐसा मानने का कारण यह नहीं है कि एक हमसे बड़ी हस्ती हमें उस नियम के पालन का आदेश देती है या हम उसे अपने लिए भुगकर समझते हैं। निरुपाधिक मूल सिद्धान्त व्यावहारिक विवेक के क्षेत्र में भी प्रामाणिक मान लिए जाते हैं हालाँकि देश और काल के संसार में उनकी पूर्ति कभी नहीं हुई होती। काण्ट इस तथ्य के प्रति पूर्णतः सजग है कि गणित या मौलिक विज्ञानों में हम जिस प्रकार का बोध होता है वही सब कुछ नहीं है। नैतिक चेतना वह बिन्दु है जहाँ हम पूर्ण यथार्थ सत्ता को स्पर्श

करता है। अन्तःकरण व्यक्तिगत मन के भीतर यथार्थ सत्ता की पुकार है। नैतिक नियम का अन्तर्ज्ञानात्मक बोध देश और काल के संसार में किसी वस्तु के तार्किक बोध से बिलकुल भिन्न है।

यह एक दिलचस्प बात है कि काण्ट ने न केवल समस्त नैतिकता अथवा स्वितता या नियमबद्धता के अमूर्त सिद्धान्तों का बल्कि व्यवहार के मूर्ततर सिद्धान्तों का भी व्यावहारिक विवेक-बुद्धि के साथ सम्बन्ध जोड़ा है। विशुद्ध तर्क के क्षेत्र में काण्ट ने हमेशा इस बात पर बल दिया है कि अनुभव की सामग्री भी ज्ञान के लिए उसके आकार से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। किन्तु उसका विश्वास था कि व्यावहारिक विवेक के क्षेत्र में मनुष्य के समस्त कर्तव्यों का निर्धारण करने के लिए विवेक का अमूर्त सूत्र (एब्स्ट्रैक्ट फार्मूला) निरुपाधिक कर्तव्य का आदेश ही पर्याप्त है उसके लिए मानव प्राणियों की विशिष्ट कामनाओं और आकांक्षाओं पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। काण्ट के अनुसार हम अपने कर्तव्य को विवेकपूर्ण अन्तर्ज्ञान से जानते हैं न कि परिणामों का बुद्धि पूर्वक हिसाब लगाकर। किन्तु वास्तव में देखा जाए तो काण्ट की इस बात में पूर्ण संगति नहीं है। महज़ आत्म-संगति की कसौटी यानी निरुपाधिक कर्तव्य का आदेश हमें जीवन में पथ-निर्देश देने के लिए पर्याप्त सक्षम नहीं है। यह भी हो सकता है कि कोई व्यक्ति समस्त विश्व के विनाश की चाहना करने लगे सिद्धान्त रूप से इस सम्भावना की कल्पना असंगत नहीं है। यदि काण्ट आत्म-हत्या को गलत समझता है तो इसलिए नहीं कि आत्म-हत्या करना निरुपाधिक कर्तव्य के आदेश के आकारिक सिद्धान्त का उल्लंघन है, बल्कि वह इसलिए गलत है कि कुछ ऐसे उद्देश्यों के साथ उसकी संगति नहीं है जिनके साथ इच्छा का सम्बन्ध है। वे उद्देश्य व्यक्तियों की आकस्मिक आकांक्षाएँ नहीं हैं जोकि प्रकृत्या सोपाधिक होती हैं बल्कि ये उद्देश्य मानवता के उच्चतम-उद्देश्य हैं। ऐसी दशा में स्पष्टतः काण्ट यह स्वीकार करता है कि केवल नैतिकता के सामान्य सिद्धान्त ही नहीं बल्कि मनुष्य के विशिष्ट कर्तव्य भी विवेकपूर्ण अन्तर्ज्ञान से जाने जाते हैं।

काण्ट से यह आशा करना अस्वाभाविक नहीं था कि वह बोध की इस पद्धति के अभिप्राय और परिणामों का अधिक विस्तृत विवेचन करेगा और ईश्वर के ज्ञान पर भी उसे लागू करेगा किन्तु उसने ऐसा किया नहीं। काण्ट ने ईश्वर को महज़ नैतिक चेतना के एक स्वतःसिद्ध स्वीकृत तथ्य के रूप में प्रस्तुत

में ही लटका दिया है। उसके मत में ईश्वर एक आदर्श है जिसे हमें अपनी उन्नति के लिए अपने सामने रखना है। वह एक ऐसी यथार्थ सत्ता नहीं है जिसे हमें जानना है और न वह ऐसा व्यक्ति है जिसकी हमें पूजा करनी है। ईश्वर हमारे व्यवहार को नियन्त्रित और विनियमित करने के लिए एक सकल्पना है वह वैज्ञानिक अवबोध या सम्भावित अनुभव की वस्तु नहीं। हमारा यथार्थ का ज्ञान हमें धार्मिक सत्य प्रदान नहीं करता। नैतिक चतना हमें यह बताती है कि कुछ मूल्य ऐसे हैं जो हमारे लिए व्यवहार में अनिवार्य हैं और हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे हम यह मान सकें कि वास्तव में कोई ऐसी यथार्थ सत्ता है जिसमें ये मूल्य (आदर्श) निहित हैं। यदि हम यह मान लें कि ईश्वर ही वह वास्तविक और यथार्थ सत्ता है तो वह हमारा अपने मनोरथ के अनुसार कल्पना करना मात्र होगा जैसे ही संसार के प्रपंच प्रकृति में मोहकता और मनुष्यों में नैतिक नियम की चेतना को देखकर उसके कर्ता के रूप में ईश्वर के प्रति विश्वास करना कितना ही उचित और सकारण हो।

'क्रिटीक आफ जजमेंट' में काण्ट ने कहा है कि कभी-कभी मनुष्यों के विश्वासों का आधार भावना और अनुभूति की आवश्यकताएँ होती हैं। हमारी भावनाओं का सम्बन्ध कुछ हद तक ज्ञान और विवेक से भी होता है। हमारी यह भावना कि प्रकृति में अमुक चीज अच्छी और मूल्यवान है एक अन्तिम पृष्ठ-भूमि की धुँधली और अस्पष्ट स्वीकृति है जिसे हम ईश्वर कह सकते हैं। किन्तु उसका कहना है कि एक उच्चतर मन ऐसा भी हो सकता है जिसमें अन्तर्ज्ञाना-त्मक ज्ञान हो जिसके कारण उसे व्यापार के आधार पर निर्णय करना आवश्यक हो।[1] काण्ट के दर्शन में तीन विचारधाराएँ—विवेक के प्रागम नैतिक जीवन के आकार और सामंजस्य की कल्पना—इस विचार की पुष्टि करती हैं कि काण्ट के दर्शन में विवेक का अर्थ एक गम्भीरतर विवेक या अन्तर्ज्ञान है। काण्ट को ईश्वर की यथार्थता में विश्वास है क्योंकि पदार्थ भेद से श्रेणी-विभाजन द्वारा मीमांसिक तर्क के अलावा हम बोध का एक और साधन भी पाते हैं जिसे काण्ट ने नैतिक चेतना कहा है। हममें केवल अच्छे और बुरे की ही नहीं बल्कि एक निरुपाधिक सत्ता की भी चेतना है जो हमने किसी अनुभव से प्राप्त (ए पास्टीरियरी) नहीं की।

१ नैतिकता में काण्ट के इस कथन का उल्लेख किया है। यह सम्भव है कि हमारे अन्तर्द्वन्द्व में वस्तुओं के अन्तिम तत्व का अनुभव निहित हो पर यह भी सम्भव है कि अन्य रचना का अभिव्यक्तन करने का माध्यम हो।

य चेतनाएँ आत्मा के अपने ज्ञान के गम्भीरतम स्तर से पैदा होती हैं। सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के तर्क बल्कि हमारी समस्त प्रकृति हम उसके लिए मजबूर करती है। यदि हम ईश्वर में विश्वास न रखें तो हम अपने गहन अन्तरतम के प्रति झूठे सिद्ध होंगे। कान्ट ने यह सिद्ध किया है कि ईश्वर एक ऐसी यथार्थ सत्ता है जिसके साथ मन की अपनी गम्भीरतम अवस्था में सायुज्य होता है हालांकि प्रपंचात्मक अनुभव में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो ईश्वर के साथ सायुज्य स्थापित कर सके। कान्ट के दर्शन की शिक्षा यह है कि अन्तर्ज्ञान स्वतःप्रमाण होते हैं और वे किसी अन्य ज्ञान से उद्भूत नहीं होते हालांकि स्वयं कान्ट को भी यह मालूम नहीं था कि उसके दर्शन का यह निष्कर्ष है। कान्ट का खयाल है कि अन्तर्ज्ञानात्मक अवबोध ईश्वर का ही एक विशेषाधिकार है और मानवीय आत्मा का यह गुण नहीं है। उसकी इस गलत अवधारणा का कारण यह है कि उसने मानवीय ज्ञान की अपनी ओर से एक सीमा निर्धारित कर दी थी। उसका मत है कि हमारे ज्ञान में इन्द्रिय ज्ञान का अंश अवश्य रहता है और इसके अतिरिक्त हमारे पास अन्तर्ज्ञान या अपरोक्ष अनुभव की कोई दूसरी शक्ति नहीं है। हमारे प्रत्यक्षानुभव हमेशा ऐन्द्रिक संवेदनात्मक होते हैं और हमारा अव बोध सामान्य धारणाओं के बारे में होता है इसलिए अन्तर्ज्ञानात्मक नहीं होता। कान्ट ने एक अन्तर्ज्ञानात्मक अवबोध की सम्भावना की कल्पना की है। अपनी पुस्तक 'डिसर्टेशन' में उसने कहा है "हमारे मन की अन्तर्ज्ञानात्मक शक्ति हमेशा *निष्क्रिय है और यह उसी सीमा तक सम्भव है जिस सीमा तक कोई वस्तु हमारी इन्द्रियों को प्रभावित करती है।* किन्तु ईश्वर की अन्तर्ज्ञान की शक्ति जो वस्तुओं का कार्य (परिणाम) नहीं कारण है क्योंकि वह उनसे स्वतन्त्र है उनका मूल आधार है और इसीलिए वह पूर्णतः मौलिक है।" यदि कान्ट ने मनुष्य को अन्तर्ज्ञानात्मक अवबोध के विशेषाधिकार से वंचित किया है तो इसका कारण उसका बौद्धिकवाद है जो महज एक दुर्भाग्य है। यद्यपि कान्ट ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक तर्क में भेद किया है तो भी उसने व्यावहारिक तर्क को भी बौद्धिक माना है। पुण्य-कार्य करते हुए यदि रोमांच अनुभव हो तो वह पुण्य-कार्य नहीं रहता। उसने विचार का भावना और मनुष्य की भौतिक प्रकृति के दूसरे पक्ष में बलपूर्वक तौर पर अलग कर दिया और यह अनुभव नहीं किया कि मन अपने समग्र रूप में ऐसी वस्तुओं को जान सकता है जो मात्र बुद्धि की सीमा से परे होती

३. कान्ट्स लिमिट्स ऑफ रिलीजन, १९६५, पृष्ठ ४७।

के ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष में विद्यमान हैं। एकता और अन्योन्य सम्बन्ध स्वयं वस्तुनिष्ठ जगत् के लिए भी नहीं हैं। कोई सन्देह इस विश्वास को हिला नहीं सकता। जो कुछ हम जानते हैं वह हमारी अपनी आत्मनिष्ठता से उत्पन्न भ्रम नहीं है। हमारा ज्ञान स्वयं वस्तुओं का ही हमारे लिए प्रतीयमान रूप है। यह ठीक है कि हम वस्तुओं को कुछ सीमाओं के अन्तर्गत देखते हैं। हमारा ज्ञान प्रामाणिक है भले ही वह कुछ सीमाओं के अन्तर्गत हो। जब तक हम उन सीमाओं को जानते न हों तब तक हम उन्हें सुधार नहीं सकते।

दूसरी बात यह कि काण्ट ने यद्यपि यह बात कही है कि प्रकृति इस दृष्टि से हमारे मन की ही रचना है कि विभिन्न पदार्थों का भेद ज्ञान हमारे ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष की विविधता को सम्मिश्र करता है तथापि उसने यह प्रश्न नहीं उठाया कि हमारे प्रागनुभव आकार हमारे ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष की सामग्री के अनुकूल कैसे होते हैं। जब तक आत्मा और उसके पदार्थ-भेद एवं अनात्मा वाली प्रकृति का मूल स्रोत एक ही न हो जब तक हमारे विचार और वस्तुओं के वास्तविक रूप में एकत्व न हो तब तक हम सामंजस्य और अनुकूलता की किसी भी तरह व्याख्या नहीं की जा सकती।

विवेक के प्रत्ययों के सम्बन्ध में काण्ट का दृष्टिकोण कुछ अपर्याप्त और दोषपूर्ण है। यद्यपि अवबोध का पदार्थ ज्ञान कुछ ऐसी प्रागनुभव संकल्पनाओं के रूप में है जिनके बिना प्रत्यक्ष अनुभव किये जाने वाले प्रपंच का कोई ज्ञान सम्भव नहीं है तथापि विवेक के प्रत्यय ऐसे ज्ञान हैं जो मानवी विचार के सम्मुख एक लक्ष्य और आदर्श उपस्थित करते हैं और उसे यह प्रेरणा देते हैं कि मनुष्य का ज्ञान अपने प्रति सच्चा तभी हो सकता है जबकि वह उक्त लक्ष्य के अनुरूप और निकट हो। ज्ञान को विधिपूर्वक एक निश्चित पद्धति में बाँधने के लिए बुद्धि का प्रयत्न विवेक के प्रत्ययों से निर्देशित होता है। आनुभविक जगत् में ऐसी कोई भी वस्तुएँ नहीं हैं जो उन आदर्शों से युक्त हों इसीलिए वे आदर्श हमेशा अपूर्ण ही रह जाते हैं। फिर भी हमसे कहा जाता है कि हम यह मानकर चलें कि वैसी आदर्श वस्तुएँ भी संसार में हैं अन्यथा हमारे जीवन निरर्थक हो जायेंगे। एक ओर अवबोध का पदार्थ भेद इसलिए आवश्यक है कि उसके बिना हमें कोई भी ज्ञान नहीं हो सकता और दूसरी ओर विवेक के प्रत्यय इसलिए आवश्यक हैं कि उनके बिना हमारा ज्ञान किसी निश्चित विधि और प्रणाली में नहीं बँधता। काण्ट की दृष्टि में वे प्रत्यय वर्तमान केन्द्रीय सत्य नहीं हैं बल्कि भावी सम्भावनाएँ हैं। काण्ट की विचार

बजाय स्वयं उसकी स्वयंपूर्णता और सम्बद्धता ही मानी जाती है तो उसका श्रेय काण्ट के विवेक के प्रत्ययों के सिद्धान्त की मान्यता को कुछ कम नहीं है। ये विवेक के प्रत्यय बाह्य इन्द्रियों और बुद्धि के सम्मुख प्रकट तथ्यों से अधिक बड़ी यथार्थता हैं। प्रत्ययों को आकारों की जिनमें वे काफी ठीक बैठ जाते हैं कुछ नकली ढाँचे मानने के बजाय हम तथ्यों को यथार्थता का जिसे वे अभिव्यक्त करते हैं आंशिक प्रतिपादक रूप मान सकते हैं। काण्ट की दृष्टि में विवेक एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा हम अन्तिम या निरुपाधिक सिद्धान्तों को जानते हैं। आनुभविक अर्थ की दृष्टि में अवबोध का जो अभिप्राय है उससे यह भिन्न है। आनुभविक अवबोध की दृष्टि से विवेक के प्रत्यय केवल प्रत्यय ही हैं एक निरुपाधिक की माँग हैं जो काण्ट के मत में उन्हें दिया नहीं जा सकता हालाँकि उपाधियों के पूर्णतर ग्रहण के लिए विचार का अविरत प्रयत्न चलता रहता है। किन्तु विवेक या तर्क ऐसी शक्ति नहीं है जिसका अन्य शक्तियों के साथ समन्वय हो। वास्तव में विवेक या तर्क का अर्थ है समस्त मन का एक अविभाज्य मौलिक शक्ति का जिससे शेष सब शक्तियाँ प्रस्फुटित होती हैं सक्रिय होना। इस कथन का कि ईश्वर का प्रत्यय तर्क की उपज है अर्थ यह है कि वह मानव के गम्भीरतम जीवन का परिणाम है व्यक्ति की समस्त प्रकृति की यथार्थ सत्ता के स्वरूप पर प्रतिक्रिया है। जब मनुष्य की सम्पूर्ण सत्ता की वस्तुओं की सम्पूर्ण प्रकृति के साथ टक्कर होती है तो उसे अपने प्रश्न का जो उत्तर मिलता है वह ईश्वर ही है। यदि हमारी तर्क की शक्ति हमें प्रपंचात्मक जगत् से किसी ऊँचे जगत् का किसी ऐसी वस्तु का जो किसी कारण का कार्य नहीं है बल्कि स्वयं सभी कार्यों का मूल कारण है ज्ञान देती है और यदि वह इस ज्ञान को ईश्वर मुक्ति और अमरत्व के प्रत्ययों का आकार प्रदान करती है तो इसका अर्थ यह है कि ये प्रत्यय मन

विवेक ने इन्हें प्राप्त किया है। ... वह इस बात को खूब अनुभव करता है कि हमारी ज्ञान की शक्ति के लिए इन प्रत्ययों को एक अनुभव की तरह ... लेने के लिए केवल ... का स्थान नहीं है कि ... अभिव्यक्त अनुभवों को ... सुविस्तृत ... के रूप में ... कर सकें बल्कि उसे इससे भी अधिक की आवश्यकता है। वह यह जानता था कि हमारा विवेक ... इस प्रकार ... ज्ञान के ... आकारों में ... है जो अनु-भव ... है कि ... भी आनुभविक वस्तु इन आकारों के ... नहीं होता। फिर भी इन आकारों का यथार्थ ... चाहिए और वे किसी भी ... मात्र ... नहीं हैं। ... ... 'विशुद्ध तर्क ... ' ... (... पृष्ठ ...)।

की संरचना के ताने-बाने में ही बुने हुए हैं। ये प्रत्यय आत्मनिष्ठ कल्पनाएँ नहीं हैं और न आचार-शास्त्र के आधारभूत स्वीकृत तथ्य हैं बल्कि वे मन के आत्मक फल हैं जो उसके सप्राण मूल तत्त्व से उद्भूत होते हैं। वे तार्किक ज्ञान की वस्तु नहीं हैं बल्कि अन्तर्ज्ञान से प्राप्त सुनिश्चित बोध हैं। काण्ट के उत्तरवर्तियों ने यह अनुभव किया कि सच्चा या वस्तुनिष्ठ ज्ञान वह है जिसे विचार स्वयं अपनी प्रकृति से ही सोचने को विवश होता है। जो कुछ सोचने के लिए हम विवश होते हैं वह यथार्थ होता है। हेगेल जब यह कहता है कि यथार्थ ही तर्कसंगत है तो वास्तव में वह इस महत्त्वपूर्ण सत्य को ही कहता है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि हेगेल का तर्क शब्द से जो अभिप्राय है वह काण्ट के तर्क के अर्थ से अर्थात् उस शक्ति से भिन्न है जिससे हमें व्यावहारिक और क्रियात्मक दोनों प्रकार के निरपवाद मूल सिद्धान्तों का ज्ञान होता है। यदि यथार्थ सत्ता का अभिप्राय ऐसी वस्तु से हो जो देश और काल की दृष्टि से वास्तविक है तो ईश्वर यथार्थ नहीं है किन्तु यदि यथार्थ सत्ता का अभिप्राय वह वस्तु या सत्ता है जिसे विचार समस्त सत्तावान वस्तुओं मन एवं उसके शेष पदार्थों में कार्य करने वाली तथा उन्हें परस्पर मिलाकर एक सन्तोषजनक ब्रह्माण्ड का रूप देने वाली मूल वस्तु मानने के लिए बाध्य है तो ईश्वर यथार्थ सत्ता है। ईश्वर और नैतिक नियम दोनों का सुनिश्चितता के एक ही स्रोत से सम्बन्ध है हालाँकि वे प्रक्षित तथ्य नहीं हैं। जब काण्ट ईश्वर को सिद्ध करने के लिए दिये गए प्रमाणों के विरुद्ध यह कहता है कि किसी वस्तु का प्रत्यय ही उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है कि आहार्य गुणों (ऐक्सीडेंटस) से आवश्यक या अनिवार्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता और कि नैतिक धर्मशास्त्रीय प्रमाण उपर्युक्त दोनों प्रकार के प्रमाणों के विरुद्ध है तो उसका अभिप्राय यह होता है कि हम ईश्वर की यथार्थता को प्रमाणित नहीं कर सकते। उच्चतम प्रत्यय न तो प्रत्यक्ष से प्राप्त किया जा सकता है और न तर्क से सिद्ध किया जा सकता है बल्कि वह आत्मा के गुह्य स्थान में स्थापित है और उसकी प्रामाणिकता आत्मा के अपने आपमें विश्वास के तर्क से सिद्ध होती है।

१७ हेगेल

हेगेल का कथन है कि उसने अपनी दार्शनिक विचारधारा में अन्तर्ज्ञान का कोई उपयोग नहीं किया है। वास्तविकता यह है कि उसने शैलागी के

अन्तर्ज्ञान-सम्बन्धी विचार पर आपत्ति की है और उसका कारण स्पष्टतः यह है कि वह (जैकोबी) उसे शेष मानसिक जीवन से सर्वथा असम्बद्ध अमूर्तकरण (ऐब्सट्रैक्शन) मानता है। जैकोबी का कहना है कि दार्शनिक सत्य को प्रावधों के व्यवहित ज्ञान से नहीं बल्कि अव्यवहित अन्तर्दृष्टि या अपरोक्ष ज्ञान से जिसे वह विश्वास कहता है जाना जा सकता है। हेगेल ने जो अपने-आपको सब प्रकार के अमूर्तकरणों का शत्रु कहता था जैकोबी के विश्वास-सम्बन्धी विचार का विरोध किया।

हेगेल सारे ब्रह्माण्ड को एक सत्ता मानता है। उसकी दृष्टि में समस्त यथार्थ जगत् एक ही आध्यात्मिक आंगिक सत्ता है। वह एकाकी अन्तिम सत्ता निरपेक्ष और निरुपाधिक आत्मा है जो अपने-आपको साकार करती हुई ऐसे आकारों के रूप में प्रकट होती है जो स्वयं उससे भिन्न प्रतीत होते हैं किन्तु जो वास्तव में उसी के ऐसे आवश्यक आकार हैं जिनमें से होकर उसकी अन्तिम आत्मा अभिव्यक्ति होती है। प्रकृति वह प्रक्रिया है जिससे गुजरकर अमस्त आत्मा अपनी पूर्णतम मूर्तता प्राप्त करती है। किन्तु हेगेल इस 'एकता' तक पहुँचता कैसे है? यह निश्चय ही द्वन्द्वात्मक तर्क की खोज नहीं है। हेगेल का दर्शनशास्त्र मूर्त 'एकता' का एक लम्बा द्वन्द्वात्मक प्रतिपादन है किन्तु द्वन्द्वात्मक तर्क ऐसी पद्धति नहीं है जिसमें मनुष्य का मन 'एक' के प्रत्यय तक पहुँच सके। द्वन्द्वात्मक तर्क की पद्धति यह है कि यदि कोई प्रत्यय पहले से विद्यमान हो तो वह उसके फलितार्थ का प्रतिपादन क[illegible]। किन्तु अनेक सकल्पनाओं को जोड़कर हम 'एक' की भावना की व्याख्या नहीं कर सकते। यदि द्वन्द्वात्मक तर्क से हमें निष्कर्ष के रूप में 'एक' का प्रतिपादन करना हो तो हम उस तर्क के आधार-वाक्य में रखना होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पहले हमें मन में 'एक' को अनुभव करना होगा तब हम सकल्पनाओं में उसका निर्धारण कर सकते हैं। काण्ट के साथ स्वर मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि बिना पूर्व अन्तर्ज्ञान के कोई उपयुक्त तर्कपूर्ण सकल्पना सम्भव नहीं है। हेगेल की दार्शनिक प्रणाली में 'एक' की यह जो भावना हम [illegible] केन्द्रीय तत्त्व के रूप में रखते हैं वह अन्तर्ज्ञान से अनुभव करके प्रकट की है तर्क से सिद्ध करके नहीं कही गई। जब अन्तर्ज्ञान हम अपने ज्ञान और सत्ता की प्रतीति से परे और पृष्ठभूमि में विद्यमान किसी वस्तु का प्रत्यक्ष प्रमाण [illegible] है तो [illegible]त्मक तर्क [illegible] सत्ता अमरता और स्वर्ग आदि की

स्पष्टीकरण दर्शन करते हैं। यदि अन्तर्ज्ञान केवल भावनात्मक अनुभूति हो अविकल ज्ञान न हो तो वह हमें सत्य प्रदान नहीं कर सकता। किन्तु जैसा कि स्वयं हेगेल ने कुछ स्थानों पर कहा है यदि वह सृजनात्मक अन्तर्ज्ञान है जिसे ठीक नपी-तुली संकल्पनाओं में प्रकट नहीं किया जा सकता और जिसे अपना-आपका व्यक्त करने के लिए प्रतीकों और बिम्बों की आवश्यकता होती है, तो उसका स्पष्ट अर्थ है कि धर्म में विश्व-आत्मा मूर्त रूप में प्रकट होती है और दर्शन में केवल अमूर्त रूप में। दर्शन का कार्य सृजनात्मक के बजाय व्याख्यात्मक है। यदि मोह प्रिय धर्म साहित्यिक आकारों का स्थान प्रतीकात्मक आकारों को देता है तो वह मिथ्या है और यदि दर्शन यह मान लेता है कि वह आध्यात्मिक खोज के लिए अन्तिम सत्य का प्रतिपादन करता है तो वह भी मिथ्या है। दर्शन जिस रूप में यथार्थ को ग्रहण करता है वह यथार्थ वस्तु के सच्चे रूप को उतना अभिव्यक्त नहीं करता जितना कि वे आकार करते हैं जिनमें धार्मिक अन्तर्ज्ञान प्रकट होते हैं। अविकल और अखण्ड ज्ञान में ही मनुष्य की आत्मा अपने उच्चतम विकास की स्थिति में पहुँचती है। इसके अतिरिक्त हेगेल ने यह तर्क किया है कि यह ख्याल करना कि केवल दर्शन से ही हम ईश्वर की यथार्थता निश्चय हो सकती है ऐसा ही है जैसा कि यह मानना कि आहार तब तक नहीं हो सकता जब तक कि हमें अपने भोजन के रासायनिक वानस्पतिक और प्राणिविज्ञान-सम्बन्धी गुणों का ज्ञान न हो जाए, या यह मानना कि हम खाये हुए आहार का आमाशय में पाचन तब तक स्थगित कर देना चाहिए जब तक कि हम आमाशय की रचना और क्रिया का अध्ययन पूर्ण न कर लें। यह स्पष्ट है कि अपने ईश्वर-ज्ञान के सजीव तत्त्व के लिए हमें धार्मिक अनुभव की शरण लेनी पड़ेगी और तर्क तथा दर्शन सिर्फ हमारे अन्तर्ज्ञान का

एक ऐसा नित्य ज्ञाता है जिसकी मानवी मन में उपस्थिति के बिना समस्त संवेदनात्मक अनुभूतियाँ अन्धी और समस्त संकल्पनाएँ ऊसर होंगी। अन्तर्ज्ञान विश्वास आध्यात्मिक अनुभव [1] या धार्मिक दर्शन की भाषा में धर्मग्रन्थों का प्रामाण्य—ये सभी ज्ञान और जीवन के लिए आवश्यक हैं।

५ मनुष्य की अध्यात्म चेतना

१ अन्तर्ज्ञान और वैज्ञानिक प्रतिभा :

समस्त उच्च चिन्तन और उच्च जीवन की जड़ स्वयं जीवन में गहरी जमी हुई है उनका उद्गम निरे तर्क के शुष्क प्रकाश से नहीं हुआ। विज्ञान और दर्शन कला और जीवन—सभी में समस्त सृजनात्मक कार्य का प्रेरणा-स्रोत अन्तर्ज्ञानात्मक अनुभव है। यद्यपि अन्तर्ज्ञानात्मक बोध हम सभी का है और हम सभी कुछ-न-कुछ उसका उपयोग भी करते हैं तो भी कुछ असाधारण मनों में वह बहुत अधिक विकसित रूप में होता है। अन्तर्ज्ञानाश्रित जीवन अर्थात् उच्चतम आध्यात्मिक जीवन एक ऐसी उपलब्धि है जिसका सम्बन्ध उच्चतम धर्मों के मानसिक जीवन से है। *विज्ञान की महान् खोजों का श्रेय सृजनात्मक चिन्तकों की* आविष्कार प्रतिभा को है न कि बुद्धि की भारी भरकम प्रक्रियाओं को। बौद्धिक प्रक्रियाएँ हमें अधिक सूक्ष्म और सही नाप-तोल दे सकती हैं सुप्रतिष्ठित सिद्धांतों को अधिक विस्तृत रूप में प्रदर्शित और सिद्ध कर सकती हैं, किन्तु अकेले उनसे हम वे महान् खोजें प्राप्त नहीं हो सकतीं जिन्होंने विज्ञान को इतना आश्चर्यजनक बना दिया है। सृजनात्मक कार्य का अर्थ भव्य अनुकरण या यान्त्रिक पुनरावृत्ति ही नहीं है। संकल्पनात्मक अन्तर्दृष्टि ही लम्बे डग भरकर आगे बढ़ती है। एक नया सत्य जो उस समय तक सर्वथा अज्ञात था जो अपनी अद्भुतता के कारण विस्मयकारी है समग्र समस्या में एकाग्रचित्तता के कारण सहसा स्वतःस्फूर्त होकर आविर्भूत होता है। जब हम उस निर्णायक प्रत्यय को प्रकाश में देखते हैं तो असम्बन्धित और सामञ्जस्यहीन विस्तार की एक विपुल सम्पदा एक निश्चित क्रम और व्यवस्था में बँध जाती है और एक पूर्ण 'एक' के रूप में प्रकट होता है। प्रतिभा का अर्थ है सत्य के प्रति अत्यधिक संवेदनशीलता। वैज्ञानिक आविष्कार नये तथ्य के अनुसन्धान के मामले में कलात्मक सृजन के समान ही है। टिण्डाल ने फैरेडे की विद्युच्चुम्बक-सम्बन्धी कल्पनाओं के बारे में कहा था अपने की

जाता है तो उसे तर्कपूर्ण और सयुक्तिक आकार अवश्य दिया जाना चाहिए, और उसके लिए हमें तर्कशास्त्र की भाषा को अपनाना पड़ता है, क्योंकि तर्कशास्त्र की भाषा ही ऐसी भाषा है जिसमें कोई बात किसी को समझाई जा सकती है। जब आविष्कार या खोज को आकारिक तर्क के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तब आविष्कार और उसके प्रमाण गड़बड़ा जाते हैं। प्रमाण क्योंकि संकल्पनात्मक अध्ययन के रूप में होता है इसलिए खोज को भी संकल्पनात्मक-संश्लेषण ही समझ लिया जाता है। आविष्कार की कला को भूल से प्रमाण-कला तर्क और युक्ति प्रतियुक्ति समझ लिया जाता है और उसका परिणाम यह होता है कि विचार की अधिक गहरी सक्रिया का हम कृत्रिम रूप से अत्यधिक सरलीकरण कर जाते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि हम आविष्कार अन्तर्ज्ञान से करते हैं किन्तु उसे प्रमाणित तर्क से करते हैं। व्याख्या की कला मन का एक साहसिक कृत्य है। जब अन्तर्ज्ञान पैदा होता है तो विचार उसे एक आकार प्रदान करता है और उसे दूसरों तक पहुँचाने के योग्य बनाता है। यदि आविष्कार की प्रक्रिया विशुद्ध संकल्पनात्मक प्रक्रिया होती तो कोई भी व्यक्ति जो कि पहले की संकल्पनाओं को यन्त्रवत् संचालित कर सकता है अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर सकता और उसके लिए किसी प्रतिमा की आवश्यकता न होती। बाह्य बौद्धिक अध्ययन से हम तथ्यों का एक अधिक व्यापक अध्ययन कर सकते हैं, एक अधिक व्यापक नियम बना सकते हैं, एक अधिक पूर्ण विचार प्राप्त कर सकते हैं परन्तु बुद्धि के द्वारा अध्ययन से सृजनात्मक प्रत्यय प्राप्त नहीं किया जा सकता। सृजनात्मक अन्तर्दृष्टि तर्क की शृंखला में अन्तिम कड़ी नहीं है। अगर यह अन्तिम कड़ी होती तो हमें यह आकस्मिक मुक्त स्फुरण 'स्फुरित' प्रतीत न होती।[1] प्रतिभा का स्फुलिंग ही ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित करता है और उसे जलाए रखता है। बुद्धि सिर्फ उसके लिए आवश्यक उपकरण प्रदान करती है। ये उपकरण कीमती अवश्य हैं किन्तु वे स्वयं ज्ञान नहीं हैं। अन्तर्ज्ञान कोई बचपना या मरीचिका नहीं है। बाह्य संश्लेषण और आभ्यन्तर स्फुरणा में कच्ची सामग्री और तैयार उत्पादन में पहले से ही अ-हस्त्य प्राप्त सामग्री और ऊपर से थोपी गई वस्तु में अन्तर है। जब आविष्कारक के मन में

[1] गुस्ताव मर्लियर, मन नाम्मी नरिश्म 'प्रतिभा वहाँ प्रारम्भ होती है जहाँ तत्वबुद्धि का अन्त होता है। प्रतिभा सूर्य्य की तरह चमकती जाती है जबकि तत्वबुद्धि कार्तिसियन-वाद्धिस्य वैज्ञानिक पद्धति के नियमों के अनुसार चरण धरती है। प्रतिभा लक्ष्य को देखती है, और तत्वबुद्धि उसे सिद्ध करती है। (जर्नल दल ए आर्ट्स (१, भाग १)।

होते हैं ? उस आलोक का कारण धैर्यपूर्वक कुछ नये तथ्यों का संकलन उतना नहीं होता जितना कि पहले से ही सुविज्ञात तथ्यों में एक नये अर्थ का प्रतिभासित हो जाना होता है। न्यूटन ने जिस दिन गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का आविष्कार किया उसी दिन सेब पहले-पहल वृक्ष से नीचे नहीं गिरा था बल्कि सेब तो न जाने कितने समय से वृक्ष से गिरते था रहे थे। प्रतिभा तथ्यों को जो सामान्य अवबोध को पृथक-पृथक और असम्बद्ध प्रतीत होते हैं परस्पर बांधने वाले अन्त निहित अर्थों को अपनी अन्तर्भेदी दृष्टि से देख लेती है। गतिशील और सक्रिय सिद्धान्त की अन्तर्ज्ञान से ग्रहण करने की क्षमता से ही मनुष्य-तथ्यों को सफलता पूर्वक एक संगठन में ग्रथित कर सकता है। बेर्गसां ने इस समस्या पर विचार करते हुए कुछ सुझाव दिये हैं। आम तौर पर यह समझा जाता है कि वैज्ञानिक आविष्कार संकल्पनात्मक संश्लेषण के परिणाम हैं अर्थात् मूर्त विश्लेषण से प्राप्त संकल्पनाओं को परस्पर जोड़कर या बाहरत एक-दूसरे के निकट रखकर ही हम वैज्ञानिक निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। इस विचार का समर्थन दो आधारों पर किया जाता है। कोई भी व्यक्ति जो अमूर्त विश्लेषण से परिचित नहीं है तार्किक अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं कर सकता। अन्तर्दृष्टि तब तक पैदा नहीं हो सकती जब तक कि हम सम्बद्ध मामले के तथ्यों व्यापारों और बुद्धि से उद्भूत अर्थ-विचारों से परिचित न हों। अन्तर्ज्ञान के सफल उपयोग के लिए बहुत बड़ी संख्या में तथ्यों और नियमों का पहले से अध्ययन करना और उन्हें आत्मसात् करना पड़ता है। हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि महान् अन्तर्ज्ञान तार्किकता के गर्भ से पैदा होते हैं। दूसरी बात यह है कि जब कोई खोज या आविष्कार किया जाता है तो हम देखते हैं कि उसमें कुछ ऐसी तार्किक संकल्पनाओं के लिए भी गुंजाइश होती है जो इस आविष्कार के पहले से ही विद्यमान होती हैं बशर्ते कि उनमें कुछ थोड़ा बहुत हेर-फेर और सामंजस्य किया जा सके और उनको कुछ पुनर्व्यवस्थित भी जा सके। यह पुन सामंजस्य इतना आसान होता है कि अन्तर्दृष्टि प्राप्त होने पर पता भी नहीं चलता कि यह कैसे हो गया और हम यह कल्पना करने लगते हैं कि खोज और आविष्कार तो प्रक्रिया सिर्फ बौद्धिक संश्लेषण ही है। तीसरी बात यह है कि आविष्कार को जो अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है उसे दूसरों का बताने के लिए वह बौद्धिक संश्लेषण के रूप में प्रस्तुत करता है। तार्किक युक्ति ही मान्यता को सुदृढ़ बनाती है और उसी से दूसरों का औसत से अधिक संवेदनशील लोगों को अन्तर्ज्ञान को समझने में सहायता मिलती है। एक बार जब कोई ज्ञान प्राप्त हो

जाता है तो उसे तर्कपूर्ण और सयुक्तिक आकार अवश्य दिया जाना चाहिए, और उसके लिए हम तर्कशास्त्र की भाषा को अपनाना पड़ता है, क्योंकि तर्कशास्त्र की भाषा ही ऐसी भाषा है जिसमें कोई बात किसी को समझाई जा सकती है। जब आविष्कार या खोज को आकारिक तर्क के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तब आविष्कार और उसके प्रमाण गड़बड़ा जाते हैं। प्रमाण क्योंकि संकल्पनात्मक विश्लेषण के रूप में होता है इसलिए खोज को भी संकल्पनात्मक-विश्लेषण ही समझ लिया जाता है। आविष्कार की कला को भूल से प्रमाण की कला तर्क और युक्ति प्रतियुक्ति समझ लिया जाता है और उसका परिणाम यह होता है कि विचार की अधिक गहरी गतियों का हम कृत्रिम रूप से अत्यधिक सरलीकरण कर लेते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि हम आविष्कार अन्तर्ज्ञान से करते हैं किन्तु उसे प्रमाणित तर्क से करते हैं। व्याख्या की कला मन का एक साहसिक कार्य है। जब अन्तर्ज्ञान पैदा होता है तो विचार उसे एक आकार प्रदान करता है और उसे दूसरों तक पहुँचाने के योग्य बनाता है। यदि आविष्कार की प्रक्रिया विशुद्ध विश्लेषणात्मक प्रक्रिया होती तो कोई भी व्यक्ति जो कि गहन की संकल्पनाओं को यन्त्रवत् सुव्यवस्थित कर सकता है, अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर सकता और उसके लिए किसी प्रतिभा की आवश्यकता न होती। बाह्य बौद्धिक विश्लेषण में हम तथ्यों का एक अधिक व्यापक अध्ययन कर सकते हैं एक अधिक व्यापक नियम बना सकते हैं एक अधिक पूर्ण विचार प्राप्त कर सकते हैं परन्तु बुद्धि के द्वारा अध्ययन में सृजनात्मक प्रत्यय प्राप्त नहीं किया जा सकता। सृजनात्मक अन्तर्दृष्टि तर्क की शृंखला में अन्तिम कड़ी नहीं है। अगर यह अन्तिम कड़ी होती तो हमें यह अपने मूल रूप में 'स्फुरित' प्रतीत न होती।[1] प्रतिभा का स्फुलिंग ही ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित करता है और उसे जलाए रखता है। बुद्धि सिर्फ उसके लिए आवश्यक उपकरण प्रदान करती है— ये उपकरण कीमती अवश्य हैं किन्तु वे स्वयं ज्ञान नहीं हैं। अन्तर्ज्ञान कोई विश्लेषण या संरचना नहीं है। बाह्य विश्लेषण और आभ्यन्तर स्फुरणा में कच्ची सामग्री और तैयार उत्पादन में पहले से ही स्फुरणा प्राप्त सामग्री और ऊपर से थोपी गई वस्तु में अन्तर है। जब आविष्कारक के मन में

[1] तुलना कीजिए सर [illegible] : 'प्रतिभा वहाँ आरम्भ होती है जहाँ तर्कबुद्धि का अन्त होता है। प्रतिभा तूफान की तरह अचानक आती है, जबकि तर्कबुद्धि धीरे-धीरे वैज्ञानिक पद्धति के नियमों के अनुसार काम करती है। प्रतिभा सत्य को देखती है और तर्कबुद्धि उसे सिद्ध करती है।' [illegible]

अन्तर्दृष्टि पैदा होती है तो उसमें मूर्त प्रत्ययों के रूप में पहले से पृथक्कृत गुण तथा ऐसे बहुत से गुण जिनकी ओर पहले ध्यान नहीं गया होता एक होकर विद्यमान होते हैं । प्रत्यय समस्त आकारों और तर्कवाक्यों से ऊपर होता है । यह गहरे अनुभवों से उत्पन्न होता है ।

आविष्कार और खोज के कामों के लिए कभी-कभी कल्पना को उत्तर दायी ठहरा दिया जाता है । कल्पना-शक्ति के द्वारा हमें प्राक्कल्पनाएँ सूझती हैं जो हमें विभिन्नस्वरूप सामग्री को संश्लिष्ट कर उससे एक पूर्ण का निर्माण करने में सहायता देती हैं । प्राक्कल्पना ज्ञान के क्षेत्र में वृद्धि का मूलतत्त्व है । एक प्राक्कल्पना का निर्माण कर हम ऐसी स्थितियों का विचार करते हैं जिनका वास्तविक अस्तित्व होना आवश्यक नहीं है । हम अस्तित्वहीन स्थिति की कल्पना करते हैं और उसके कुछ विवरणों की भी समीक्षा करते हैं । मन की ऐसी अभिवृत्ति जिसमें प्रकृत चिन्तन की क्रिया को स्थगित कर, सम्भावित वैकल्पिक स्थितियों की कल्पना की जाती है स्पष्टतः कल्पना की अभिवृत्ति प्रतीत होती है । बाथ का कहना है कि प्राक्कल्पनाएँ करने वाली क्रिया और कलात्मक कल्पना एक ही चीज हैं । किन्तु एक ऐसी प्राक्कल्पना जो हमें एक नया आलोक प्रदान करती है निरी अनि यन्त्रित कल्पना की उड़ान का परिणाम नहीं हो सकती । ऐसी कल्पना जो अन्त र्ज्ञान से अनुप्राणित नहीं है जो निरा विचारस्वप्न है अनुमान-मात्र है वह हमें किसी आकस्मिक संयोग से भले ही कभी सत्य का प्रकाश प्रदान कर सामान्य रूप में हमें सत्य नहीं दे सकती । निरे अनुमान में जो कल्पना की उपज है और यथार्थ ज्ञान या अन्तर्ज्ञान में अन्तर है । जो यह कहते हैं कि प्राक्कल्पनाओं का निर्माण कल्पना करती है, वे वास्तव में यह कहना चाहते हैं कि प्राक्कल्पनाओं का निर्माण हमारे मन के गवेषक अंग का कार्य है न कि विश्लेषक बुद्धि का । अन्तर्दृष्टि किसी समस्या के समाधान के रूप में पैदा नहीं होती बल्कि किसी तथ्य की अनुभूति के रूप में पैदा होती है ।

यह ठीक है कि अन्तर्ज्ञान जो कि व्यक्ति की समग्र सत्ता की क्रिया है बौद्धिक प्रयत्न के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता किन्तु यह भी ठीक है कि वह निरे बौद्धिक प्रयत्न का परिणाम नहीं है । ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तर्ज्ञान स्वतः स्फुरण न पूर्व हुए बौद्धिक निश्चिंतता लाती है । हमारे मन के सुजीनर

१ प्रारम्भ ... [illegible] ... ज्ञानात्मक ... [illegible] ... के रूप में
[illegible] ... विचारधारा (... पृष्ठ ३) ।

किन्तु तार्किक मन को वस्तु पर पूरी तरह क्रीड़ा करने देने के लिए कुछ विश्राम की आवश्यकता होती है। सृजनात्मक कृति के लिए जितनी मन की एकाग्रता आवश्यक होती है उतना ही मन का विश्राम भी जरूरी होता है। जब हम किसी वस्तु पर प्रभावकारी ढंग से ध्यान केन्द्रित करते हैं और उसकी बहुत सी विस्तार की बातों और बारीकियों पर ध्यान से विचार करते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि हम अपने विचार के मूल बिन्दु से बहुत दूर नहीं गये हैं। हमें अपनी बुद्धि की कृषि भूमि को कुछ समय तक खाली पड़ रहने देना चाहिए ताकि ज्ञेय वस्तु हमारे मानसिक जीवन की मिट्टी की निचली सतह में भीगी रहे और अपने ऊपर हमको प्रतिक्रिया का उन्मूलन और अंकुरित करे। तथ्यों पर अपनी सचेतन सक्रियता के साथ विचार करने के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि हम अपने शरीर और मन की समस्त ऊर्जा से उसके साथ ऐक्य स्थापित करें क्योंकि समग्र मन ही समग्र वस्तु का ग्रहण करता है। ज्ञेय वस्तुओं का अम्बार समग्र मन के आक्रमण का प्रतिरोध नहीं कर सकता और अपने आपको अनावृत करके रख देता है। मन जब तन्द्रा के साथ विश्राम की स्थिति में होता है या अर्थहीन वस्तुओं में डूबा रहता है तब वह किसी नयी वस्तु पर पहुँच जाता है। अन्तर्ज्ञानात्मक अनुभव उन गहरी नीरव तामों में पैदा होता है जो हमारे व्यस्त जीवन की चरम गति में बाधा पैदा कर देती है। उन नीरवताओं में मन आत्मा के साथ रमता है। उसी समय हमारी चेतना पैदा होती है और वस्तु के स्वरूप को सकल रूप में जानती है। सत्य भीतर में आकार धारण करता है और आग में उठने वाले स्फुलिंग की भाँति बाहर प्रकट होता है। बुद्धि के विश्राम का अर्थ है सचेत मन की क्रिया उत्पन्न हान वाले महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए व्यक्ति की समस्त सत्ता का जागरण। जब अन्तर्दृष्टि की विद्युल्लता चमकती है तो हम उसे सत्य अनुभव करते हैं और यह देखते हैं कि यह असम्बद्ध पहेलियाँ और मन को चकराने वाले विरोधाभासों का ऊपर उठाकर प्रकाश के वातावरण में ले आती है। तब असहाय होकर तुच्छ चीजों और बारीकियों में भटकने की हमारी स्थिति समाप्त हो जाती है हमारे सब संदेह छिन्न हो जाते हैं। सत्य उतना उत्पन्न नहीं किया जाता जितना कि वह अन्दर से उपलब्ध किया जाता है। यद्यपि हम यह नहीं बता सकते कि उसका उद्गम कहाँ से है किन्तु जब एक बार उसका उद्गम हो जाता है तो वह बहुत सरल प्रतीत होता है। यह ठीक है कि इस अन्तर्ज्ञान का पान के लिए बहुत सी बारीकियों और विस्तार की बातों पर विजय पानी पड़ती है किन्तु जब वह प्राप्त हो जाता है तो

यह सामान्य अनुभव की भाँति अपरोक्ष और अनायास होता है। विस्तार की बातों और बारीकियों के लिए ध्यान केन्द्रित करने की आवश्यकता होती है किन्तु अन्तर्ज्ञान के लिए मन की विश्रान्ति की आवश्यकता होती है। आर्कीमीडिस ने अपनी समस्या का समाधान अपने अध्ययन-कक्ष में नहीं बल्कि स्नानागार में प्राप्त किया। हेल्महोल्त्स का कहना है कि जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मुझ पर सुखद विचार अनायास ही अन्त:स्फुरणा की भाँति आते हैं। वे मुझे मन की थकान के क्षणों में या मेज पर बैठकर काम करते हुए कभी प्राप्त नहीं होते। अन्तर्ज्ञान का हमसे यह तकाजा होता है कि हम अपनी बुद्धि को निष्क्रिय कर लें। जब धर्मग्रन्थ हमें मन को पूर्ण शुद्ध शान्त और निश्चल रखने का उपदेश देते हैं ताकि हम उस अनाहत नाद को सुन सकें जो सब शब्दों का आदिस्रोत है, तब उनका अभिप्राय मन की उस निष्क्रियता और निश्चलता से ही होता है जो उच्चतम ज्ञान के लिए तैयारी होती है।

अन्तर्ज्ञान जीवन की पूर्णता से उद्भूत होने वाले निश्चय हैं जो स्वत:स्फूर्त होते हैं। वे बुद्धि या कल्पना के बजाय ऐन्द्रियिक संवेदन के अधिक निकट होते हैं और दोनों से अधिक अनिवार्य भी होते हैं। उन पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। ऊपर की ओर होने वाली ऊर्ध्वप्रेरणाएँ अचेतन और अनैच्छिक की सृष्टि हैं। 'आत्मा जहाँ चाहती है वहीं बहती है और तू यह नहीं बता सकता कि वह कहाँ से आती है और कहाँ जाती है।' प्रतिभा परिश्रम और प्रयत्न से नहीं बनती। यह देवताओं की देन है। प्लेटो ने जो स्वयं प्रतिभाशाली था कहा था कि सृजनात्मक विचार एक प्रकार का पागलपन है जो देवताओं द्वारा किसी विशेष उद्देश्य से जिसे वे ही जानते हैं हम नहीं मनुष्यों पर भेजा जाता है। उसने कहा था 'हम ग्रीक लोग अपने महानतम वरदानों के लिए देवताओं के भेजे पागलपन के लिए ऋणी हैं क्योंकि डेल्फी की धर्मोपदेष्ट्री पैगम्बर और डाडोना की धर्म-प्रचारिकाओं ने अपने पागलपन के क्षणों में ग्रीस के निवासियों और नगरों की महान् सेवा की है किन्तु अपने होश हवास और सुध-बुध के क्षणों में या तो कुछ भी सेवा नहीं की या की भी तो नाम मात्र की।'[१] सोच-समझकर प्रयत्नपूर्वक कार्य करने

निकालसो 'दि मारकारिकोनी ऑफ रीजनिंग' मर्फी का अनुवाद (१९१९) पृष्ठ ११८-११। नासन ने लिखा है, 'प्रतिभा का अब आम तौर पर मन की स्वतःचालित क्रिया होना है जो इच्छानुग प्रयत्न से भिन्न वस्तु है। प्रतिभाशाली व्यक्ति में .... की भाँति आते हैं बजाय इसके कि वह स्वयं उनके आरम्भ में हो। गति स्वयं उसे पकड़ती है।' (जिस्टमैन आफ सायन्स 'पेपर पत्तर पत्तर मत्तर (१८८७), पृ० ११)।

१ फ्रान्स, १४४।

वाला एक बुद्धिजीवी भी जो अन्तर्दर्शन से शून्य है विचार की दुनिया के लिए बहुत उपयोगी है किन्तु प्रतिभाशाली व्यक्ति उससे भिन्न और ऊँचे स्तर पर है। उसके सन्देश आत्मा की गहराइयों में आकार और रूप धारण करते हैं।

प्रतिभा या अन्तःस्फुरणा कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो पहले हम अपनी तर्क बुद्धि से रहित कर देती है, और फिर हम पर हावी हो जाती है। प्रतिभा हमारी समस्त चेतना का निष्कर्ष होती है इसलिए वह अबौद्धिक नहीं होती। जब प्रतिभा या प्रज्ञा उद्बुद्ध होती है तो उसे तर्क और बुद्धि से सिद्ध करके दिखाया जा सकता है और दिखाया भी जाना चाहिए। अन्तर्दर्शन विचार की जगह नहीं ले सकता बल्कि वह बुद्धि के लिए चुनौती है। निरा अन्तर्दर्शन अन्धा होता है और निरा बौद्धिक चिन्तन भी खोखला होता है। सभी प्रक्रियाएँ अंशतः अन्तर्दर्शनात्मक और अंशतः बौद्धिक होती हैं। दोनों के बीच में कोई खाई नहीं है। कट्टर वैज्ञानिक भी जो यह समझता है कि वह तथ्यों से परे नहीं जाता अनजाने में अन्तर्दर्शी होता है। अन्तर्दर्शन समस्त चिन्तन का आधार है। यद्यपि वह स्वयं मूक और अस्पष्ट होता है तो भी वह समस्त तर्क को जन्म देता है। प्रत्येक तार्किक प्रमाण में बौद्धिक एकता की एक पकड़ होती है विभिन्न चरणों से प्राप्त हुए समग्र पूर्ण का अन्तर्दर्शन होता है। केवल सृजनात्मक अन्तर्दृष्टि में ही नहीं बल्कि किसी भी वस्तु के सामान्य अवबोध में भी यही प्रक्रिया अन्तर्निहित होती है। समस्त सक्रिय चिन्तन निरे बिम्बों और अवधारणाओं के समवाय से भिन्न चीज है। अन्तर्गत प्रदत्त तथ्यों के सम्भ्रम की सारी प्रक्रिया—उन पर विचार धीरे-धीरे तनाव में वृद्धि एकाएक तनाव में शिथिलता और उसके बाद अवधारणाओं और निर्णयों के विस्तार से बारीकियों पर धीरे धीरे और जमकर अधिकार—में सक्रिय रहते हैं। चिन्तन के किसी भी ठोस मूर्त कार्य में मन का सक्रिय अनुभव अन्तर्दर्शनात्मक और बौद्धिक दोनों प्रकार का होता है।[1]

[1] तुलना कीजिए [illegible] कभी नहीं [illegible] परिणाम [illegible] परिणाम [illegible] अन्तःस्फुरणाओं [illegible] चाहिए और [illegible] पुष्टि [illegible] चाहिए। [illegible] (१९१५, पृ० ११८१)।

व्यक्ति कला के स्रष्टा के मन का गुप्त रूप से साझेदार बन जाता है।

कभी-कभी यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि कलात्मक अनुभव भ्रम मात्र है या उसका स्रोत और कारण ऐसा है जिसे बुद्धि से जाना जा सकता है। इस सम्बन्ध में हम यहाँ एक ही महान् कला अर्थात् कविता तक, जिससे हम सब परिचित हैं, अपने-आपको सीमित रखकर नये विज्ञान के कला-सम्बन्धी विचारों का विवेचन करेंगे। शरीरशास्त्रियों का कहना है कि कविता एक अच्छा नशीला है। यह हमें श्वास प्रश्वास में सहायता देती है। इसीलिए कविता और संगीत उसे अपनाते हैं। यदि हम आवेशपूर्ण भाषण को अच्छा कर दें तो उसमें हमें संगीत मिलेगा। मनोवैज्ञानिक विश्लेषणकर्ताओं का कहना है कि कला ऐन्द्रियिक संवेदन की नैसर्गिक वृत्ति की अचेतन और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।[1] कभी-कभी कहा जाता है कि कविता केवल कवि की अपने परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया है। ऐतिहासिक तत्त्व या साक्षी न उसकी व्याख्या कर सकते हैं। किन्तु किसी कला के मूल उद्गम का कथन उसकी व्याख्या नहीं है। मूल का कथन हमें कला की विकृति उसकी असफलताओं को समझने में सहायक हो सकता है किन्तु वह उसकी सामान्य सृजनात्मकता को समझने में सहायक नहीं हो सकता। यदि हम समस्त कला का उद्गम यश लैंगिक वृत्ति या परिवेश में खोजें तो हम बेनोयल और मीत गाकर भीख माँगने वाले भिखारी, शेक्सपीयर और एक चतुर अर्धशिक्षित गुण्डे में भेद नहीं कर सकेंगे। फिर यह कहा जा सकता है कि कला एक मनोदय है जो इस बात पर निर्भर है कि हम परिस्थितियों को क्या रूप देते हैं, न कि इस बात पर कि परिस्थितियाँ हमें क्या बना देती हैं। इस सम्बन्ध में कलाकार की प्रतिभा ही निर्णायक तत्त्व होती है। कलाकार के अनुभव की प्रकृति और उसे दूसरों तक पहुँचाने की उसकी योग्यता ऐसी चीज़ है जिसकी व्याख्या की आवश्यकता है और ये सब चातुर्यपूर्ण सिद्धान्त जो मूल उद्गम और परिस्थितियों को परिणामों से मिलाकर गड़बड़ा देते हैं इस मध्यवर्ती प्रश्न को स्पर्श भी नहीं करते।

१ कविता

वैज्ञानिक जिस प्रकार किसी सिद्धान्त या नियम की खोज करता है उसी प्रकार कलाकार अनुभव या दृष्टि प्राप्त करता है। यह सृजनात्मक अनुभव या दृष्टि का मूल कारण क्या है? क्या यह कल्पना, जिज्ञासा, संवेदनशीलता या

[1] [illegible] (१९ .)।

विचार है, या ऐसी ही कोई अन्य वस्तु है जो इन सबसे प्रतीत है ? काव्यात्मक अनुभव में तद्रूप होकर प्राप्त किया गया ज्ञान होता है जो ज्ञानार्जन द्वारा प्राप्त किये गए ज्ञान से भिन्न होता है। मन वस्तु को अपनी समग्रता में ग्रहण करता है उसे अपने हृदय से चिपटाता है, उसे अपनी आत्मा के साथ घुला-मिला लेता है और उसके साथ मिलकर एक हो जाता है। कीट्स ने लिखा है 'यदि एक चिड़िया मेरी खिड़की के सामने आये तो मैं उसकी सत्ता में हिस्सा बँटाता हूँ और उसके साथ ही बाहर कंकरीले पथ पर चोंच से अनाज चुगने लगता हूँ।' कवि स्वत अपने व्यक्तित्व को स्थगित कर देता है यथार्थ सत्ता के प्रति आत्म-समर्पण कर देता है और वस्तु के साथ इतना आत्मलीन हो जाता है कि उसी के जीवन का स्वाद लेता है और उसी के आकार का आनन्दोपभोग करता है। वायरन के शब्दों में जब 'हृदय आत्मा और इन्द्रियाँ एक साथ मिलकर गति करती है तो व्यक्ति वस्तु में लीन हो जाता है उसकी लय के साथ समरस हो जाता है और उसके आन्तरिक स्वर और नाद को सुनता है। उस उपचेतना में कर्ता और कर्म (ज्ञाता और ज्ञेय) परस्पर-परिवर्तनीय हो जाते है और जैसा कि ब्लेक ने कहा है, 'हम जो कुछ देखते है वही हो जाते है।' वर्ड्सवर्थ ने अपनी 'ओड ऑन दि इन्टिमेशन्स ऑफ इम्मॉर्टलिटी' कविता पर एक टिप्पणी में लिखा है 'मैं अक्सर एक बाह्य वस्तु को बाहर विद्यमान नहीं समझ पाता था और जो कुछ मैं देखता था उसके साथ मैं इस प्रकार घुल मिल जाता था मानो वह मुझसे भिन्न नहीं है बल्कि मेरे अपने प्रकृत स्वरूप में ही अन्तर्निहित है।' कवि के इस अनुभव में वस्तु एक अद्भुत प्रकाश से आवृत हो जाती है और अपने-आपको एक निश्चित आकार में एक अत्यन्त के मूर्त चित्र के रूप में, 'ईश्वर की इच्छा के एक निर्दोष तत्त्व के रूप में'[1] अभिव्यक्त करती है। प्रत्यक्ष इन्द्रिय जगत् की अनन्त विविधता एक अदृश्य आत्मिक जगत् का जो उसके पीछे और उसके भीतर विद्यमान है और जो उसे एवं हमारे ज्ञाता मन को थामता है प्रतीक बन जाती है। शेली ने अपने 'ऐसे ऑन शेली' नामक निबन्ध में कवि के उद्देश्य के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है 'कवि जिस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करता है वह लक्ष्य वह नहीं जिसे मनुष्य देखता है बल्कि वह लक्ष्य वह है जिसे ईश्वर देखता है' अर्थात् प्लेटो के अनुसार सृष्टि के बीज को ईश्वर के हाथ में स्पष्ट व्यवस्थित रूप में विद्यमान है। कवि की अन्तर्दृष्टि में वास्तविक संसार का पुनर्जन्म होता है और वह अविकलतम सत्य रूप में

[1] ब्रिजेज 'दि टेस्टामेंट ऑफ ब्यूटी' (१९११), १ ११।

अभिव्यक्त होता है। यह संसार नूतन भी होता है और पुरातन भी। हम वस्तुओं के बाह्य सादृश्य को देखने के लिए अपनी संवेदन की शक्तियों का उपयोग करते हैं। अपनी बुद्धि की निपुणता को उनके तार्किक सम्बन्धों को समझने के लिए इस्तेमाल करते हैं। किन्तु वस्तु की आत्मा को जानने के लिए तो आत्मा की शक्ति की आवश्यकता होती है। मनुष्य में विद्यमान परम आत्मा भी उतनी ही गम्भीर और सत्य है जितनी कि वस्तुओं की यथार्थता जो उसके ज्ञान के प्रयत्न का उत्तर देती है। जब तक हम ऐन्द्रियिक स्पन्दन और तर्क-बुद्धि की बारीकियों में डूबे रहते हैं तब तक हमारी आत्मा निष्क्रिय बनी रहती है। किन्तु जब हम

सोये रहते हैं
शरीर में और बन जाते हैं एक सजीव आत्मा
जब समस्वरता की शक्ति से शान्त
नयनों से और आनन्द की गंभीर शक्ति से
हम निहारते हैं वस्तुओं के अन्तर जीवन में।

तभी हम वस्तु के भीतर अन्तःप्रवेश करते हैं अपने-आपको उस पर डाल देते हैं उसकी लय के साथ एकाकार हो जाते हैं और उसके भीतर झाँककर देखते हैं। चाहे किसी भी वस्तु की ओर हमारी ऊर्जाएँ प्रेरित हो जाएँ यह कोई भौतिक वस्तु हो या दार्शनिक प्रत्यय कोई अस्थायी मनःस्थिति हो या कोई व्यक्ति कवि अपनी समस्त सत्ता को अवहित वस्तु के केन्द्र में अवस्थित कर देता है और उस केन्द्र से बाहर की ओर उसके स्वरूप को प्रस्फुटित करता है। ऐसी दशा में कविता जीवन का एक आकार है सामान्य जीवन का अधिक गहन रूप में जीकर उसके अर्थ को साकार करना है। यह एक परिपक्व प्रकृति है, उतनी ही सजीव जितना कि स्वयं जीवन है। यह मानो जीवन को मिली वाणी है वह सर्वथा स्वतःस्फूर्त है। कीट्स ने कवि के सम्बन्ध में कहा है 'यदि कविता उसमें वैसे ही स्वाभाविक रूप से प्रस्फुटित नहीं होती जैसे वृक्ष में कोंपलें फूटती हैं, तो उसका कतई प्रस्फुटित न होना ही अच्छा है। कला-कृति जीवन की प्रक्रिया का मूर्त रूप है। यह एक सृजनात्मक चिन्तन और ध्यान है, जो आत्मा की प्रसव-वेदना की प्रक्रिया है। मन उस समय प्रसवावस्था में होता है और कलाकार या कवि की समस्त सत्ता से पोषण और बल प्राप्त करता है। बौद्धिक मन उस समय क्रियारत होता है किन्तु उसमें भी सृजनात्मक जीवन घुला-मिला रहता है। सच्ची कविता में जो पीड़ा और अनुभव से भरी हुई होती है पूर्णता और रहस्यात्मकता होती है गहराई

और अपनी निज की प्रामाणिकता होती है। कवि इतनी यथार्थिकता और गहराई से अनुभव करता है इसीलिए वह अपने अनुभव और निर्णय को हम तक पहुँचा सकता है।

सृजनात्मक आत्मा और उसकी क्रिया चेतन मन से इतने भिन्न होते हैं कि वह अपने-आपको कविता में परम आत्मा के जीवन-श्वास से ऊपर उठा हुआ और अनुप्राणित अनुभव करता है। अनुप्राणित आत्माएँ चेतना के केन्द्र से जो अपनी सान्तता की सीमा का अतिक्रमण कर गया है, बोलती हैं और इस प्रकार एक ऐसी प्रामाणिकता का दावा करती हैं जिसे प्रदान करने की क्षमता सामान्य व्यक्ति में नहीं है। जब विचार उनमें उद्बुद्ध होते हैं तब वे यह सब नहीं सोचतीं। कवि यह विश्वास करता है कि उसकी कृति उसकी बौद्धिक निपुणता या कलात्मक साहसिकता का परिणाम नहीं है बल्कि उसकी प्रेरणा और स्फुरणा का परिणाम है। यह प्रेरणा कवि के जीवन में आती है और उसके चाहे-अनचाहे उसमें से विलीन भी हो जाती है इसलिए वह यह अनुभव करता है कि वह किसी ऐसी शक्ति से उद्भूत हुई है जो चेतन की अपेक्षा अचेतन अधिक है। प्राचीन हिन्दू और ग्रीक लोगों की दृष्टि में काव्य रचना एक धार्मिक कृत्य है और कवि सरस्वती की स्तुति और मंगलाचरण से अपना काव्य प्रारम्भ करता है। यह हमेशा आत्मा और मन के उभार के रूप में होता है। वैदिक ऋचाओं के रचयिता अपने-आपको अपने ज्ञान संसार से ऊँची किसी सत्ता के ज्ञान की प्रकाशिका समझने में अपने से अतीत उच्च आत्मा का साधन समझते थे। वे अपने काव्य की वस्तु का सर्जन उतना नहीं करते जितना कि अपनी गहनतम अन्तर्दृष्टि के क्षणों में उसका ध्यान करते हैं। प्लेटो ने भी अपने 'सिम्पोजियम' में ऐसा ही विचार प्रस्तुत किया है। अरस्तू का कहना है कि 'कवि को या तो प्रकृति ने अपना सुन्दर वरदान दिया है' या 'वह कुछ पागल है'। ध्वनि ने कहा है 'का

१ [illegible] के [illegible] पूर्ण रूप में देखने के [illegible] [illegible] (ज्ञान [illegible])।

[illegible] जाता है। [illegible] [illegible] [illegible] पृष्ठ ११६)।

शब्द मैं तुमसे कह रहा हूँ वे मेरे नहीं हैं उस पिता के हैं जिसने मुझे भेजा है। मैं उनमें से हूँ जो प्रेम की प्रेरणा और संयम के समय उसके सन्देश को लिखते जाते हैं और जैसा वह मुझे मेरे अन्तर में आदेश देता है वैसा ही मैं अपने-आपको अभिव्यक्त कर देता हूँ। 'पैरेडाइज लॉस्ट' का प्रारम्भ इन उदात्त शब्दों से होता है 'गाओ हे स्वर्ग की वीणा वादिनि। मिल्टन ने उस स्वर्ग की देवी सरस्वती' के सम्बन्ध में कहा है जो

आती है
अनाहूत ही रात्रि को मेरे स्वप्नों में
और निद्रा में मुझे आदेश करती या
प्रेरणा देती मुझे सहज में नित नूतन कविता को।

कवि का अनुभव क्षणावस्थायी होता है क्योंकि यवनिका एक बार फिर गिर जाती है और उदात्तता की मुद्रा विलीन हो जाती है। कवि उस अनिर्वचनीय अनुभव को शब्दों में व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। कविता आत्मा के अन्दर में रहती है और कवि जिन शब्दों में कविता को बाँधता है वे मूल भावों की अस्पष्ट छाया होते हैं स्मृति में मूर्त बिम्ब बनकर अंकित भावों को व्यक्त करने का एक प्रयत्न मात्र होते हैं।। कवि की काव्यानुभूति में कुछ ऐसा अपरिमेय होता है जो शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। काव्य की प्रकृति हम सभी में होती है किन्तु बहुत कम लोग उसे विकसित कर पाते हैं। कवि में एक ऐसी शक्ति होती है और यह और भी कम लोगों में होती है जिससे वह अपने अनुभव को अव्याहत व्यंजना शक्ति से अन्वित शब्दों में दूसरों पर प्रकट कर सकता है, जो भटकते हुए मन को उसके आह्वान को सुनने के लिए मजबूर कर देते हैं। आत्मा की अवस्थाओं को शब्दों और बिम्बों में अभिव्यक्त करना कठिन है। कला की सफलता का परिमाण यह है कि वह एक आयाम के अनुभवों को दूसरे आयाम में किस हद तक अभिव्यक्त कर सकती है। कलाकार का टेकनीक पर काफी नियन्त्रण होना आवश्यक है। काव्य-रचना के समय भी कवि एक ऐसी स्थिति में होता है जिसमें

परमेश्वरीयो, देल्फी \I\ पामस वैघम की 'दि मार्च चार्ज आफ'(६ ७) में अनुदूत। भाव इसिवर का कहना है 'जिसे उसने अपना मध्यतम लिखन माना है उसमें 'स्वर्ग उसके ऊपर था ऐसी शक्ति थी जो उस पर छाई रही और उसने अपने व्यक्तित्व को एक ऐसा साधन मात्र माना जिसके द्वारा वह शक्ति काम कर रही थी।' (थॉम ग्लास्क बॉक्स माउंट इसिवर)।

पैराडाइज लॉस्ट, अध्याय I\, १० २४।

'जिसकी आत्मा से सरस्वती के पागलपन का कोई संस्पर्श नहीं है वह द्वार तक आता है और सोचता है कि वह कला की सहायता से मन्दिर में प्रविष्ट हो जायगा किन्तु मैं कह सकता हूँ कि उसे और उसकी कविता को मन्दिर में प्रवेश नहीं मिलता। समझदार और होश-हवास से दुरुस्त व्यक्ति जब पागल के साथ प्रतिस्पर्धा में आता है तो वह कहीं का नहीं रहता।[1] कॉलरिज ने अपनी पुस्तक 'टेबल टॉक' के प्रारम्भिक खण्ड में कलाकार और कारीगर का भेद स्पष्ट किया है।[2] पिंडार अपनी रचना में भय और आतंक की छाप लाने के लिए एक समूचे नगर में आग लगा देता है, शिशुओं को धधकती आग की लपटों में झोंक देता है और बूढ़ों को पुराने कुओं में तालों के भीतर बन्द कर देता है। शेक्सपीयर एक रूमाल गिरा देता है और हमारे खून को सर्द कर देता है। किन्तु जब तक कवि उर के अन्तर से नहीं बोलता तब तक वह दूसरों के अन्तर की गहराई तक नहीं जा सकता। जब कार्लाइल ने फ्रांसीसी क्रान्ति की पाण्डुलिपि खत्म कर अपनी पत्नी को दी थी तो उसने कहा था 'मैं नहीं जानता कि इस पुस्तक की भी कोई कीमत है न मैं यही जानता हूँ कि संसार इसके साथ क्या अच्छा या बुरा बरताव करेगा या इसके साथ किसी भी तरह के व्यवहार की सर्वथा उपेक्षा ही कर देगा किन्तु मैं संसार से इतना कह सकता हूँ कि सौ साल में तुम्हें ऐसी कोई भी दूसरी पुस्तक नहीं मिली जो किसी जीवित व्यक्ति के हृदय से इस प्रकार सीधी और ज्वलन्त रूप में आविर्भूत हुई हो।

अक्सर यह प्रश्न किया जाता है कि क्या कविता की शक्ति का कारण शब्दों से निकलने वाला संगीत है या उनसे प्रकट होने वाले बिम्ब हैं या उनसे अभिव्यक्त होने वाले विचार हैं। इनमें से हरेक विचार को काफ़ी प्रबल समर्थन मिलता है। कुछ लोगों के अनुसार 'सर्वोत्तम क्रम में प्रकट किये गए सर्वोत्तम शब्द' ही कविता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि लयबद्ध शब्द मन पर जादू का-सा मोहक असर डालते हैं अर्थ को न समझ पाने पर भी उसका संगीत हममें रस का संचार करता है। इसके अतिरिक्त यह भी सच है कि हम कविता का आश्रय किसी लाभ की प्राप्ति के लिए नहीं लेते। कला का कार्य है हमारे भीतर आनन्द उत्पन्न करना हमारी प्रकृति को मानवीय बनाना हमारे जीवन को परिष्कृत करना और मन में ऐसा गम्भीर सन्तोष और आत्मप्रसाद पैदा करना जो धीरे

[1] फ़ेड्रस २४५।
[2] [illegible] भाग [illegible]।

और मन की स्थायी अभिवृत्तियाँ बन जाएँ। ज्ञान का प्रकाश अपने माधुर्य के कारण ही हमें स्वीकरणीय और ग्राह्य प्रतीत होता है। एक अधिष्ठित संवेदन शीलता आन्तरिक यथार्थ सत्ता को अनुभव कर जो समस्वरता प्राप्त करती है वह भी वैध और प्रामाणिक ज्ञान है। कविता में कण्ठ-संगीत और तर्कपूर्ण अर्थ दोनों होते हैं, किन्तु यही दोनों पर्याप्त नहीं हैं। उसका तात्त्विक गुण तो भावना का वह उत्साह, आवेश की वह प्रबलता और जीवन की वह महत्ता है जो तरंगित और आनन्द-विभोर हृदय की वाणी में प्रस्फुटित होती है। निरा आवेश जिसमें विचार न हो कोरी भावुकता है। किन्तु जब तक आवेश न हो कवि पाठक को अपनी रचना में प्रगाढ़ अनुभव को स्वीकार करने की प्रेरणा नहीं दे सकता। अनुभव एक अद्वितीय घटना है और उसकी आवृत्ति नहीं हो सकती। कविता सिर्फ उसका प्रत्यास्मरण या उसका अभिलेखन है। किन्तु कवि के शब्दों को पाठक के साथ एक स्वाभाविक सहानुभूति स्थापित करनी चाहिए और उसके भीतर वह उदात्तता की मुद्रा पैदा करनी चाहिए जो उसके अभिप्राय के बोध के अनुकूल हो। पाठक को अपने-आपको उसी मनःस्थिति में ले आना चाहिए जिसमें कवि था उसे कवि की आँखों देखना, कवि के हृदय से अनुभव करना और कवि के मन से निर्णय करना चाहिए। महत्त्व इस बात का नहीं कि कवि का विचार कितना महान् है या उसका विषय कितना महत्त्वपूर्ण है बल्कि महत्त्व इस बात का है कि अनुभव कितना पवित्र और कितना गम्भीर है। कवि का मन बहुत सूक्ष्मग्राही है उसका हृदय संसार की सुदूरतम मर्मध्वनि को भी सुन लेता है। इस बात का शायद ही कोई महत्त्व हो कि वह किस विषय पर बोलता है, वह विषय रात की हवा हो सकता है और प्यार की उड़ान भी एक फल हो सकता है और एक उड़ती हुई स्मृति भी। वह ईश्वरीय बुद्धि और संसार की भौतिक नश्वर वस्तुओं के बीच मध्यस्थता करता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि कविता के लिए सभी विषय एकसे हैं। बाह्य आकार और आन्तरिक तत्त्व का परस्पर बहुत निकट सम्बन्ध है और केवल महान् विषयों में ही महान् कविता प्राप्त हो सकती है। गद्य जो विचार-विनिमय और विचारों के आदान-प्रदान का साधन है उच्चतम विषयों का वाहक नहीं हो सकता। कविता आत्मा की भाषा है गद्य विज्ञान की भाषा। कविता रहस्य की शक्ति को धर्म की भाषा है। जब अपन समूचे प्रश्न को बुद्धि के आगे निर्वसन करके रख देता है, जबकि कविता हमें जीवन के गम्भीर रहस्य में बकेल देती है और हमारे सामने ऐसे सत्यों को अनावृत करती है जो

विमर्शात्मक तत्व अन्तर्ज्ञानात्मक तत्वों के सम्मुख मौन हो जाते हैं। किन्तु उस समय उसकी अन्तर्दृष्टि सक्रिय नहीं होती कारण जिस समय तक यह दृष्टि कायम रहती है तब तक उसका दबाव ही उसकी अभिव्यक्ति को रोके रखता है। बाद में उस दशा की समाप्ति पर अनुभव का प्रत्यास्मरण किया जाता है किन्तु वह प्रत्यास्मरण शान्त और निरावेष्ट स्थिति में नहीं होता। कविता उत्तेजना की भाषा है। इस उत्तेजनात्मक अनुभव का प्रत्यास्मरण करते हुए कवि उसका पुनः उपाकलन करता है और उसके साथ तन्मय हो जाता है। अनुभव की मोहिनी अब भी कवि पर हावी रहती है और उसके प्रभाव में वह अन्तर्ज्ञानात्मक शब्दों और बिम्बों का प्रयास करता है जिसमें तर्कसंगत अर्थ की अपेक्षा भावात्मक मूल्य अधिक होता है। यद्यपि कविता कवि को प्राप्त दृष्टि नहीं बल्कि उसका चित्र है फिर भी उसकी सफलता या असफलता इस बात पर निर्भर है कि वह उस दृष्टि को किस हद तक सही रूप में प्रस्तुत करती है।

कवि के अनुभव और उसकी अभिव्यक्ति की यह विवृति क्रोचे के इस विचार से मेल नहीं खाती कि अन्तर्ज्ञान और अभिव्यक्ति में तादात्म्य और ऐक्य है। क्रोचे का कहना है कि 'यह साधारण समझदारी का सिद्धान्त है जो ऐसा दावा करने वाले लोगों का उपहास करता है कि उनके अन्तर में विचार हैं पर वे उन्हें अभिव्यक्त नहीं कर सकते अथवा उनके मन में महान् चित्र हैं किन्तु वे उन्हें चित्रित नहीं कर सकते।' यद्यपि यह सही है कि हम अन्तर्ज्ञान को अभिव्यक्ति से पृथक नहीं कर सकते तथापि क्रोचे के दृष्टिकोण में इस तथ्य की उपेक्षा कर दी गई प्रतीत होती है कि अनुभव और सामान्य व्यक्ति के लिए उसकी अभिव्यक्ति दोनों के बीच में स्वाभाविकता और अस्वाभाविकता दीवार बन कर खड़ी है। जिस समय कवि को अनुभव या अन्तर्ज्ञान होता है—और यह अनुभव बहुत जीवन्त रूप में अनुभव किया जाता है और अन्तर्ज्ञान भी असन्दिग्ध रूप में प्राप्त किया जाता है—उस समय उसकी अभिव्यक्ति या उसके देह का परिधान भी उसमें अन्तर्निहित रूप में विद्यमान रहता है। कारण पूर्णत निराकार और अरूप की कल्पना नहीं की जा सकती। अनुभव में जो आकार विद्यमान रहता है किन्तु महान् कवि वह है जो अनुभव को जादू के पंखों वाले शब्दों से अभिव्यक्त कर सके अनुभव का प्रभाव या पाठक में उद्भव कर सके। अनुभव जिन शब्दों या वाक्यों

'एस्थेटिक्स' एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका १४वाँ संस्करण (१९२९) भाग १ पृष्ठ ११।

जिसकी आत्मा से सरस्वती के पागलपन का कोई सम्पर्क नहीं है, वह द्वार तक आता है और सोचता है कि वह कला की सहायता से मन्दिर में प्रविष्ट हो जाएगा किन्तु मैं कह सकता हूँ कि उसे और उसकी कविता को मन्दिर में प्रवेश नहीं मिलता। समझदार और होश-हवास से दुरुस्त व्यक्ति जब पागल के साथ प्रतिस्पर्धा में आता है तो वह कहीं का नहीं रहता।[1] कॉलरिज ने अपनी पुस्तक 'टेबल टॉक' के प्रारम्भिक खण्ड में कलाकार और कारीगर का भेद स्पष्ट किया है। शिलर अपनी रचना में भय और आतंक की छाप लाने के लिए एक समूचे नगर में आग लगा देता है, शिशुओं को धधकती आग की लपटों में झोंक देता है और बूढ़ों को पुराने दुर्गों में ताले के भीतर बन्द कर देता है। शेक्सपीयर एक रूमाल गिरा देता है और हमारे खून को सर्द कर देता है। किन्तु जब तक कवि उर के अन्तर से नहीं बोलता तब तक वह दूसरों के अन्तर की गहराई तक नहीं जा सकता। जब कार्लाइल ने फ्रांसीसी क्रान्ति की पाण्डुलिपि खत्म कर अपनी पत्नी को दी थी तो उसने कहा था मैं नहीं जानता कि इस पुस्तक की भी कोई कीमत है, न मैं यही जानता हूँ कि संसार इसके साथ क्या अच्छा या बुरा बरताव करेगा या इसके साथ किसी भी तरह के व्यवहार की अथवा उपेक्षा ही कर देगा किन्तु मैं संसार से इतना कह सकता हूँ कि सौ साल में तुम्हें ऐसी कोई भी दूसरी पुस्तक नहीं मिली जो किसी जीवित व्यक्ति के हृदय में इस प्रकार सीधी और ज्वलन्त रूप में आविर्भूत हुई हो।

अक्सर यह प्रश्न किया जाता है कि क्या कविता की शक्ति का कारण शब्दों से निकलने वाला संगीत है या उनसे प्रकट होने वाले बिम्ब हैं या उनसे अभिव्यक्त होने वाले विचार हैं। इनमें से हरेक विचार को काफी प्रबल समर्थन मिलता है। कुछ लोगों के अनुसार 'सर्वोत्तम क्रम में प्रकट किये गए सर्वोत्तम शब्द' ही कविता है। इसमें तनिक भी संशय नहीं कि लयबद्ध शब्द मन पर जादू का-सा मोहक असर डालते हैं अर्थ को न समझ पाने पर भी उसका संगीत हममें रस का संचार करता है। इसके अतिरिक्त यह भी सच है कि हम कविता का आश्रय किसी लाभ की प्राप्ति के लिए नहीं लेते। कला का कार्य है हमारे भीतर आनन्द उत्पन्न करना हमारी प्रकृति को मानवीय बनाना हमारे जीवन को परिष्कृत करना और मन में ऐसा गम्भीर सन्तोष और आत्मप्रसाद पैदा करना जो धीरे

१ फाइड्रस, २४५।
२ कार्लाइल्स लाइफ, भाग १ पृष्ठ ८८।

वाणी से वह नहीं पा सकते। समस्त कविता पर गहरे रहस्य का एक वातावरण छाया रहता है। यदि पूर्ण विश्लेषण किया जाए तो उसका अन्तिम निष्कर्ष यह होगा कि काव्य का काव्यत्व तत्त्वतः सृजनात्मक अन्तर्दर्शन के कारण है जो ध्वनि व्यंजना और अभिधा को एक सजीव योग के रूप म कायम रखता है।[1]

आधुनिक साहित्य तत्त्वतः बहुत तुच्छ और क्षुद्र है। हमारे महत्तम मनीषी बर्नार्ड शा और एच जी वेल्स आदि की प्रतिभा की ऊँचाइयों तक नहीं पहुँच सके। उन्होंने हमें एक भी ऐसा महाकाव्य नहीं दिया जो समग्र जीवन के सम्पूर्ण मर्म को अभिव्यक्त कर सके जो हमें उन्नत भावनाओं से स्पन्दित कर दे जो नये आलोक के क्षेत्रों स हमें चमत्कृत कर द। उन्होंने हमें एक भी ऐसा महान् नाटक नहीं दिया जो अपनी गहरी हृदयग्राहक प्रकृति से अपनी महानता से हमें झार झार कर दे भीतर नियति से भर दे महामानवों की ऐसी अविस्मरणीय झाँकियों आलोकित कर दे जो हमें आन्दोलित कर दें हमें मुक्त और निर्मल कर दें। ऐसा इसलिए है कि उन्होंने आत्मा के कोलाहल को लेकर रचनाएं की उसकी गहराइयों में नहीं गये। वे लोग प्रधानतः बुद्धिवादी हैं। हम लोग बुद्धिजीवियों और बुद्धिवादियों की पीढ़ी के लोग हैं जो विश्लेषण मे निपुण हैं प्रेक्षण में धीर हैं। किन्तु संसार मे कभी कोई कला विश्लेषण या प्रेक्षण से नहीं बनी। हम वर्तमान अव्यवस्था के प्रति परमगत सजग हैं और समाज को एक बेहतर योजना के अनुसार ढालने को उत्सुक हैं। हम बुराई के प्रति क्रोध से जल रहे हैं और उस पर विजय पाने के उपायों का प्रचार करते हैं। किन्तु हमारे कष्ट और हमारी पीड़ाएँ केवल मानसिक हैं मन की वेदनाएँ न कि आत्मा की। उनके कलाकार गहरे अनुभव मे से गुजरते हैं गहरी व्यथा मे से। उनके पास प्रचार करने के लिए समय ही नहीं होता वे जीते हैं और प्रेम करते हैं। जब वे अनुभवों को शब्दों म व्यक्त करते हैं तब हम उनमे आत्मा का वह अपरिमेय गुण पाते हैं वह गुण नात्मक आवेग देखते हैं जो केवल निर्जीव शब्दों की चातुर्यपूर्ण रचना नहीं है, जो

१ वर्जिल एर्ड टेंस कैमेन आफ इंग्लिश पोएट्री (१९१२), ५। कला की चर्चा करते हुए स्पर्ट लिखता है

जहाँ समस्त महाकाव्य स्वर्ग अनुभूत होती है,
किसा उत्तम वृक्ष पर पकते दुर्लभ फल की भाँति
महान पुरुष के उदात्त व्यक्तित्व पर
जिसका बिना सुसम्बन्धात्मक बुद्धि मिलता है।
(दि टेस्टामेंट आफ ब्यूटी (१९२९), २ ८५—७९१)।

एक हृदय का आवेग है, निरी बाह्य दक्षता नहीं है। वे हमें सौन्दर्य की वस्तुएँ देते हैं, केवल प्रसाधन-सामग्री नहीं। एक सच्ची कलाकृति का विश्लेषण नहीं किया जा सकता, वह अम्बर से गिरने वाली बिजली की तरह है जो पृथ्वी पर टकराती है और उसे एक प्रचण्ड अग्निशिखाएँ दग्ध कर देती हैं। रॉबर्ट ब्रिजेज़ का 'दि टेस्टामेन्ट ऑफ़ ब्यूटी' इसका एक उदाहरण है। यह एक ऐसी भाषा में लिखा हुआ किसी दार्शनिक निबन्ध का भाष्य प्रतीत होता है जो अधिकतर काव्यमय होने के बजाय अमूर्त है। उसके ज्ञान के ब्रह्माण्डव्यापित्व, उसकी विश्वास की श्रेष्ठता और उसकी भावना की बहुलता को देखते हुए निःसन्देह वह एक महान् रचना है। उसमें कुछ अंश अत्यन्त सुन्दर हैं, उनमें गीतों का लालित्य और माधुर्य है, किन्तु वह महान् काव्य रचना नहीं। महान् काव्य के लिए भावों की गहनता और प्रेरणा के स्वामित्व की आवश्यकता है। यह निर्णय करना आलोचक का काम है कि क्या 'दि टेस्टामेंट ऑफ़ ब्यूटी' महान् रचना होने के साथ-साथ महान् कविता भी है, क्या उसमें काव्य का वह ओज है जिसे काव्य की प्रतिभा, काव्य की मोहिनी कहा जा सकता है?

४ कलात्मक ज्ञान

वस्तुओं के गहरे यथार्थ के रहस्योद्घाटन के रूप में कला ज्ञान का ही एक आकार है। जैसा कि अरस्तू ने कहा है, कला नकल है, किन्तु बाह्य प्रकृति की नहीं बल्कि आन्तरिक यथार्थ की। कला की वस्तुनिष्ठता फोटोग्राफी में पाई जाने वाली यथार्थवादिता नहीं है, यहाँ तक कि तथाकथित नकलमय कला भी पूर्णतः नकल नहीं है। नकल में भी कलाकार का मन एक निश्चित उद्देश्य को दृष्टि में रखकर काम करता है। वह दृश्यमान जगत् में उसके बाह्य प्रतीयमान रूप में भी कुछ अधिक वास्तविक वस्तु को, सत्य के किसी अंश या सुन्दर प्रत्यय या आकार को, जो स्वयं दृश्यमान वस्तु की अपेक्षा आत्मा के अधिक निकट है, देखता है। फिर भी यह प्रत्यय या आकार, यह अर्थ या मूल्य कोई नया ऊपर से लाया हुआ आविष्कार या सौन्दर्य नहीं है, बल्कि वह स्वयं वस्तु का ही अन्तरालवर्ती हृदय है जिसे हम उस वस्तु से अलग नहीं कर सकते। कवि का सत्य शोध है, सृजन नहीं।

क्रोचे ने इस विचार का विरोध किया है कि कविता यथार्थ पर पड़े पर्दे को हटाकर उसे अनावृत करती है। उसका कहना है कि कविता व्यक्तिगत

मनःस्थिति की अभिव्यक्ति है, और यदि कवि यह दावा करता है कि वह अपनी ग्रहणशील मानसिक स्थिति में वस्तु के यथार्थ रूप को जान लेता है और अपनी सृजनशील मनःस्थिति में उसे अभिव्यक्त करता है तो वह आत्मप्रवंचना करता है। कविता तत्त्वतः आत्माभिव्यक्ति है। यदि इस विचार को मान लिया जाए तो इस बात की कोई तर्कसंगत व्याख्या कर सकना कठिन है कि एक व्यक्ति के 'स्व' की अभिव्यक्ति दूसरों के लिए क्यों प्रामाणिक या महत्त्वपूर्ण हो सकती है। इसके अतिरिक्त स्वयं क्रोचे ने भी यह स्वीकार किया है कि कला अन्तर्ज्ञान है और अन्तर्ज्ञान हमेशा वास्तविक का या व्यक्ति का होता है। इसका अर्थ यह है कि कवि का अन्तर्ज्ञान भी एक प्रकार से ज्ञान प्रदान करता है। इसके अलावा यह केवल तभी कहा जा सकता है कि कला हमें आत्मगत इम्प्रेशन देती है जबकि यह मान लिया जाए कि यथार्थ वस्तु का अस्तित्व हमारे तद्विषयक ज्ञान से सर्वथा भिन्न और पृथक है। उस अवस्था में यह कहा जा सकेगा कि विज्ञान और सामान्य बुद्धि भी हमें ज्ञान नहीं देते। जिसे प्रत्यक्ष से जाना जा सकता है वह जरूरी तौर पर यथार्थ नहीं है। आँखों वाला आदमी अन्धे से अधिक जानता है। यदि हमारी एक हजार इन्द्रियाँ हों जैसी कि बाल्लेयर ने कल्पना की थी तो भी हम यह भरोसा नहीं कर सकते कि हमें यथार्थ का जो बोध होता है वह यथार्थ का असली ज्ञान ही है। प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञेय वस्तु प्रेक्षक से पृथक और स्वतन्त्र नहीं है। गुलाब के रंग का अस्तित्व सिर्फ उसी के लिए है जिसमें मानवीय दृष्टि-शक्ति है। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड की वैज्ञानिक तस्वीर भी हमारे ज्ञान के तरीके पर निर्भर है। कम्पन (ध्वनि) और रंग प्रेक्षक की दृष्टि से सापेक्ष हैं। समस्त ज्ञान चाहे वह प्रत्यक्ष हो चाहे अनुमान ज्ञाता और ज्ञेय का मिलन-स्थल है। कला में हमें जो ज्ञान होता है वह इस दृष्टि से किसी भी तरह विशिष्ट किस्म का नहीं है। इसमें हमें यथार्थ के प्रति सूक्ष्मग्राही संवेदनशीलता की प्रतिक्रिया मिलती है। कवि का सत्य वैज्ञानिक के सत्य से भिन्न है क्योंकि वह यथार्थ को उसकी गुणात्मक अद्वितीयता में अभिव्यक्त करता है परिमाणात्मक सर्वदेशीयता में नहीं। वह वस्तु के परिमेय भौतिक गुणों का बखान नहीं करता बल्कि उसके आभ्यन्तर सौन्दर्य का वर्णन करता है जो केवल अनुभव की वस्तु है। कविता के सत्यों को स्थूल व्यापक तर्कों में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता उन्हें अधिक सूक्ष्म रूप में ही दूसरों तक पहुँचाया जा सकता है। वस्तु के अन्तर के यथार्थ को देखना सत्य के प्रति कम विश्वास करना है।

यदि कला आत्माभिव्यक्ति हो तो भी उसमें अभिव्यक्त होने वाली आत्मा मनुष्य की संकीर्ण आत्मा नहीं है। कान्ट ने अपने ग्रन्थ 'क्रिटीक ऑफ़ जजमेंट' में कहा है कि सौन्दर्य के उपभोग के रूप में हम जो आनन्द पाते हैं वह व्यक्तिगत होता है और उस अर्थ में वह आत्मनिष्ठ भी होता है। साथ ही वह निःस्वार्थ और अनासक्त होता है इसलिए उसके सम्बन्ध में हमारा निर्णय सार्वभौम होता है। जो कविता सबसे अधिक गहरी होती है उसका आकर्षण भी सबसे अधिक व्यापक होता है।

वैज्ञानिक जब किसी नियम की खोज करता है तो वास्तव में वह प्रेक्षित सत्ता को एक नये क्रम में व्यवस्थित करता है। कलाकार भी ऐसे ही कार्य में रत रहता है। वह हमारे अनुभव को एक नया पक्ष प्रदान करता है और यथार्थ वस्तु के सूक्ष्म गुणों को अनुभव करने की अपनी क्षमता के कारण वह उस भिन्न तरीके से संघटित करता है। वह हमारे जीवन के अवबोध को बढ़ाता है और हम यथार्थ की अधिक ऊँची अनुभूति कराता है। वह वस्तुओं में अधिक गहरा सामञ्जस्य स्थापित कर अधिक अच्छा सम्बोध पैदा करता है। गोएठे ने एक स्थान पर प्रश्न किया है 'सबसे पवित्र क्या है?' और फिर उसका उत्तर दिया है जो अधिक गहराई से अनुभव किये जाने के कारण आज ही नहीं हमेशा हमें अधिक गहरे सामञ्जस्य और ऐक्य में स्थापित करता है।

कला के सबसे बड़े वरदान हैं शान्ति और समन्वय। उन विरले क्षणों में जबकि हम किसी सुन्दर कविता से या किसी महान् कलाकृति से प्रभावित होते हैं न केवल हम उसमें तल्लीन हो जाते हैं बल्कि हमारा मन अन्तर्दृष्टि और अनुभव में भी उच्च स्तर की उस झाँकी को पाकर एक अधिक ऊँचाई पर पहुँच जाता है। हर सुन्दर मूर्ति में एक शान्ति होती है हर महान् कविता में एक सुकून होता है। किसी कलाकृति को बुद्धि के पैमाने से नापने और उसके पात्रों और घटनाओं को अथवा काल्पनिक कहकर उड़ा देने का कोई लाभ नहीं है। हो सकता है किसी नाटक के व्यक्ति और घटनाएँ अवास्तविक हों फिर भी यह सम्भव है कि उस नाटक का रूप और उसके मूल्य वास्तविक वस्तुओं से अधिक ऊँचे और अधिक स्थायी हों। यह हो सकता है कि काल्पनिक व्यक्ति और घटनाएँ 'स्वप्न की तरह अवास्तविक' हों और फिर भी वे हमें यथार्थ और सर्वव्यापी वस्तु को समझने में सहायता देते हैं। काल्पनिक आकारों में भी जीवन की तरह वास्तविकता दीख पड़ सकती है। आखिरकार 'नाटक ही असली चीज़ है' देव

छाया मात्र छायाएँ ही हैं। यह कलाकार का कार्य है कि वह हमारे अन्दर जीवन के महत्त्व और सारवत्ता की भावना पैदा करे। जैसा कि काण्ट ने कहा है, कला किसी विशेष उद्देश्य को प्रस्तुत किये बिना एक सामान्य उद्देश्य को साकार करके हमारे सम्मुख उपस्थित करती है। कला का काम विशिष्ट घटनाओं का विस्तृत औचित्य सिद्ध करना नहीं है। वह हमें जीवन की सार्थकता की भावना प्रदान करती है ब्रह्माण्ड के बृहत्तर सौन्दर्य न्याय्यता और औदार्य के विचार हममें पैदा करती है। कलाकार संसार की वास्तविकताओं से मुँह नहीं मोड़ता। वह उसके दुःखों कष्टों भूलों और असफलताओं को जानता है। संसार में अन्याय और अत्याचार हो सकते हैं, किन्तु उनसे चिन्तित और भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। संसार अपने अन्तरतम में अच्छा ही है। कलाकार संसार के अँधेरे पहलू को चित्रित करते हैं किन्तु वह हमें निराश नहीं करता। जब हम 'हैमलेट' या 'किंग लीयर' जैसे महान् नाटक पढ़ते हैं तो ऐसा लगता है कि हम संसार के रहस्य के निकट हैं। कवि ने जीवन के मूल आधार का जो ज्ञान प्राप्त किया होता है उसमें वह हमें भी साझीदार बनाता है। उसके बाह्य परिणाम भले ही विपज्जनक हों किन्तु मन शान्त रहता है। जुलियट मर जाती है किन्तु प्रेम की महानता सिद्ध करने के बाद। यदि ओथेलो उसी क्षण मर जाता जबकि उसने अपने ऊपर प्रहार किया था तो वह दुनिया के खिलाफ एक शिकायत लेकर मरता। किन्तु वह डेस्डेमोना की निर्दोषता और निष्कलंकता को देखकर मरता है क्योंकि उस समय मृत्यु उसके लिए एक तुच्छ-सी वस्तु हो जाती है। बाहरी पराजय और असफलता जीवन के आन्तरिक अर्थ को स्पर्श नहीं करती। हमारे मन पर यह सामान्य छाप पड़ती है कि संसार अन्ततः भला और अच्छा है। 'जेनेसिस' के ईश्वर की भाँति जब हम समस्त सृष्टि की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हम देखते हैं कि सब मिलाकर संसार अच्छा ही है। हम संसार को केवल अंगीकार ही नहीं करते उसमें सुख और अपनापन भी अनुभव करते हैं। यह हमें सर्वथा निर्दोष और पूर्ण नहीं लगता। हम उसमें त्रुटि वैरस्थर्य व्यापित बनी हुई पीड़ा और दुःखान्त घटनाएँ पाते हैं तो भी हमारा यह कर्तव्य होता है कि हम उसकी सामान्य गतिविधि में हिस्सा लें और उसे आगे बढ़ाएँ। कला मनोवासक्त व्यक्ति का संसार के साथ सम्बन्ध स्थापित करती है। वह उसकी भावनाओं को मुक्त करती है एक प्रकार की पूर्णता और सार्थकता की अनुभूति पैदा करती है। कला द्वारा पैदा की गई इस प्राण-शक्ति के बिना जीवन एक

जब व्यक्ति उससे अवकाश ग्रहण करता है। उसके लिए दक्षता और साहस की आवश्यकता होती है। साहसी खिलाड़ी टेकनीक में निपुण होता है। जब वह स्थिति को समझ लेता है तो वह सुनिश्चित अन्तर्बुद्धि से आगे बढ़ता है। जीवन की शतरंज की फड़ पर अलग-अलग मोहरों की अलग-अलग ताकत है और उनके जोड़े अनेक तरह से बन सकते हैं और उनका भविष्य-कथन पहले से ही किया जा सकता है। अच्छे खिलाड़ी में सही कार्य की भावना होती है और वह यह अनुभव करता है कि यदि वह उस भावना के अनुसार कार्य नहीं करता तो वह अपने प्रति ही झूठा होगा। किसी भी नाजुक स्थिति में आगे चाल चलना एक सृजनात्मक कार्य है। वह अपनी प्रकृति के अनुसार आत्मा के भीतर से उद्भूत होता है। इसमें एक प्रकार की गुप्त और सजीव अनिवार्यता होती है।

नैतिक वीर अपने अन्तर की ताल और लय का अनुसरण करता है जो उसे न्याय की ओर चलने के लिए अनुप्रेरित करती है और उसमें अपनी नियति के आदेश का अनुगमन करने और अपनी आत्मा को पूर्णता प्रदान करने का सन्तोष रहता है। अपनी गहरी आन्तरिक प्रकृति का अनुसरण करने से वह इसमें से उन लोगों को जो परम्परागत पैमानों का इस्तेमाल करते हैं या तो मूर्ख प्रतीत होगा है, या अनैतिक। किन्तु स्वयं उसके लिए आध्यात्मिक उत्तरदायित्व और कर्तव्य सामाजिक परम्परा से अधिक महत्त्वपूर्ण है। बाहर से थोपे गए नियम की अपेक्षा आन्तरिक संयम अधिक कीमती है। वह परम्परागत रिवाजी औचित्य के बजाय आन्तरिक सत्यता पूर्ण गम्भीरता और ईमानदारी के लिए लालायित रहता है। वह अपने समाज को अधिक सुदृढ़ बुनियाद पर नये सिरे से ढालने के लिए संघर्ष करता है। यह हो सकता है कि उसका व्यवहार मानक परम्परावादियों की शिष्टता की भावना को चोट पहुंचाये और यह देखकर दुःख होता है कि गहरी दृष्टि और सृजन-शक्ति वाले व्यक्ति को समाज के नेताओं के हाथों से उत्पीड़न सहन करना पड़ा है हालांकि यह ठीक है कि उत्पीड़न हमेशा अकारण ही नहीं हुआ। ऐसे लोग अपने उदाहरण से इस दुःखद सत्य को सिद्ध करते हैं कि जब कोई व्यक्ति अपने साथियों से अधिक अच्छा हो जाता है तो वह उनकी घृणा का पात्र हो जाता है। हम अपने महान् पथ-प्रदर्शकों की उपदेशों को सम्मान सूची पर सटकाकर रखते हैं। सम्भव है कि दुनियादारी का हिसाब किताब करके चलने वाले लोग या बाहरी प्रदर्शन और आडम्बर में विश्वास करते हैं बहुत नीचे स्तर पर न उतरें किन्तु वे ऊंचाई पर भी कभी नहीं उठ सकते। केवल अत्यन्त गम्भीर व्यक्ति ही

गहराई में या उसके निकट होते हैं। दैनिक जीवन में हम उन उपयोगी परम्पराओं और रिवाजों के अनुसार चलते हैं जिन्हें हमने सामान्य परिस्थितियों के लिए बनाया होता है और महान् संकट के क्षणों में भी हममें से बहुत-से लोग अपनी सम्पूर्ण आत्मा के साथ अवसर को पकड़ने में असमर्थ रहते हैं। किन्तु संसार का कोई भी निकृष्टतम कार्य, कोई भी अप्रिय भ्रम, कोई भी जघन्यतम आवेग ऐसा नहीं है जो हमारे अन्तर में विद्यमान आत्मा को आविष्ट करके हममें यह शान्त स्वभाव पैदा न कर सके। उसके लिए आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि व्यक्ति आध्यात्मिक चेतना से सजीव हो। सुकरात ने कहा था 'सत्कर्म ही ज्ञान है।' यह ठीक है कि यह बौद्धिक ज्ञान नहीं है जो दूसरों को सिखाया जा सके। यह ऐसा ज्ञान है जिसका निर्झर मनुष्य की सत्ता के अधिक गहरे स्तर से फूटता है। यह मनुष्य के मन को उदात्त बनाकर, उसकी चेतना को प्रखर कर प्राप्त किया जा सकता है। मनुष्य आत्मा में जितनी गहराई तक जाता है उतना ही उसका ज्ञान अपरोक्ष होता है। जिस व्यक्ति में नैतिक चेतना है उसके लिए कर्तव्य का पथ उतना ही स्पष्ट है जितना कि कोई भी दूसरा ज्ञान। उसके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान यथासम्भव पूर्ण सुनिश्चित होता है। नैतिक सत्य का ज्ञान भी इसी तरह प्रकार से अन्तर्दृष्टि के रूप में प्राप्त होता है। यह ठीक है कि बाद में हम विचार-क्रिया से उस सत्य के लिए कारण और तर्कों को खोजते हैं। जिसका जीवन-पथ अन्तर्दृष्टि से निर्धारित होता है वह अपनी गहरी चेतना को कवि या कलाकार की भाँति कविताओं और चित्रों में अभिव्यक्त नहीं करता [illegible] उसको [illegible] जीवन में अभिव्यक्त करता है। वह स्वार्थ और [illegible] की [illegible] से ऊपर उठ जाता है। वह ऐसी नैतिकता के प्रति उदासीन [illegible] है जो [illegible] और अनुमति का विषय है। कारण उसकी सत्ता के [illegible] से उत्पन्न [illegible] नैतिकता की आवश्यकता होती है जो नियम या कानून [illegible]। बुद्ध जो [illegible] जैन महापुरुषों के [illegible] उनके समकालीन भी थे।

आत्मीयता है, वह आनन्दमय और हार्दिक है, वह आमोर इन्टेलैक्चुआलिस (प्रेम की भावना) इसलिए है क्योंकि वह एक अधिक तीव्र अनुभूति और अवबोध पर निर्भर है, और वह आमोर देई (ईश्वरीय प्रेम) इसलिए है क्योंकि सभी मूल्यों का सम्बन्ध ईश्वर के अस्तित्व में जोड़ा जाता है।

हमारे जीवन के संज्ञानात्मक सौन्दर्यबोधात्मक और नैतिक पक्ष चाहे कितने ही सप्राण और महत्त्वपूर्ण हों किन्तु हैं वे अलग अलग पक्ष। परन्तु धर्म में इन सबका समावेश और अन्तर्भाव हो जाता है। विज्ञान उस नियम के सम्बोध का प्रयत्न करता है जो सारे विश्व को थामे हुए है, कला विश्व की रचना में गुँथे हुए सौन्दर्य को अनावृत करने का प्रयत्न करती है और नैतिकता उस अच्छाई (शिव) को साकार करने का प्रयत्न करती है जिसकी प्राप्ति के लिए यह ब्रह्माण्ड उद्योग कर रहा है। अपनी पूर्ण अवस्था में ये सभी विभिन्न आकांक्षाएँ एक दूसरे में विलीन हो जाती हैं तो भी प्रक्रिया की दशा में इनमें से हरेक अपूर्ण प्रतीत होती है। हालाँकि यह सच है कि सच्ची कला, सच्चा दर्शन और सच्ची नैतिकता को अकेले प्राप्त नहीं किया जा सकता, सभी कुछ-न-कुछ मात्रा में परस्पर मिले रहते हैं। मनुष्य की प्रकृति अलग-अलग हिस्सों से बनी हुई नहीं है जो एक-दूसरे से बिलकुल स्वतन्त्र हों। सत्य के लिए हमारी सहजात वृत्ति, हमारी नैतिक बुद्धि और कलात्मक स्पृहा सब परस्पर एक ग्रंथी के रूप में बँधे हुए हैं किन्तु जब तक वे ग्रंथी के रूप में आबद्ध नहीं होते जब तक वे एक पूर्ण अवयवी नहीं होते तब तक विचार निरर्थक होता है, भावना शून्य रहती है और क्रिया अपरिष्कृत होती है। कला जिस समस्वरता को अभिव्यक्त करती है वह अस्थायी और क्षणिक हो सकती है, एक स्वप्न हो सकती है, सम्भव है वह आकांक्षा न हो और आत्मार्पण तो हो ही नहीं। हो सकता है कि कलाकार बौद्धिक दृष्टि से दुर्बल और नैतिक दृष्टि से शून्य हो किन्तु महानतम कलाकार के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। इतिहास के महापुरुष अपने सौन्दर्य-बोध के लिए विख्यात नहीं हैं और न ही महान् कलाकार नैतिकता के आदर्श नमूने रहे हैं। ठीक-ठीक कहा जाए तो हम यह कह सकते हैं कि जो कला नैतिकता से पूर्णतः रहित है जिसकी जड़ें हमारी गम्भीरतम नैतिक वृत्ति में नहीं हैं, जो संसार में विद्यमान दिव्यता की ओर प्रवृत्त नहीं होती वह सच्ची कला नहीं है। यह हो सकता है कि दर्शन की अन्तर्दृष्टि स्थायी और सुनिश्चित न हो यह भी हो सकता है कि दर्शन के सत्य कला के विचारों से किसी भी तरह जीवन को अधिक प्रोत्साहन और प्रेरणा न दे सकते हों। इसीलिए हमें तीनों

की इकट्ठी आवश्यकता है, भावनात्मक प्रकाश, भावनात्मक स्थिरता और क्रिया-त्मक शक्ति, आन्तरिक ज्योति, अवर्णनीय सौन्दर्य और उत्साह की तीव्र आग। एक ऐसा जीवन हमें चाहिए जिसमें ये तीनों आपस में सम्बद्ध हों, जिसमें जो कुछ हम देखते हैं, जो हमारी श्रद्धा का विषय है और जो जीवन हम व्यतीत करते हैं वे सब एक हो जाएँ। यही धर्म का सार है, जिसे हम जीवन का संश्लिष्ट रूप कह सकते हैं। धार्मिक मनुष्य को यह ज्ञान होता है कि संसार में सभी कुछ अर्थपूर्ण है, उसमें यह अनुभूति रहती है कि विग्रहों और विरोधों की तह में भी एक सम-स्वरता और एकता अन्तर्निहित है। साथ ही उसमें उस अर्थवत्ता और समस्वरता को साकार करने की शक्ति भी रहती है। वह सत्य, शिव और सुन्दर तीनों की पृष्ठभूमि में एक ईश्वर को ही, जो अन्दर भी है और बाहर भी, देखता है। जिस सत्य को हम जानते हैं, जिस सौन्दर्य को हम अनुभव करते हैं और जिस शिव की हम कामना करते हैं, वह ईश्वर ही है जिसे हम आस्तिक न होकर विश्वासपूर्वक जानते हैं। कला या सौन्दर्य या अच्छाई अकेले हममें धार्मिक अन्तर्दृष्टि पैदा न कर सकें, परन्तु परस्पर संश्लिष्ट होकर वे हमें अपने से एक ऊँची चीज की ओर ले जाते हैं। धार्मिक व्यक्ति एक नयी दुनिया में रहता है जो उसके जीवन को प्रकाश से, उसके हृदय को आनन्द से और उसकी आत्मा को प्रेम से भर देती है। ईश्वर को वह प्रकाश, प्रेम और जीवन के रूप में देखता है।

धार्मिक अन्तर्ज्ञान सर्वसमावेशी ज्ञान होता है, जो समस्त जीवन को व्याप्त कर लेता है। मनुष्य में विद्यमान आत्मा अनेक प्रकार से अपने-आपको पूर्णता की ओर ले जाती है, किन्तु सबसे अधिक पूर्णता धार्मिक जीवन के रूप में पाती है। इसी में मनुष्य की चेतना पूर्ण रूप में और एक ही साथ उद्बुद्ध होती है। यद्यपि प्रत्येक प्रतिभाशाली व्यक्ति अपने-अपने ढंग से आत्मा के उत्थान और विकास के क्षेत्र में अग्रणी होता है, तथापि धार्मिक प्रतिभा में हम आन्तरिक जीवन की विभिन्न शक्तियों को एक साथ उदात्त और विकसित रूप में पाते हैं। धार्मिक व्यक्ति समान या अधिकतर उच्च और गहन शक्तियों, दार्शनिक दृष्टि, बौद्धिक शक्ति, भावनात्मक उत्साह और क्रियात्मक ऊर्जा का साकार अभिव्यंजन करता है। एक प्रकार पूर्ण जीवन, जो किसी भी प्रकार के भ्रम, भूल या विकृति से मुक्त हो, सर्वथा समाधानकर, निष्काम और सर्वदर्शिक जीवन होगा। कुछ लोग आध्यात्मिक स्पष्टता और जीवन्त रूप में रचनात्मक होते हैं। जिस समाज में वे रहते हैं उसे वे अपनी कल्पना और दृष्टि के अनुसार नये सिरे से ढाल सकते हैं।

कथात्मक उपदेशों और चमत्कारों की भाषा में बात करते हैं। किन्तु यह मानवीय मन का नियम है कि वचनों की भावना खत्म हो जाती है और उनके शब्दों को महत्व मिल जाता है, बाह्य सामग्री कायम रहती है और धर्म लुप्त हो जाता है। अन्तर्दर्शन सैद्धान्तिक मान्यता नहीं है। दोनों में मात्रा का ही नहीं किस्म का भी अन्तर है। यह अन्तर ईश्वर को अनुभव करने और उसे जानने का अन्तर है। हमें ईश्वर का अन्तर्दर्शन (साक्षात्कार) तब तक नहीं हो सकता जब तक कि हम अपनी सम्पूर्ण सत्ता से उसके लिए प्रयत्न न करें। अनुभव को अर्जित करना पड़ता है प्रयत्न, आकांक्षा और तपस्या, विश्वास और समय की कीमत चुकाकर। अधीर बुद्धिजीवी लोग उसे बहुत सस्ते में प्राप्त करना चाहते हैं। हर धर्म में उसके अनुयायियों की बहुसंख्या यह चाहती है कि सच्चे अर्थों में धार्मिक बने बिना धर्म के आश्वासन और फल का उपभोग कर सकें। वे लोग धार्मिक होते हैं किन्तु अपने अन्तःकरण से या अपनी आत्मा से नहीं बल्कि अपने दिमाग से और कभी-कभी केवल अपने मेरुदण्ड से ही। धर्म प्रचारक और पुजारी लोग मानव प्रकृति की कमजोरी का लाभ उठाकर हमें यह उपदेश देते हैं कि यदि हम अपनी रक्षा चाहते हैं तो हमें ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखना चाहिए। भावनाहीन मन के समान ईश्वर को सिद्ध करने वाले धार्मिक दर्शन-शास्त्र और जड़ कर्मकाण्ड में वे बहुत व्युत्पन्न होते हैं और अपने क्षेत्र में उनकी क्षमता काफी होती है परन्तु नाजुक घड़ी आ जाने पर वे पर्याप्त सक्षम सिद्ध नहीं होते। किन्तु जिस धर्म में जब तक ब्रह्मज्ञानियों में सृजनात्मक भावना होती है उसका धर्म-प्रचारकों और पुजारियों के साथ इस बात को लेकर संघर्ष चलता रहता है कि वे पुरानी बातों की अतिरंजनापूर्ण पुनरावृत्ति करते रहते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य की आत्मा और भावना तभी जीवित होकर जागृत होती है जबकि जिस लीक में वह चली है उसे तोड़ दिया जाए। यही कारण है कि वे रूढ़िवादी होने के बजाय [illegible]

बचने से भिन्न नहीं है [illegible] इस बात [illegible]
और व्याख्याओं में अनेक लोगों का पूरा का पूरा दृष्टिकोण [illegible] हो गया। इन विचार
को लेकर लोग समझते हैं [illegible] और [illegible] है—
विद्वानों और धर्मशास्त्र के विद्यार्थियों में अनेक [illegible] में यह विचार [illegible] है कि
[illegible] है कि [illegible] है [illegible]
[illegible] है या तो [illegible] का [illegible] और [illegible]
[illegible] है और [illegible] की [illegible] है [illegible]
[illegible] (१ [illegible])।

अधिक होते हैं। उन्हें अधार्मिक और समाज द्रोही समझ लिया जाता है। प्राय उन्हें बहिष्कार और मृत्यु का शिकार बनना पड़ता है किन्तु धर्म के क्षेत्र में होने वाली समस्त प्रगति इन उत्पीड़ित आत्माओं के कारण ही होती है। वे संसार में ईश्वर के जीवन को अधिक गहरा और समृद्ध बनाते हैं और जहां धर्म प्रचारक और पुजारी ईमानदार और जिज्ञासु मन को सन्तुष्ट नहीं कर सकते वहां यह ज्ञानी लोग उसे अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

कट्टर सिद्धान्तवाद एक बौद्धिक धर्म का खतरा है जो एक ऐसे संसार के लिए, जिसमें हर वस्तु का एक नियत प्रतिमान निश्चित करने की प्रवृत्ति और मात्रा की अधिकता को वैयक्तिकता और किस्म की श्रेष्ठता से अधिक महत्व दिया जाता है बहुत आकर्षक है। जब कट्टर सिद्धान्तवादिता का ह्रास होने लगता है तो हम घबराने लगते हैं कि कहीं धर्म ही लुप्त न हो जाए। यदि हम धर्म सम्बन्धी आचारों और औपचारिकताओं को अन्तिम और अपरिवर्तनीय मान लें तो उनकी जड़ें हिलती देखकर हमारा सशंक और आतंकित होना स्वाभाविक है। किन्तु यह सौभाग्य की बात है कि धर्मों के महान् ऋषि और प्रवर्तक लोग किन्हीं निश्चित और अपरिवर्तनीय सिद्धान्तों या कर्म-काण्डों का विधान नहीं करते। वे आत्मा को अपनी एकाकी तीर्थ-यात्रा के पथ पर आमंत्रित करते हैं और उसे पूर्ण स्वाधीनता प्रदान कर देते हैं क्योंकि उनका यह विश्वास है कि ईश्वर का अपनी प्रतिमा के अनुसार स्वतन्त्र और निर्बाध रूप से अपनी आत्मा में पाना ही आध्यात्मिक जीवन के लिए अनिवार्य शर्त है। मानव प्रकृति एक जीवन है जो बढ़ना और विकसित होना चाहता है। वह 'मिट्टी नहीं है जो यह इन्तजार करे कि कोई आकर उसे सांचे में ढाले। धार्मिक प्रतिभाशाली महापुरुषों के उदाहरण मार्ग तौर पर मनुष्य के पथ प्रदर्शन के लिए उपस्थित रहते हैं और जब उनका सम्बन्ध किन्हीं संगठनों से होता है तो भी वे उसमें जीवन की भावना बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं। उन्हें एक महान् जीवन को ऐसे कट्टर और अपरिवर्तनीय नियम या सूत्र में परिणत करने की एक गूढ़ रहस्य को एक ऐसी दार्शनिक प्रणाली में परिवर्तित करने की जल्दी नहीं होती जिसे हर व्यक्ति रट सके। यदि हमारे मन्दिर मस्जिद और गिर्जे यह समझें कि उनका मुख्य कार्य हमें पवित्र भाव देने के बजाय हमारी आत्मा को उद्बुद्ध और सक्षम करना है तो वे ईश्वर के ऐसे मन्दिर बन जाएंगे जिनमें व्यापकता और औदार्य का साहस होगा और जो अपने आध्यात्मिक वातावरण में विभिन्न धार्मिक विचारों और रुचियों के लोगों का

स्वागत कर सकेंगे। वे एक ऐसे महान् धार्मिक सम्प्रदाय की भूमिका तैयार करेंगे जो समस्त सद्भावनाशील मानवों का आलिंगन करेगा। जीवन और वातावरण मान्यता और बँधे हुए धार्मिक विधान की विरोधी वस्तुएँ हैं। जीवन या वातावरण की सम्भावनाएँ अपरिमित और अपरिमेय हैं और उसमें विभिन्न मनों के लोगों के विचार भेद के लिए पूरी गुंजायश रहती है। यदि हमारा यह विश्वास हो कि मनुष्य को उसके मन की कोमलता के लिए किसी सहारे की आवश्यकता है तो हम उसे प्रतीक और उदाहरण प्रदान कर सकते हैं, किन्तु उसके बाद शेष सब-कुछ हम मनुष्य के अन्तर में विद्यमान ईश्वर पर ही छोड़ देना चाहिए। सुकरात की भाँति सच्चा उपदेशक केवल दाई का काम करता है। हिन्दू-धर्म के समान किसी धर्म में निश्चित आकार का जो अभाव है वह मुझे एक उच्चतर किस्म की निश्चितता का द्योतक प्रतीत होता है। धर्म का अर्थ है ब्रह्माण्ड में ईश्वर के साथ अतल ऐक्य और उसका मुख्य साधन है प्रेम।

७ सृजनात्मक अन्तर्दृष्टि :

सृजनात्मक सौन्दर्य-बोधात्मक नैतिक या धार्मिक प्रवृत्तियों में जो सृजनात्मकता है वह अन्तर्दर्शनात्मक विचार या आध्यात्मिक चेतना से उत्थित और उद्दीप्त विचार का परिणाम है। जीवन की इस सृजनात्मक ऊर्जा के न होने पर किसी भी क्षेत्र या विद्या में महानता उदात्तता और पूर्णता नहीं आती। मानव जगत् के महापुरुष उसके बुद्ध और ईसा उसके प्लेटो और पॉल सभी एक ही साँचे में ढले हैं जीवन के एक ही स्रोत से उन्होंने प्रेरणा ग्रहण की है। उन्होंने आत्मा की अथाह गहराइयों को स्पर्श किया है और उस अविभक्त अवैयक्तिक मूलोद्गम में उनकी वाणी प्रस्फुटित होती है जहाँ से हमारे व्यक्तिगत विचार, भावनाएँ और आकांक्षाएँ पैदा होती हैं। विचारक कलाकार और महापुरुष सच्चे अर्थों में धार्मिक होते हैं भले ही वे धार्मिक भाषा का उपयोग न करें और भले ही धार्मिक भाषा का कभी-कभी वे तिरस्कार तक कर दें। कारण वे व्यक्ति और विश्व के बीच की दीवारों को गिरा देते हैं। उनमें वह मधुर नम्रता वह शान्त त्याग वह धैर्यपूर्ण विश्वास होता है, जो सिर्फ उन्हीं लोगों में से आ सकता है जो एक दूसरी दुनिया में आत्मा की दुनिया में रहते हैं। वे एकाकी रहते हैं आत्म-केन्द्रित रहते हैं, किन्तु स्वेच्छा से नहीं बल्कि मजबूरी में। कारण प्रतिभा और प्रज्ञा सामूहिक कार्य की वस्तु नहीं हैं। ऋषियों और भविष्यवक्ता आत्माओं की

कामनाएँ और कमेटियाँ नहीं होतीं।

८. मानव में अध्यात्म-चेतना :

यदि हम से यह पूछा जाए कि मानव में विद्यमान आत्मा ठीक-ठीक क्या चीज है तो उसका कोई निश्चित उत्तर देना कठिन होगा। हम उसे जानते हैं किन्तु व्याख्या करके समझा नहीं सकते। वह सर्वत्र अनुभव होती है, दिखाई कहीं नहीं देती। वह न भौतिक देह है न प्राण न मन और न इच्छा बल्कि वह इन सबका अन्तर्निहित आधार है इन सबको थामे हुए है। वह हमारी सत्ता का आधार और पृष्ठभूमि है, एक सर्वाधिव्यापी सत्ता है जो इस या उस आकार और सूत्र में बाँधी नहीं जा सकती। 'जो मन से मनन नहीं किया जाता बल्कि जिससे मन मनन किया हुआ कहा जाता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो। जिसकी लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है।[1] उपनिषद् में एक उपमा है जिसमें समान वृक्ष पर बैठे दो सयुज और सखा पक्षियों (ईश्वर और जीव) का वर्णन है, जिनमें से एक स्वादु फल का भक्षण करता है और दूसरा बिना कुछ खाए केवल उसे देख रहा है। आत्मा निष्काम और अनासक्त होकर देख रही है उसका आनन्द पवित्र और पूर्णत मुक्त है और आनुभविक 'आत्मा (सैल्फ) जीवन के काम-काज में व्यापृत है। इनमें से प्रथम अधिक व्यापक अधिक गहरी और अधिक सत्य है किन्तु सामान्यतः वह हमारे ज्ञान से ओझल रहती है। जब महान् ज्योति हमारी बुद्धि को ज्योतित और प्रेरित करती है तब हमें प्रज्ञा अर्थात् अन्तर्ज्ञान प्राप्त होता है, जब वह इच्छा को आन्दोलित करती है तो हममें वीर भावना और महानता पैदा होती है जब वह हृदय के बीच से प्रवाहित होती है तो हममें प्रेम का उदय होता है और जब वह हमारी सत्ता को रूपान्तरित कर देती है तब मानव-पुत्र ईश्वर-पुत्र बन जाता है। आत्मा की आग को किसी भी वेदी पर प्रज्वलित करो उसकी ज्वाला स्वर्ग तक पहुँचती है। उसकी शक्तियाँ असीम हैं उसके स्वप्न सृष्टियों के स्वप्न हैं उसके बोध दिव्य हैं। उसकी अभिव्यक्ति किसी प्राकृतिक सीमा में बँधी हुई नहीं है उसकी सम्भाव्यताएँ सर्व-समावेशी हैं। जहाँ कहीं प्रतिभा है उत्साह है, शौर्य है, वहाँ गुह्यचारी आत्मा काम कर रही है, चाहे फिर वह कितने ही पूर्वाग्रहग्रस्त और अपरिष्कृत रूप में हो। उपलब्धि की पूर्णता हमेशा सन्तोषप्रद होती है। वह ईश्वर की दिव्य की झाँकी होती है। प्रेरणा

[1] केन उपनिषद् १.५।

परिसीमित है वह हमारे एक सीमित मन द्वारा जो जागृत चेतना में सक्रिय रहता है पैदा की गई व्यवस्था है। यदि हम अन्तर्मुख होना सीख लें तो हम अपने भीतर विद्यमान परम सत्ता की जो हमारा अधिक वास्तविक गम्भीर, शान्त और आनन्दपूर्ण 'स्व' है जो समस्त दृश्यमान जगत् को थामता और पोषित करता है, पुकार को सुन सकेंगे।

हम आत्मा की यह महानता तब तक नहीं प्राप्त कर सकते जब तक कि प्रबोधोदय से हमारा नया जन्म न हो। जो लोग उस उच्चता तक पहुँच गए हैं उनका सचमुच ही नया जन्म होता है। यद्यपि यह गुण यह नया जन्म हमें केवल मानवता के महापुरुषों के जीवनों में ही नजर आता है तथापि हम सब उससे विरहित नहीं होते। सम्भव है कि हम अपने भीतर उस महानता का विकास न कर सके हों किन्तु जिन्होंने उसे विकसित कर लिया है, उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए हम सदा उद्यत रहते हैं। महान् पुरुषों के विचार, उनकी समाधि की अवस्थाएँ और उनके महान् कार्य हममें उनके प्रति भक्ति और श्रद्धा की भावना पैदा करते हैं। यदि हममें उस परम आत्मा का वास न होता तो क्या विज्ञान और जीवन की महान् कृतियों को देखकर हम कभी आनन्द से पुलकित न होते। हम यह दावा करते हैं कि उनमें जो गहरी अर्थवत्ता है उनमें जो वीरत्व और भव्यता है उनमें समाहित विश्व की जो दिव्य दृष्टि है वह हमारी अपनी है। कवि की ताल और लय को हम अपनी आत्मा की ताल और लय में सुनते हैं उनके शब्दों की प्रतिध्वनि हमें अपने शब्दों में मिलती है। प्लेटो के शब्दों में हमारे समूचे जीवन में छायी हुई चमक हमारे भीतर विद्यमान किन्तु अनावृत परम आत्मा का सहसा हमें प्रत्यास्मरण हो जाता है। एक व्यक्ति की हृदय की गहराइयों से निकली वाणी हजारों मूक वाणियों को मुखर कर देती है। कवि के शब्दों को हम अपनी ही स्वाभाविक वाणी कहते हैं दार्शनिक के विचारों को हम अपने निज के उच्चतम विचार कहते हैं। सन्त की पूर्णता की अवस्था की प्राप्ति के लिए हम स्वयं भी कामना करते हैं और यह मानते हैं कि हम भी साधना करें तो उसे प्राप्त कर सकते हैं। हम किसी वस्तु को समझ और हृदयंगम तभी कर सकते हैं जबकि उसमें कुछ हमारा अपनापन हो। जब कोई चित्र कविता या महान् जीवन हमारे भीतर आश्चर्यजनकता का प्रभाव पैदा करता है तो हमें यह निश्चित विश्वास होता है कि हमारे अन्दर में भी कोई आश्चर्यमय वस्तु है जिस पर उस बाह्य वस्तु की आश्चर्यजनकता की अनुक्रिया होती है।

संशयों को काट देते हैं, उनके जीवन-सत्य को प्रकट करते हैं और उनका खण्डन नहीं किया जा सकता। उनका प्रभाव हमें ईश्वर के अस्तित्व को मानने के लिए विवश कर देता है, क्योंकि वे दूसरों की बातें नहीं कहते बल्कि अपने ही अनुभव का अधिकारपूर्वक वर्णन करते हैं।

ये अन्तर्दर्शी व्यक्ति, जिनके काँपते हुए होंठों से समाधि और अन्तर्दृष्टि की अवस्था में प्राप्त किये गए अनुभव के भाव-विह्वल शब्द निकलते हैं, हमें उस भावी नियति का कुछ पूर्वाभास कराते हैं जिसकी ओर समस्त मानवों को जाना है। वे अपरम्पार सत्ता के आगमन के उद्घोषक और भावी मानव के प्रथम फल होते हैं। वे स्वयं और उनके द्वारा हमारे मन में पैदा की जाने वाली विशेष स्थितियाँ भविष्य में मानव-समाज द्वारा आध्यात्मिक क्षेत्र में पाई जाने वाली सफलताओं की एक झाँकी हैं। ये लोग नये उत्कृष्ट व्यक्ति हैं, एक नयी मानवीय प्राणि-जाति हैं; जीव-विज्ञान के शब्दों में वे एक नयी 'स्पोर्ट' (प्राणि-जाति) हैं जिनमें एक नये किस्म के मानव का उदय हो रहा है। हम सभी का एक नया जन्म होगा, हमें अपने भीतर विद्यमान ईश्वरीय सत्तातत्त्व को अभिव्यक्त करना होगा, अपने अन्तर्वर्ती ईश्वरीय स्वरूप को पूर्णता तक पहुँचाना होगा। जैसे ही भाव विकास और ज्ञान की एक दीर्घ प्रक्रिया ने हमें अपने उस लक्ष्य से अलग कर रखा है। बुद्ध और ईसा में जीवन की एक नयी झाँकी, अन्तरंग और बहिरंग

1. प्लेटो की 'रिपब्लिक' पुस्तक में (१०, २ पृष्ठ) एक आश्चर्यजनक वाक्य है जिसमें एडीमेन्टस सुकरात के इस कथन को स्वीकार करता है कि ईश्वर स्वतः अच्छा है। वह कहता है कि सुकरात के यह बात कहने के साथ ही मुझे उसके कथन की सत्यता अनुभव हो जाती है। *मैं स्वयं नहीं बोलता हूँ और अब आप भी नहीं कहते हैं।* जॉन १, ४५-५१ में भी हमें व्यक्तिगत प्रभाव का ऐसा ही एक उदाहरण मिलता है। फिलिप ने जब अपने भाई नैथेनियल को बताया कि एक नया नबी आया है जो इस्राइल का प्रतिज्ञात मसीहा सिद्ध हो सकता है, तो उसे विश्वास नहीं हुआ। किन्तु जब वह ईसा से मिला और उसके वचन सुने तो उसके सन्देह मिट गए और उसे उसके ईश्वरीय मिशन और उनकी सर्वज्ञता का विश्वास हो गया। जब एक पैगन दार्शनिक से, जिसे एक अनपढ़ देहाती ने ईसाई धर्म में दीक्षित कर लिया था, पूछा गया कि ऐसा कैसे हुआ तो उसने कहा कि उस बूढ़े देहाती में कुछ ऐसी शक्ति थी कि वह उसके सामने टिक नहीं सका, यद्यपि वह उसकी सब युक्तियों का उत्तर दे सकता था। अर्थात् पैगम्बरों की साधारण मानव पर ऐसी प्रतिक्रिया होती है।
2. रोमन्स VIII १९।
3. एफेसियन्स III १६।

की प्रकृतियों की एक नयी एकता साकार हुई है।

यदि हम यह याद रखें कि उनकी विकास की प्रक्रिया म कैसे-कैसे आश्चर्य और चमत्कार घटित हुए है तो हमारा यह आशा करना अयुक्तियुक्त नहीं होगा कि हम भी इस महान् स्थिति को एक दिन प्राप्त कर सकते हैं। डार्विन के एप को अपना वन्य जीवन व्यतीत करते हुए कभी यह कल्पना करना भी सम्भव प्रतीत नहीं हुआ होगा कि किसी दिन यह विकास की प्रक्रिया में ऐसा प्राणी बन जाएगा जो एक नयी तर्क और बुद्धि की शक्ति का उपयोग कर सकेगा पृथ्वी और उसकी मानसिक एवं भौतिक परिस्थितियों पर शासन कर सकेगा प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग कर सकेगा समुद्र और आकाश को लाँघ सकेगा और सबसे बढ़कर अपने घरेलू राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों मे व्यवहार के नैतिक नियमों से अपने जीवन को नियन्त्रित कर सकेगा। उसी प्रकार आज के मानव के लिए भी यह कल्पना करना उतना ही कठिन है कि वह किसी दिन दिव्य स्थिति प्राप्त कर सकेगा ऐसा ज्ञान प्राप्त कर सकेगा जो सर्वथा अभ्रान्त होगा दुःख-पाप से ऊपर उठ सकेगा दुर्बलताहीन शक्ति उपलब्ध कर सकेगा और निष्कलुष और असीम पवित्रता और बाहुल्य की स्थिति प्राप्त कर सकेगा। मानव समाज का ऐसा कायाकल्प ही मनुष्य का स्वर्ग का ईश्वर के राज्य का स्वप्न है। सृजनात्मक प्रक्रिया और मानव के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि वे क्या होंगे इसका अभी से कुछ पता नहीं है। हमारी तर्क-बुद्धि हमें बताती है कि जो कुछ सम्भव है वह सिर्फ सापेक्ष ज्ञान विम्बाबिम्बित आनन्द सोपाधिक और ससीम शक्ति तथा सीमित अच्छाई ही है किन्तु अन्तर्दृष्टि के तल ईश्वर के राज्य की एक झाँकी देकर हमे प्रेरणा देते हैं और यह आशा प्रदान करते हैं कि जिस प्रकार एन्थ्रोपोमड एप (नर-वानर) मानव बन गया उसी प्रकार मानव प्राणी देवता भी बन सकता है। इसने पचास शताब्दियों में जो युगों की प्रक्रिया में एक बच्चे से बड़ी कालावधि नहीं है जो प्रगति की है उस पर यदि हम दृष्टिपात करें तो हमारे लिए अधीर होने का कोई कारण नहीं है। काल की घड़ी म घण्टे की ये सुइयाँ हम तब तक घुमाते रहनी पड़ेगी जब तक कि सब तरफ से विजय की आह्लादक ध्वनि नहीं सुन पड़ेगी। सन्त पॉल के रोमनों को लिखे गुमनाम के आठवें अध्याय मे दिये गए इस वाक्य जैसे प्रेरणाप्रद वाक्य हम अवश्य उत्साह और साहस प्रदान करेंगे : "मेरा अनुमान है कि इस वर्तमान काल के कष्ट उस महान् भव्यता के साथ तुलनीय नहीं हैं जो हममे प्रकट होगी। सृष्टि उत्कण्ठित

होकर ईश्वर के पुत्रों को ज्ञान की प्राप्ति का इन्तजार कर रही है।

जब तक यह ज्ञानोपलब्धि नहीं होती तब तक कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को पूरी तरह सुव्यवस्थित नहीं कर सकेगा क्योंकि सुव्यवस्था केवल आभ्यन्तर ही नहीं बाह्य भी है। हमें अपनी निज की प्रक्रियाओं और शक्तियों को अपने इर्द-गिर्द की सर्वोत्तम परिस्थितियों और परिवेश के साथ सुव्यवस्थित करना है। इस पारस्परिक क्रिया से युक्त सक्रिय ऐक्य की पूर्ण उपलब्धि ही 'भरपूर जीवन' है और यह तभी सम्भव है जबकि विश्व पूर्णता की अवस्था को प्राप्त कर ले और मानव और अधिक विकसित होकर सत्ता की उच्चतर स्थिति प्राप्त कर ले। अपने सजातीय प्राणियों के प्रति घृणा और उपेक्षा के भाव से सर्व के साथ अलग बने रहना किसी के लिए सम्भव नहीं है। हम सत्ता की तराजू में अधिक भारी स्थिति तभी पा सकते हैं जबकि शेष सबको भी अपने भीतर समा लें। यद्यपि व्यक्ति को अपने बगीचे को स्वयं सँवारना है अपने 'स्व' को अलभ्य बनाना है तो भी यह 'स्व' शेष संसार से किसी भी तरह पृथक नहीं है यह बगीचा बाड़ लगाकर शेष ब्रह्माण्ड से अलग नहीं किया गया है। विश्व ही यह उद्यान है और हम तब तक स्वतः पूर्ण नहीं हो सकते जब तक कि स्वयं विश्व ही आत्मपूर्ण न बन जाए।

९ आत्मैक्य

अन्तर्ज्ञानात्मक अन्तर्दृष्टि चाहे वह किसी भी क्षेत्र में हो एक समग्र दृष्टि है जिसमें कि मानव अपने सम्पूर्ण रूप में सत्य को जानने के लिए आगे बढ़ता है। इस अविभक्त ऐक्यपूर्ण जीवन की प्राप्ति जिससे कि बुद्धि और भावना कल्पना और अभिरुचि का उदय होता है आध्यात्मिक जीवन का सार-तत्त्व है। सामान्यतः हम सम्पूर्ण मानव यथार्थ व्यक्ति नहीं हैं। हमारी अनुक्रियाएँ आकारिक और हमारे कार्य अनुकरणात्मक होते हैं। हम आत्माएँ नहीं हैं बल्कि स्वयं चालित मानवीय यन्त्र हैं। इसीलिए हमारे जीवनों में सौन्दर्य गहराई और शक्ति नहीं होती। मनुष्य के लिए अपने-आपको एक पूर्ण और सन्तुलित प्रकृति में बदलने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी नैसर्गिक वृत्ति और बुद्धि को भावना और इच्छा को जो विकासमान व्यक्तित्व से किसी भी तरह भिन्न नहीं हैं परस्पर समन्वित कर एक अखण्ड रूप प्रदान करे। इस प्रक्रिया का अर्थ केवल मनुष्य के विश्वास और मत को बदलना ही नहीं है। हमें चतुराई की नहीं विवेक की

व्यतीत किया है सहसा अनियन्त्रित विकार और वासना का उद्दीपन दिखाई देने लगता है। उनकी प्रकृति के अप्रयुक्त तत्त्व उनके अवचेतन की कोठरी में बन्द पड़े रहते हैं और आत्म-सन्तुष्टि के लिए चीखते-चिल्लाते रहते हैं। प्रेम और मैत्री के लिए अपनी उत्सुकता और उत्कण्ठा में वे अपना प्रेम पालतू बिल्लियों और कुत्तों पर उँडेलते हैं। प्रेम के इन स्थानापन्न पात्रों से भी जब उन्हें सन्तोष नहीं होता तो वे पागल और विक्षिप्त हो जाते हैं। इन उपायों से मन वह सन्तुलन की शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता जो एक पूर्णत शान्त और अविचल आत्मा में होनी चाहिए। योग की विधि हमारी समूची प्रकृति को ही बदलने का प्रयत्न करती है जो व्यक्तिगत इच्छा के चेतन नियन्त्रण मात्र से सम्भव नहीं है।

योग की हिन्दू प्रणाली में यम नियम आसन आदि की ऐसी अनुशासन प्रणाली का विधान है जिसमें हमारी प्रकृति के सब भाग शरीर इन्द्रियाँ और मन नियन्त्रित और परस्पर सघटित हो जाते हैं और उसमें आत्मा जिसके वे सब विभिन्न विकास हैं मुक्त होकर सृजनात्मक प्रवृत्ति में रत हो जाती है। रोग मनुष्य के भौतिक रूप और उसके परिवेश के ऐक्य में बाधा उपस्थित करता है। भ्रम भी अज्ञान मानसिक मन और तर्क के ससार के ऐक्य में बाधा डालता है। पाप भी कुत्सित मानवीय इच्छा और ब्रह्माण्ड की इच्छा के ऐक्य में रुकावट पैदा करता है। जब प्रा[illegible] की विभिन्न शक्तियाँ अलग-अलग कार्य करने का प्रयत्न करती हैं [illegible] भी ब्रह्माण्ड म अनैक्य और बिखर हो जाता है। हम ससार [illegible] अपनी वासना और स्वार्थों के माध्यम से देखने लगते हैं जो प्रकाश [illegible] दिया जाता है। जब हम अपने-आपको उसके बन्धन से [illegible] हमारा [illegible] सीमा से परे हटता है और हम वस्तुओं को उनके [illegible] हम अपनी विभिन्न शक्तियों पर [illegible] है। जब हमसे यह कहा जाता है कि हम अपनी वृत्तियों [illegible] म अन्तर की गहराई में उनकी जड़ें [illegible] अतिमर्त्य प्राप्त को अपनी प्रकृति [illegible] ही जाता है। योग ही वह विधि है [illegible] हमारा [illegible]

करते हैं, उससे उनका अभिप्राय अन्तर्ज्ञान के बाद प्राप्त निर्मल दृष्टि से होता है न कि उससे पूर्व की निर्मल दृष्टि से। बच्चे में उत्पन्न होने वाला स्वतःस्फूर्त ज्ञान अन्तर्दृष्टि का स्थान नहीं ले सकता। जो भावना हमारे जीवन का अचेतन प्रारम्भ है वही हमारे जीवन का चेतन अन्त होनी चाहिए। बच्चों में एक निर्दोषता गाम्भीर्य अखंडता और ईमानदारी होती है जो अपने जीवन के साथ उनके ऐक्य से उत्पन्न होती है। उनका जीवन शान्तिपूर्ण होता है वे झूठ नहीं बोलते कोई बुरा काम या अन्याय नहीं करते। वे अपने स्वतःस्फूर्त ज्ञान के अनुसार चलते हैं। उनका व्यवहार उनके अस्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति होता है। हमारी बौद्धिक चेतना ने हमें अपनी सत्ता की पूर्णता से बाहर निर्वासित कर दिया है। उस पूर्णता और अखंडता को फिर से पाना उस उच्च जीवन को अधिगत करना जहाँ ज्ञान और अस्तित्व अलग-अलग नहीं है वास्तव में मानव के विकास का सार तत्त्व है। इस खोयी हुई एकता को फिर से पाना ही मानव का नया जन्म है। यही आध्यात्मिक जीवन और ईश्वर के राज्य का रहस्य है।

मादक द्रव्यों उदाहरण औषधों और अन्य सहायक वस्तुओं से पैदा की गई असामान्य मानसिक अवस्था उन लोगों की आध्यात्मिक अभिवृद्धि से भिन्न होती है जिन्होंने जीवन की अखंडता और पूर्णता प्राप्त कर ली है। ये असामान्य मानसिक अवस्थाएँ सर्वथा निरर्थक नहीं हैं क्योंकि वे इस बात का संकेत अवश्य करती हैं कि मनुष्य के भीतर विश्व के साथ एकत्व की एक प्रसुप्त भावना अवश्य है। विश्व के साथ एकता की यह भावना हमारे जीवन के महान् क्षणों तक ही सीमित नहीं है। उपनिषदों में कहा गया है कि मनुष्य के जीवन का ग्रह-नक्षत्रों और भौतिक वस्तुओं एवं वनस्पतियों और प्राणियों के साथ सम्बन्ध है। विश्व के साथ अभिन्नता की यह सामान्य भावना हम पर प्रबल रूप से उस समय प्रकट होती है, जबकि हम गहरी निद्रा की अवस्था में होते हैं। विश्व के साथ हमारी एकता हमेशा हमारे साथ बनी रहती है चाहे वह हमारी सामान्यतम स्थिति में हो और चाहे उच्चतम प्रवृत्ति में। यह अवश्य ठीक है कि हमारे सामान्य जीवन में जो विभाजन और संघर्ष है उनमें कार्य रहने के कारण वह प्रकट नहीं होती। हम हजारों तरह से अनन्त की गोद में डूब सकते या मूर्च्छित हो सकते हैं। इस प्रकार सहज वृत्तिक जीवन या अचेतना में डूब जाना मनुष्य की सम्पूर्ण आत्मा को ऊँचा उठाने और विश्व-आत्मा के साथ उसके पुनरेकीकरण से सर्वथा भिन्न है। आध्यात्मिक जीवन जड़ता या उदासीनता नहीं है, बल्कि वह आलोक मुक्ति शान्ति और

चालित है। आध्यात्मिक चेतना मादकद्रव्य आदि से उत्पन्न उन्माद की अवस्था या मादक द्रव्यों से उत्पन्न नशे से भिन्न चीज है क्योंकि आत्मद्रष्टा का जीवन एक नयी गहराई और सम्मति तथा चरित्र की असाधारण वृद्धि प्राप्त करता है। आत्म दर्शन से व्यक्तित्व अधिक समृद्ध होता है। उसमें सजीवता बढ़ती है घटती नहीं।

मनोविज्ञान-विश्लेषकों का मत है कि कला धर्म और दर्शन की आधार भूत अन्तर्दृष्टियाँ चेतन मन के कारण प्राप्त नहीं होती बल्कि उनकी जड़ें अचेतन में होती हैं जो अधिक गहरा और अधिक बीवन्त मन है और चेतन मन जिसकी एक विशिष्ट अवस्था है। चेतन और अचेतन के बीच सम्बन्ध की तुलना समुद्र की सतह पर रहने वाली लहरों और उसके नीचे की गहराई के बीच सम्बन्ध से की जा सकती है। जो महान् अन्तर्दर्शन हमें अपनी विस्मयकारिता और अर्थवत्ता से चकित कर देते हैं वे अचेतन से पैदा नहीं होते बल्कि हमारे भीतर विद्यमान परम आत्मा से हमारे सम्पूर्ण 'स्व' से जिसमें चेतन और अचेतन दोनों सम्मिलित हैं पैदा होते हैं। ये अन्तर्दर्शन केवल चेतना से पैदा नहीं होते बल्कि परम आत्मा से उत्पन्न होते हैं इसलिए वे अधिक मजबूत आधार पर प्रतिष्ठित होते हैं क्योंकि ज्ञान की दृष्टि से परम आत्मा चेतन आत्मा से अधिक उत्कृष्ट स्थिति में होती है। अचेतन वह अवस्था नहीं है जिसमें हमारी प्रकृति से उद्दीप्त किन्तु हमारी सामान्य चेतना से ठुकरायी गई कामनाएँ उस अवसर की प्रतीक्षा में पड़ी रहती हैं जबकि वे शक्तिशाली होकर सामान्य चेतना के प्रतिबन्ध को उलट सकें। वह बहिष्कृत कामनाओं का आश्रय-स्थल नहीं है बल्कि वह हर प्राणी का अद्वितीय व्यक्तिगत स्वभाव है जो प्रकृत्या अविश्लेष्य है। जो कुछ हम करते या सोचते हैं वह जो कुछ हम हैं, उसका परिणाम है न कि उसका जो कुछ हम अपने-आपको समझते हैं।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उस तरीके पर रोशनी डालता है जिससे कि हमारे आन्तरिक दबाव हमारी चेतन अभिवृत्ति को प्रभावित करते हैं। संसार की बहुत सी घटनाएँ, जिनकी ओर हमारी जागृत चेतना ध्यान नहीं देती हमारे मन पर अपने चिह्न छोड़ जाती हैं और हमारे व्यवहार को प्रभावित करती हैं। यदि अन्तर्दर्शनात्मक बोध पूर्ण अनुप्राणित मन द्वारा पूर्ण वस्तु का ज्ञान है तो हमारे सम्पूर्ण मन को अनावृत्त करना और उसे सज्जित अवस्था में रखना आवश्यक है। अचेतन मन पर पड़ने वाली छाप निर्मलित होनी चाहिएँ। हम सबके अन्दर मैं जो एक दबा हुआ जीवन छिपा रहता है [illegible]

चाहिए और हमारे चेतन जीवन का अंग बनाया जाना चाहिए।

व्यवहारवादी मनोविज्ञान में भी अलौकिक मन की सम्भाव्यताओं और शक्तियों पर बल दिया गया है। उसका कहना है कि जब मनुष्य सोचता है तब प्रच्छन्न रूप से उसका सारा शरीर-यन्त्र-कार्य करता है। समस्त चिन्तन समग्र मानव का चिन्तन होता है जिसमें मानव समग्र रूप से चिन्तन के विषय पर प्रसक्त रहता है। शरीर और मन परस्पर मिल जाते हैं और हमारी समूची प्रकृति उद्बुद्ध होकर सघन बन जाती है और उसका जीवन चिन्तनीय विषय को अपने आश्लेष में आबद्ध कर लेता है। मनुष्य की आत्मा के इस समग्र एकीभाव में कठोर चिन्तन के इस स्नायविक स्वरूप में कुछ-कुछ वैसा ही नैतिक वासनामय तत्त्व होता है जिसकी परम्परा कुछ निम्न श्रेणी के सम्प्रदायों में पाई जाती है। इस एकीभाव में हमसे देह या इन्द्रियों को विलुप्त कर देने के लिए नहीं कहा जाता बल्कि उनकी स्वतन्त्रता का परित्याग कर देने और अविकल आत्मपूर्णता की स्थिति प्राप्त करने के लिए कहा जाता है जिसमें शरीर बाधा नहीं रहता और हमारे 'स्व' (समग्र आत्मा) का ही एक अंग बन जाता है।

मनोविज्ञान-विश्लेषकों का कहना है कि धर्म के सत्य अचेतन में दबे हुए भयों और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति है। उनका यह कथन उस हद तक तो सही है जिस हद तक उनका अभिप्राय यह है कि धार्मिक सत्य विज्ञान में पाए जाने वाले चेतन तर्क से नहीं पाए जाते। किन्तु उनकी यह मान्यता सही नहीं है कि वैज्ञानिक तर्क के विषय ही यथार्थ हैं और बाकी सब कल्पना-मात्र हैं। जब मनोविज्ञान-विश्लेषक यह कहता है कि धार्मिक व्यक्ति आत्म प्रवंचना करता है तब वह स्वयं अपनी मनोविज्ञान की सीमा लाँघकर दर्शन के क्षेत्र में कदम रखता है। धार्मिक प्रत्यय अवश्य ही उन मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के कारण बनते हैं जो आत्म चेतन तर्क से विद्यमान होती हैं। किन्तु जैसा कि हमने देखा है, विज्ञान भी तब तक अपना कार्य नहीं कर सकता जब तक कि वह अपनी सीमा के पार से कुछ स्वतःसिद्ध स्वीकृत सिद्धान्तों को ग्रहण न कर ले। कल्पनाशील सौन्दर्य-बोध से रहित और प्रकृतिवादी दृष्टि को वस्तु जिस प्रकार की प्रतीत होती है उसीको यथार्थ बताने की आवश्यकता नहीं है। मनोविज्ञान-विश्लेषण यह बात स्पष्ट रूप से सिद्ध करता है कि सजीव मनुष्य तार्किक ऊहापोह से अधिक व्यापक होता है। जीवन की जड़ें आत्मा की अचेतन गहराइयों में होती हैं। मनोविज्ञान-विश्लेषक व्यक्ति की सत्ता के अधिक गहरे केन्द्र के लिए जिस 'लिबिडो' (वासना)

शब्द का प्रयोग करते हैं वह दुर्भाग्यपूर्ण है। धार्मिक विश्वास मनुष्य की सम्पूर्ण प्रकृति से उत्पन्न होता है। यह कोई ऐसी रहस्यपूर्ण वस्तु नहीं है जो सिर्फ बच्चों स्नायविक विकृति वालों या असभ्य लोगों तक ही सीमित हो।

यद्यपि हमने संसार और मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में अपना ज्ञान असाधारण रूप से बढ़ा लिया है तो भी यह मान्यता उचित नहीं है कि हमारे पूर्वज शताब्दियों पहले मानवीय आत्मा के सम्बन्ध में जो-कुछ जानते थे आज उसके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान उससे अधिक है। आत्मा के क्षेत्र में हमारा अज्ञान आज उस समय से किसी भी तरह कम नहीं है। मूर्खतापूर्वक निश्चिन्त होकर बैठने वाले लोग ही संसार के महान् वाङ्मय साहित्य दर्शन और धर्मों में जो हमारे जीवन के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण वस्तुओं से भरपूर हैं निहित सच्चे ज्ञान से अपनी आँखें मूँदे रखते हैं। य सत्य ज्ञान के भण्डार शायद मानवीय आत्मा की अन्य उपलब्धियों से जिनमें स्वयं मनोविज्ञान-विश्लेषण भी शामिल है अधिक महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि वे हमें आत्मा के विकास के बारे में बताते हैं और हमारी सत्ता की अधिक गहरी पूर्णता और ऐक्य पर बल देते हैं जो वस्तुओं के महत्त्व को ठीक-ठीक जानने के लिए एकमात्र अनिवार्य आवश्यकता है।

शरीर के अंगों की भाँति आत्मा की शक्तियाँ भी प्रयुक्त न किये जाने अथवा गलत प्रयुक्त किये जाने से नष्ट हो जाती या मारी जाती हैं। मनुष्य के भीतर विद्यमान आध्यात्मिकता के विकास के लिए सभी धर्मों में जिस अभ्यास का विधान किया गया है वह है ईश्वर की पूजा और प्रेम एवं संवेदना का विकास। उपासना और ध्यान प्रार्थना और भक्ति ऐसे कार्य हैं जो अकेले शरीर या मन के नहीं बल्कि सम्पूर्ण आत्मा के हैं। हम शरीर या मन से नहीं बल्कि आत्मा से और सत्त्व से अवस्थित होकर पूजा करते हैं। हमारा मन भावना को समझता है हमारा शरीर उसमें भाग लेता है परन्तु पूजा इन दोनों से भी बड़ी चीज है। यह मनुष्य की आत्मा का विश्व की आत्मा के साथ संयोग है दिव्य प्रकाश के साथ अपरोक्ष और अनिर्वचनीय सम्बन्ध है, प्रमाता और प्रमेय के सम्बन्ध से भी अधिक आभ्यन्तर और पूर्ण सम्बन्ध है जिसे मन या शरीर की क्रियाएँ अत्यन्त दुर्बल रूप में ही अभिव्यक्त कर सकती हैं।

धर्म हमें ऐसे अनुष्ठान और ऐसी रूढ़ियाँ प्रदान करता है जो हमारी भावनाओं को आकृष्ट और प्रभावित करती हैं। किन्तु प्राचीन धर्म हो जाने पर उसमें से अनुष्ठान और आचार-विधियाँ मृत और तर्कहीन हो जाती हैं। सुकरात

ने भी मरते समय कहा था "मैं एस्कुलाप के एक मुर्गे का कर्जदार हूँ।" एक बुद्धियुक्त तार्किक विश्वास का उन मानव विरोधी प्रथाओं और आचारों से कोई सरोकार नहीं जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से अलग करते हैं और जीवन के सौहार्दपूर्ण व्यवहार, सुकोमल प्रेम और निर्दोष आनन्द की मर्यादा को क्षति पहुँचाकर कठोर और निर्मम की मर्यादा को ऊँचा उठाते हैं। जो धार्मिक संहिताएँ दुःखद पुण्यों और काल्पनिक पापों का आविष्कार करती हैं वे जीवन की स्वस्थ गति को विक्षुब्ध और विचलित कर देती हैं और एक सच्चे धर्म का अभाव और निषेध की इस भावना के साथ कोई साम्य नहीं है।

विज्ञान या आलोचनात्मक बुद्धि का ऐसे धर्म के साथ कोई विरोध या विद्वेष नहीं है जो आत्मा के एक ऐसे अभूतपूर्व धार्मिक सम्प्रदाय की घोषणा करता है जो सद्भावना रखने वाले नर-नारियों की एक बिरादरी होगा जिन्हें पाखण्ड और दम्भ के सिवाय किसी वस्तु से घृणा नहीं होगी और जो हृदयहीनता के सिवाय और किसी काम को अनैतिक नहीं मानेंगे। किन्तु आज जिस धर्म का पालन किया जाता है, उसे इस महान् लक्ष्य तक पहुँचने के लिए बहुत लम्बा सफर तय करना होगा। हमने देखा है कि मनुष्य और प्रकृति में प्रेम और सौहार्द का अभाव भय का कारण है और वह भय ही धर्म को जन्म देता है। आदिम धर्म में इस भय की शान्ति के लिए अन्य आकाशचरों भूत-प्रेतों और धार्मिक प्रतीकों एवं जादू-मन्त्र आदि की कल्पना कर ली गई है। विज्ञान और धर्म एक-दूसरे के विरोधी और प्रतिमुख बन गए हैं क्योंकि विज्ञान के विषय ऐसे तथ्य हैं जिनकी जाँच की जा सकती है और धर्म के विषय कुछ ऐसी अवधारणाएँ हैं जिनकी पुष्टि नहीं की जा सकती। आरम्भ में धर्म का आविष्कार मनुष्य के सामान्य और स्वस्थ जीवन की सहायता के लिए किया गया था किन्तु वही बाद में बोझ बन जाता है तर्कपूर्ण विचारों में अवरोध पैदा करता है जीवन को पतन की ओर ले जाता है और मनुष्य को स्वार्थी बना देता है। आज भी लोकप्रिय प्रचलित धर्म में ओझा स्त्री-पुरुष हैं मन्त्र-तन्त्र से रोगों की चिकित्सा है जादू-टोने हैं भूत-प्रेत हैं और पुजारियों के मिथ्या पाखण्ड हैं। आज भी भारी संख्या में लोग धर्म के नाम पर अन्धविश्वासों से घिरे हुए हैं और उन धर्म-पुजारियों में विश्वास रखते हैं जो इस बात का दावा करते हैं कि मृत्यु के बाद मनुष्य का क्या होगा है ईश्वर और उसके अनुयायियों का मन रख लेना है। आसमान में सितारे जड़े रहते हैं और ऊपर कहीं स्वर्ग रचा गया है और मनुष्य के भाग्य एवं

नियति पर उनका क्या प्रभाव है ? यदि 'मानव की मूर्खता का इतिहास' के नाम से मानव-जाति का इतिहास लिखा जाए तो वह बड़ा दिलचस्प और जानकारी से भरा होगा, जिसमें यह स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार उस जमाने में जबकि हमने अपने कामों का विवरण लिखना प्रारम्भ किया, हमारे धार्मिक, परीक्षण और साहसिक कृत्यों का इतिहास, एक के बाद एक इस या उस भ्रम के फल स्वरूप लड़े गए धर्म-सम्बन्धी युद्धों का वर्णन-मात्र है। अपने-आपके प्रति, अपनी बुद्धि और अन्तःकरण के प्रति हमारी वफादारी का तकाजा है कि हम उन तर्क-वाक्यों को स्वीकार न करें जो हमारे अन्तःकरण और हमारी विवेक-बुद्धि को सन्तुष्ट नहीं कर सकते। हम कितने धार्मिक बन सकते हैं, यह उस बात पर इतना निर्भर नहीं है कि हम विश्वास करने के लिए कितने तैयार हैं, जितना इस बात पर निर्भर है कि हम सन्देह करने के लिए कितने तैयार हैं। हमें बौद्धिक प्राणी के रूप में अपनी प्रतिष्ठा का सम्मान करना चाहिए और इस प्रकार पाखण्ड की शक्ति को कम करना चाहिए। दास होने की अपेक्षा स्वतन्त्र होना, अज्ञानी होने के बजाय ज्ञानी होना बेहतर है। ईश्वर के सम्बन्ध में हम जो गलत शिक्षाएँ दी जाती हैं या हम जो गलत विश्वास करते हैं, उन्हें अस्वीकृत और तिरस्कृत करने में तर्क हमें सहायता देता है। वह हमारे इस गलत विश्वास को कि ईश्वर बुद्धिमान् सफ़र है, या स्वेच्छाचारी निरंकुश शासक है या एक महान् अध्यापक है, खण्ड-खण्ड करने में मदद देता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम धार्मिक विश्वासों को तर्क की कसौटी पर कसें।

११ धार्मिक अनुभव का तर्क

धर्म के सम्बन्ध में मानवीय तर्क ईश्वर के अस्तित्व के सर्वोत्तम प्रमाण नहीं हैं, बल्कि इस विषय में सबसे बड़ी जानी जाती हमें उन महा साक्षात्कार करने वाले पैगम्बरों से प्राप्त होती है जो अपने गम्भीरतम विश्वासों को अपनी खोजों या आविष्कारों के रूप में हमारे सामने नहीं रखते, बल्कि अपनी आत्माओं में ईश्वर की आत्माभिव्यक्ति के रूप में रखते हैं। ईश्वर-सम्बन्धी दार्शनिक तर्क

१ प्रिंसिपल जोवेट ने कहा है : 'मुझे उन [illegible] कठिनाई अनुभव होती है। मैं समझता हूँ, [illegible] कि तुम भी समझते हो, कि इस विषय का ज्ञान इस जीवन में [illegible] बहुत कठिन है, [illegible] असम्भव है। फिर भी मैं उस व्यक्ति को [illegible] समझता हूँ जो इन विषयों पर [illegible] और तब तक उनकी परीक्षा करता नहीं रहता, जब तक कि उसके जीवन के [illegible]

और नैतिक प्रमाण का महत्त्व इसलिए है कि हमारे गम्भीरतम विश्वास हमें अन्तिम यथार्थ सत्ता का विश्वसनीय ज्ञान प्रदान करते हैं। सम्भवतः ईश्वर के सम्बन्ध में यही एकमात्र सम्भव ज्ञान है। ईश्वर के अस्तित्व की प्रामाणिकता किसी बाह्य अथवा आकस्मिक वस्तु पर निर्भर नहीं बल्कि वह हमारे भीतर विद्यमान आत्मा द्वारा अनुभव की जाती है। दार्शनिक युक्ति अनुभव का विवरण है। हमें तब तक कोई प्रत्यय नहीं हो सकते जब तक कि उन वस्तुओं का हमें कुछ अनुभव न हो जिनके वे प्रत्यय हैं। ऐसी अवस्था में प्रत्ययों से उनकी विषय भूत वस्तुओं पर जाना अयुक्तियुक्त नहीं है। हमें पूर्ण यथार्थ सत्ता का कोई प्रत्यय न होता यदि हमारा उसके साथ अव्यवहित सत्तात्मक सम्बन्ध न होता यदि हमें अन्तर्ज्ञान के द्वारा उसकी चेतना न होती। सत्ता का प्रमाण अनुभव पर आधृत है। अन्तिम सत्ता-सम्बन्धी दार्शनिक तर्क को यदि अनुमान पर आधृत तर्क के रूप में माना जाए तो वह दोषपूर्ण होगा। पूर्णतम सत्ता का प्रत्यय और उसके अस्तित्व की अनुभव से पुष्टि अलग-अलग चीजें हैं। दार्शनिक तर्क जो अर्थ अभिव्यक्त करना चाहता है वह यह है कि ईश्वर का प्रत्यय किसी प्रमाण से उपलब्ध नहीं होता वह स्वतःसिद्ध प्रत्यय है। इस विश्वास को बिलकुल युक्तियुक्त तार्किक रूप में प्रकट नहीं किया जा सकता इसीलिए इसमें विचित्रता और अनिश्चितता रहती है। एन्सेल्म का तर्क यह है कि एक पूर्ण सत्ता के प्रत्यय में उस सत्ता का विद्यमान होना अनिवार्य रूप से अन्तर्निहित है। यदि हम पूर्ण सत्ता को एकमात्र प्रत्यय या कल्पना के रूप में ही मानें तो हमारी यह मान्यता आत्म-विरोधी होगी। हमें उस सत्ता को यथार्थ में विद्यमान मानना ही होगा। एन्सेल्म का कहना था कि ईश्वर का सचमुच अस्तित्व है यह सिद्ध करने के लिए यही अकेला तर्क काफी है और उसे किसी अन्य तर्क की आवश्यकता नहीं है।[2]

दो में। हमारा कर्तव्य है कि हम इन दो में से कोई एक कार्य करें। या तो हम इन विषयों के सत्यों को जानें और उन्हें अपने लिए स्वयं खोजें और अगर यह असम्भव हो तो हम मानवीय सिद्धान्तों में से सर्वोत्तम और अकाट्यतम सिद्धान्तों को स्वीकार कर लें और उनके बेड़े पर सवार होकर जीवन की खतरनाक महासागर यात्रा के बीच निकलें पर और तब तक तैरते रहें, जब तक कि कोई अधिक शक्तिशाली जहाज कोई ईश्वरीय सन्देश हमें न मिल जाए, जिस पर हम अधिक सुरक्षितता और निश्चिन्तता के साथ अपनी यात्रा कर सकें। ('ट्रायल एण्ड डेथ आफ सोक्रेटीज' चर्च द्वारा अंग्रेजी अनुवाद (१९११), पृष्ठ १२५ २७)।

२ 'प्रोस्लोगियम' की भूमिका। देखिये वेब: दि इक्सपिरियेन्स ऑफ रिलिजन (१९१६) पृष्ठ ७६।

६ भौतिक वस्तु, जीवन और मन

१ विश्वास और निश्चय

अन्तर्दर्शन उन अनेक तरीकों में से एक है जिनसे विश्वास पैदा होते हैं। किसी वस्तु का विश्वास की अव्यवहित निश्चयात्मकता पैदा करता है उसी के कारण हम उस पर विश्वास करते हैं। प्रायः हम दूसरों के साक्ष्य पर विश्वास करते हैं और इस प्रकार का साक्ष्य अन्ततः व्यक्तिगत विश्वास का परिणाम होता है। हम किसी खास बात पर विश्वास तब करते हैं जब हम अन्य क्षेत्रों में अपनी जानी वस्तु के साथ उसकी संगति देखते हैं या जब उस विश्वास की मान्यता से उत्पन्न परिणाम हमारे विश्वास का औचित्य सिद्ध करते हैं। 'यदि कोई व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करेगा तो वह मेरे सिद्धान्त का ज्ञान सकेगा चाहे वह ईश्वर के सम्बन्ध में हो और चाहे मैं अपनी ही बात कह रहा होऊँ।' यदि विश्वास मन के क्षेत्र में कार्यरत हो या ज्ञान के क्षेत्र में, जीवन के क्षेत्र में हो या व्यवहार के क्षेत्र में, तो वह सच्चा होता है, अन्यथा वह मिथ्या होता है। हम पूर्णतः तार्किक निश्चय पर तब पहुँचते हैं जबकि जिसे हम सच समझते हैं उसका दूसरे भी समर्थन कर दें या जबकि वह ज्ञान के साथ संगत हो और जीवन में व्यवहार्य हो। धार्मिक अन्तर्ज्ञान के लिए भी यह आवश्यक है कि ब्रह्माण्ड के वैज्ञानिक विवरण के साथ उसकी संगति हो।

२ विज्ञान और दर्शन :

किन्तु विज्ञान और दर्शन में एक अन्तर है। उनके प्रेरक तत्त्व और विधियाँ अलग अलग हैं। विज्ञान अनुभव के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करता है और दर्शन समग्र रूप से अनुभव के अर्थ और उसके परिणामों की व्याख्या करता है। दर्शन के दो पक्ष होते हैं—एक व्याख्यात्मक और दूसरा रचनात्मक

एक दार्शनिक और दूसरा आनुभविक। किन्तु विज्ञान विशुद्ध रूप से वर्णनात्मक होता है। यदि विज्ञान किसी तथ्य के वर्गीकरण द्वारा उसका रूप निश्चित कर दे, यदि वह यह बता दे कि अमुक पौधा किस जाति का है, यदि वह यह स्पष्ट कर दे कि वह तथ्य या वस्तु विकास के किस चरण में है, यदि वह किसी अर्थपात्मक घटना के बारे में यह बता सके कि वह किन परिस्थितियों का परिणाम है, जैसे कि वह ध्वनि को तरंगों का कारण बताता है, या यदि वह कुछ घटनाओं को सुविज्ञात नियमों के अन्तर्गत ले आए, जैसे कि न्यूटन ने कैपलर की खोजों की गुरुत्वाकर्षण के नियम के अन्तर्गत व्याख्या की थी, तो उसकी तसल्ली हो जाती है। विज्ञान जो कुछ घटित होता है उसका सामान्य इतिहास हमें बताता है। वह यह प्रश्न नहीं उठाता कि वस्तुएँ जिस रूप में हैं उस रूप में उनके होने का कारण क्या है। इसके अलावा भौतिक वस्तु, जीवन, चेतना और मूल्य, अनुभव के ऐसे तथ्य हैं जिन्हें विज्ञान उनकी अमूर्त वियोजित (पृथक) अवस्था में अध्ययन करता है, जबकि दर्शन के लिए ये सब तथ्य परस्पर-सम्बद्ध हैं, उसी तरह जैसे कि ये मानवीय व्यक्तित्व में परस्पर-सम्बद्ध रूप में विद्यमान हैं। हम एक हैं, इसलिए विश्व भी एक है। दर्शन जिस अनुभव का अध्ययन करता है वह मूर्त और पूर्ण है, जबकि विज्ञान की विषय-वस्तु अमूर्त और आंशिक होती है। दर्शन किसी ऐसी वस्तु को प्रकट नहीं करता जो पूर्णतः अनुभव के परे हो, किन्तु वह स्वयं अनुभव के क्रम और सत्ता को हमारे सामने पेश करता है।

१ वैज्ञानिक ज्ञान की सीमाएँ

वैज्ञानिक ज्ञान की सीमाओं को जानना आवश्यक है। वह हमें उस संसार के, जिसमें हम रहते हैं, मात्रा और परिमाण के माप देता है। वह इस दर्शन के आधार पर चलता है कि 'कोई भी वस्तु केवल मात्रा या परिमाण के रूप में अथवा मात्रा या परिमाण के द्वारा ही पूर्णतः जानी जा सकती है। विज्ञान उन प्रक्रियाओं में ही ठीक बैठता है जो दोहराई जा सकती हैं या उन प्रणालियों में ही वह सफल होता है जिनका पुनर्वर्तन या उत्पादन किया जा सकता है। प्रकृति का नियम है कि 'हर वस्तु जो कुछ है, वही (अद्वितीय) है और कुछ नहीं है।' विज्ञान का नियम है कि हर वस्तु एक विशिष्ट वर्ग का उदाहरण है।

इसके अतिरिक्त विज्ञान द्वारा अध्ययन किये गए विषयों का चुनाव अनुभव में किया जाता है। प्रत्यक्ष अनुभव की इस सामग्री का अध्ययन इस ढंग

में किया जाता है मानो वह प्रत्यक्ष अनुभव की दुनिया से बिलकुल अलग हो। उदाहरण के लिए, भौतिक विज्ञान का यह विश्वास है कि घटनाएँ सार्वभौम प्रेरणों की मात्रा से या विशेष रूप अभिप्राय करती हैं, उनकी भौतिक विज्ञान की दृष्टि से निर्धारित संरचना में कोई संगति नहीं है। विज्ञान में हम अध्ययन के लिए घटनाओं के कुछ खास पहलू चुन लेते हैं। उदाहरण के लिए, मनुष्य का विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन करने के लिए या तो हम उसे कुछ निश्चित स्तर और लम्बाई चौड़ाई वाली एक भौतिक रासायनिक सत्ता मान लेते हैं या मानव जाति की एक जीव वैज्ञानिक इकाई या मनोवैज्ञानिक नैतिक अथवा धार्मिक सत्ता। विज्ञान के अध्ययन की विषय-वस्तु यथार्थ से तैयार किये गए अमूर्तकरण हैं ठोस वस्तु से तैयार किए गए स्थूल रेखाचित्र हैं। विज्ञान अनुभव के कुछ खास पहलुओं का काफी सफल प्रतिपादन होता है और कुछ विशिष्ट प्रयोजनों के लिए वह उपयोगी भी होता है। किन्तु जो उपयोगी है वह सत्य भी होगा यह आवश्यक नहीं है। यह बात अब स्वीकार की जाने लगी है कि विज्ञान में हमें कुछ वस्तुओं की मात्रा और परिमाण के साथ संकेत और प्रतीक मिलते हैं। विज्ञान के नियम हमारे सामने जीवन का सम्भावित परिणाम ही प्रस्तुत करते हैं अर्थात् अमुक-अमुक परिस्थितियों में अमुक-अमुक घटनाएँ घटित होंगी। ये नियम उस क्रिया के बारे में कोई राय नहीं देते जिससे कि उक्त घटनाएँ घटती हैं। विज्ञान ब्रह्माण्ड की अन्तिम संरचना को नहीं जानता। हो सकता है कि विज्ञान उसे जिस रूप में समझता है, वह उससे बहुत भिन्न हो। न्यूटन ने संसार की एक यन्त्र के रूप में जो कल्पना की थी और आइन्स्टाइन ने उसकी जैसी कल्पना की वह एक आदर्श तस्वीर है एक मनःकल्पनात्मक नमूना है किन्तु इन संकल्पनाओं की व्यावहारिक सफलता इस बात की गारन्टी नहीं है कि वे उसकी वास्तविक संरचना का सही प्रतिपादन हैं। हम बेतार यन्त्र को उसकी वास्तविक संरचना को जाने बिना भी इस्तेमाल कर सकते हैं।

विचार में यह प्रवृत्ति रही गई है कि वह नवीन तथ्यों का विरोध करता व सापेक्षिक प्राक्कल्पनाओं को अन्तिम सत्यों में परिणत करने का प्रयत्न करता है। वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं की सफलता की परीक्षा के लिए उनके परिणामों को ऐसी घटना में लागू करके देखा जाता है जिससे उनका उद्गम नहीं हुआ होता। यदि कोई सिद्धान्त जो एक सीमित क्षेत्र में निकाला जाता है कुछ नई घटनाओं और नए क्षेत्रों में भी सफल पाया जाता है तो उस सिद्धान्त की

प्रामाणिकता अधिक प्रमाणोत्पादक रूप से सिद्ध हो जाती है। सामान्यीकरण की यह प्रवृत्ति बहुत सावधानी से नियन्त्रित की जानी चाहिए। भौतिक विज्ञान जिन मनोहीन वस्तुओं का अध्ययन करता है उनके बारे में जो बातें सही हैं वे मानव प्राणियों के बारे में सही नहीं हैं। यदि विज्ञान तथ्यों को ऐसे सिद्धान्तों में जबरदस्ती बैठाने का आग्रह करे जो उनके साथ अनुकूल नहीं हैं तो वह अन्धविश्वास बन जाता है। भौतिक विज्ञान या जीव-विज्ञान का कोई सिद्धान्त प्रकृति का दर्शन (फिलॉसफी) नहीं है। जब हम यथार्थ की वैज्ञानिक दृष्टि पर आते हैं तो हमें यह याद रखना चाहिए कि विज्ञान की पद्धति आगमनात्मक है, उसकी विषय-वस्तु अत्यन्त अमूर्त होती है, वह निरन्तर सांख्यिकी की प्रक्रियाओं का उपयोग करती है और व्यावहारिक उपयोगों के लिए अनिवार्य बौद्धिक विश्लेषण का आश्रय लेती है।

४ संसार

हिन्दू विचारधारा का सम्बन्ध आम तौर पर इस सिद्धान्त से रहता है कि यह दुनिया एक 'संसार' है, घटनाओं की एक अन्तहीन शृंखला है, अनवरत प्रवाह है। 'काल चक्र', 'जन्म-मरण का चक्र', 'सदा प्रवहमान धारा' अथवा 'संसार' 'प्रवाह' और 'जगत्' आदि शब्द दुनिया की असारता और अस्थिरता को प्रकट करने के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं। संसार में जो कुछ है परिवर्तनशील है। हर वास्तविक वस्तु अनित्य और निरन्तर परिणामी है और तत्त्वतः परिवर्तन धर्मी है। कोई भी आनुभविक वस्तु नित्य नहीं है। समस्त जीवन निरन्तर नया-नया जन्म ले रहा है और जन्म लेने वाली हर वस्तु का मरण निश्चित और अनिवार्य है। जो पैदा होता है वह मरता है और मरकर फिर जन्म लेता है। दुनिया 'जगत्' अर्थात् गतिमान है और यदि गति रुक जाए तो वह नष्ट हो जाएगी। संसार की गति का ज्ञान भ्रम नहीं है, भ्रम स्थिरता का ज्ञान है। बौद्ध धर्म ने संसार की यह संकल्पना हिन्दू विचारधारा से ली और इसी को आधार बनाकर उसने अपनी समस्त विचार प्रणाली की रचना की। उसकी दृष्टि में सत्ता केवल एक प्रक्रिया है, जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म का क्रम-लगा है चलने वाला क्रम है। 'प्रतीत्य समुत्पाद' का सिद्धान्त यह सिद्ध करता है कि यह विश्व नित्य नहीं है बल्कि अनित्य और अपने कारण पर निर्भर है। यह हेतु प्रत्ययापेक्ष अर्थात् कारणों पर आश्रित है। छोटी से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी

दोनों प्रकार की वस्तुएँ अनित्य और क्षणिक हैं। हिन्दू और बौद्ध दोनों की दृष्टि में विश्व की क्षणिकता वैज्ञानिक सत्य की अपेक्षा आनुमानिक संकल्पना अधिक है कम-से-कम भौतिक जगत् के सम्बन्ध में ऐसा ही है।

यदि संसार एक प्रक्रिया-मात्र है तो उसका दैशिक विभाजन नहीं किया जा सकता कालिक विभाजन किया जा सकता है। संसार म जो कुछ हम देखते हैं वह सत्ता के क्षेत्र नहीं क्रिया के कलाप हैं। प्रकृति की प्रक्रिया एक अखण्ड और अनवरत है वह निश्चित गुणों वाली स्थितिशील सत्ताओं की एक अनवरत शृंखला नहीं है। यथार्थ सत्ता के कोई निश्चित विभाजन और खण्ड नहीं हैं।

४ भौतिक वस्तु (मैटर)

अनुभव के सम्बन्ध में व्यवहार का सबसे स्पष्ट तरीका यही है कि उन घटनाओं का जगत् समझा जाए। इन घटनाओं म से भौतिक घटनाएँ तो स्वतन्त्र होती हैं उनके अस्तित्व का सम्बन्ध किसी ज्ञाता मन के साथ नहीं है। ब्रह्माण्ड के विकास की प्रारम्भिक मंजिलों में किसी ऐसे ज्ञाता मन का अस्तित्व नहीं था जो भौतिक जगत् को जानता या उसकी प्रकृति पर विमर्श करता। यदि विश्व-संसार है यति-मय है, तो हमें भौतिक प्रकृति म भी संक्रमण परिवर्तन और वर्गीकरण दृष्टिगोचर होना चाहिए।

यद्यपि मानसिक जगत् के सम्बन्ध में यह स्वीकार किया जाता था कि वह एक अनवरत गति है, मानसिक जगत् की घटनाएँ एक के बाद एक होती रहती हैं और जीवन के जगत् की गतिशीलता के सम्बन्ध म भी कुछ अधिक सन्देह प्रकट नहीं किया गया था किन्तु वस्तु (भौतिक पदार्थ) के सम्बन्ध में यह समझा जाता था कि वह अपरिवर्तनशील है। भौतिक वस्तु के सम्बन्ध म सामान्य संकल्पना यह थी कि वह एक स्थायी द्रव्य है जो समान रूप से प्रवहमान काल में एक स्थिति शील ढंग के बीच म गति करता है। पुराने परमाणु सिद्धान्त के अनुसार वस्तु परमाणुओं या छोटे-छोटे कणों की बनी हुई है जिनका और अधिक विभाजन नहीं किया जा सकता। भौतिक वस्तुएँ परमाणुओं या अविभाज्य कणों के विविध प्रकार के मेल हैं। भौतिक वस्तुओं में परिवर्तनों का कारण उनके परमाणुओं के क्रम और व्यवस्था में परिवर्तन है उनकी आन्तरिक रचना में परिवर्तन नहीं क्योंकि परमाणुओं का स्वरूप अपरिवर्तनीय माना जाता था।

किन्तु भौतिक विज्ञान में हाल में जो नये अनुसन्धान हुए हैं उन्होंने ठोस

परमाणु को भी खण्डनीय सिद्ध कर दिया है। जे० जे० थामसन ने परमाणुओं को और भी सूक्ष्म कणों में विभाजित किया और यह सिद्ध किया कि ये कण भी वैद्युतिक इकाइयाँ हैं और उनका द्रव्यमान (मास) विद्युच्चुम्बकीय गति का सिर्फ एक कारक है। रदरफोर्ड ने यह स्पष्ट किया कि रेडियमधर्मिता का कारण परमाणु का विघटन है। रेडियमधर्मिता का सम्बन्ध एक तत्त्व के दूसरे तत्त्व में परिवर्तन से भी है। यदि परमाणु को अपरिवर्तनशील मान लिया जाए तो इस बात की संगति कभी नहीं बिठाई जा सकती। रदरफोर्ड ने परमाणु को जिस रूप में चित्रित किया है उसमें मध्य में एक धनात्मक नाभि (न्यूक्लियस) है और उसके चारों ओर ऋणात्मक इलेक्ट्रान चक्कर काटते हैं। भौतिक वस्तु अब पहले की तरह सघन वस्तु नहीं रही अब वह एक खुली हुई संरचना मानी जाती है जिसके बीच में खाली जगह होती है और वैद्युतिक आवेश (चार्ज) एक-दूसरे से बंधे हुए नहीं बिखरे हुए रहते हैं। प्रत्येक परमाणु एक संरचना है जो विभिन्न आकारों में संकीर्ण इलेक्ट्रानों और प्रोटानों से बनी होती है।[1] किसी भी तत्त्व के रासायनिक गुण उसमें चक्राकार गति करने वाले इलेक्ट्रानों की संख्या पर निर्भर हैं और इसी से तत्त्वों की तालिका में तत्त्वों की परमाणविक क्रम की संख्या निर्धारित होती है। प्रोटान और इलेक्ट्रान स्वयं विकिरण या तरंग-समूहों के केन्द्र हैं। यह विकिरण और तरंग-समूहों का निकलना एक ऐसी घटना है जो केन्द्र से बाहर की ओर प्रवाहित होती है। वास्तव में इलेक्ट्रान जो वस्तु का अन्तिम घटक है विकिरणों के एक समूह का अवलम्बित केन्द्र है। हम उसे पहचान नहीं सकते, पहचान हम सिर्फ विकिरणों के समूह को ही सकते हैं। तत्त्व के केन्द्र (नाभि) में क्या वस्तु विद्यमान है और तरंगों को ले जाने वाला माध्यम कौनसा है बशर्ते कि कोई माध्यम माना जाए, इस सम्बन्ध में हम अभी कुछ भी नहीं जानते। इलेक्ट्रान केवल तरंगों के आधार प्रतीत होते हैं। यदि हम यह मान लें कि वे केवल संघटित विकिरण समूह ही नहीं हैं उससे कुछ भी अधिक चीज हैं तो यह केवल हमारी कल्पना होगी। इलेक्ट्रान एक ऐसा स्थान है जिससे ऊर्जा का विकिरण होता है। बोर के मतानुसार यह एक छोटा-सा चक्राकार कण है 'विद्युत का एक अनिश्चित आवेश है।' एडिंग्टन ने इसे 'कोई ऐसी वस्तु कहा है जिसका अनिर्णीत परिमाण किया जा सकता है। यह वस्तु कार्य करती है किन्तु क्यों करती है यह

[1] यहां जिस परमाणु सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है उसमें बाद के अनुसन्धानों से कुछ संशोधन हो गया है। (अनुवादक)

ज्ञात नहीं है।

यदि इलैक्ट्रान परमाणु के केन्द्र (न्यूक्लियस) के चारों ओर घूमते हैं, जैसे ग्रह सूर्य के इर्द-गिर्द घूमते हैं, तो उनसे सभी तरंगायामों (वेव लेंग्थ) की किरणें निकलनी चाहिएँ और तरंगायाम जितना छोटा हो उसकी ऊर्जा उतनी ही अधिक होनी चाहिए। किन्तु क्योंकि ऐसा होता नहीं है, इसलिए मैक्स प्लैंक का कहना है कि विकिरण होता तो है किन्तु वह ससीम पैकेटों या निश्चित क्वाण्टमों में अभिमोचित हो जाता है। परमाणु जब ऊर्जा का विकिरण या अभिशोषण करता है उस समय उसके क्वाण्टम म होने वाले परिवर्तन असतत होते हैं।[1] इलैक्ट्रान अभी एक जगह होता है और उसके बाद फिर दूसरी जगह चला जाता है और उसकी यह गति अन्य अन्तर्वाहित इलैक्ट्रानों को लाँघे बिना होती है। यह एक निश्चित कक्षा से दूसरी कक्षा में कूद जाता है और उसकी यह प्लुति नियमित किन्तु असतत रूप से होती है। इस समय भौतिक वैज्ञानिकों को कुछ कामों के लिए क्वाण्टम के सिद्धान्तों को और कुछ अन्य प्रयोजनों के लिए पुराने तरंग-गति के सिद्धान्त को काम में लाना पड़ता है हालाँकि दोनों का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है। क्वाण्टम सिद्धान्त प्रकाश के वर्ण क्रम में विघटन की कोई व्याख्या नहीं कर सकता जबकि पुराना तरंग-गति सिद्धान्त कर सकता था।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि परमाणु का आकार कैसा है इसका भौतिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। परमाणु को एक असीम ढाँचे में समवर्ग सम्भावों की त्रिगुणित असीम संख्या मानना शायद अधिक सही है और परमाणु के सम्बन्ध में जो कुछ हम जानते हैं वह इस ढाँचे में ही निहित है। ठीक-ठीक कहा जाए तो हमारे लिए वे समीकरण ही पर्याप्त हैं जो प्रेक्षणीय प्रपंचात्मक घटनाओं के आपसी सम्बन्धों को प्रकट करते हैं किन्तु साथ ही यह बात भी है

[illegible] विचार का [illegible] नहीं करते। देखिए रसेल [illegible] (१९२७) [illegible]

१ [illegible] के प्रथम [illegible] मैक्स प्लैंक [illegible] 'भौतिक शास्त्र के कुछ [illegible] में [illegible] जिनसे पुराना सिद्धान्त [illegible] सिद्ध [illegible] कि [illegible] [illegible] दूसरा [illegible] सिद्धान्त [illegible] सिद्ध हुआ है। (मैक्स प्लैंक [illegible] फिलिप्स [illegible] अनुवाद [illegible] (१९२५) देखिए [illegible]

कि हम इन समीकरणों के बारे में कुछ अधिक नहीं जानते।

वस्तु ऊर्जा-इकाइयों की एक संरचना है जो देश-काल में अपरिमित वेगों के साथ चक्राकार घूम रही हैं और परमाणु में विद्यमान इन इकाइयों की संख्या और क्रम में परिवर्तन के कारण ही विभिन्न तत्त्व बनते हैं। इस संख्या और क्रम में परिवर्तन किया जा सकता है इसलिए एक तत्त्व का दूसरे में रूपान्तरण भी सम्भव है जैसा कि रेडियमधर्मिता में हम देखते हैं। तत्त्वों का परमाणु भार और उनकी संख्या का सम्बन्ध परमाणुओं में विद्यमान इन ऊर्जा-इकाइयों की संख्या और उनके रचना-सम्बन्धी क्रम के साथ है। वस्तु ऊर्जा या क्रिया का ही एक रूप है। भौतिक वस्तुएँ प्रतिक्षण घटती घटनाएँ हैं। वे स्वतः पूर्ण अपरिवर्तनीय नित्य सत्ताएँ हैं बल्कि सतत गतिशील बिन्दु हैं। प्रकृति घटनाओं की एक जटिल संरचना है प्रक्रियाओं का एक ढाँचा है। घटनाएँ मूर्त सत्ता का कारण हैं। वे काल से व्यतिरिक्त देश में अवस्थित नहीं हैं बल्कि देश-काल में अवस्थित हैं और उनमें देश और काल के सम्बन्ध हर समय इतने सतत रूप से बदलते रहते हैं कि यह ब्रह्माण्ड अनन्त रूप में बदलती देश-काल प्रणालियों का एक समूह बन गया है। देश कोई ऐसा खाना नहीं है जिसमें वस्तु के ठोस खण्ड इधर-उधर घूमते रहते हैं और न ही भौतिक वस्तु एक ऐसी वस्तु है जो देश में स्थापित है और काल में भी स्थायी है। स्थायी वस्तु से भिन्न ब्रह्माण्डीय देश या ब्रह्माण्डीय काल जैसी कोई वस्तु नहीं है। देश काल और वस्तु मूल तथ्य से जो घटनाओं का एक समूह है निष्कर्षित किये गए अमूर्तरूप हैं। वे तीनों एक पूर्ण वास्तविकता के रूप में इकट्ठे रहते हैं। आइन्स्टाइन के अनुसार घटनाएँ एक पूर्ण-निरपेक्ष चतुर्विमितीय (फोर-डाइमेंशनल) सातत्य में अवस्थित तथ्य हैं और इस तथ्य की रेखागणितीय संरचना ही उसका आन्तरिक स्वरूप है। आइन्स्टाइन ने इस सातत्य को 'सान्त किन्तु असीम' माना है।

स्थायी देश और ब्रह्माण्डीय काल इन दो पृथक वस्तुओं के स्थान पर देश काल (स्पेस-टाइम) को रख देने में ही सापेक्षता का सिद्धान्त निकला है। सापेक्षता के सिद्धान्त के आविष्कार से पूर्व भौतिक विज्ञान यह मानता था कि यदि दो घटनाएँ अलग अलग स्थानों पर घटती हैं तो उनके एक ही समय में घटने की व्याख्या सहज में की जा सकती है। किन्तु अब यह माना जाता है कि हर घटना का अपना अलग समय बन जाता है और एक घटना का दूसरी के साथ सम्बन्ध जोड़ना कठिन है क्योंकि कोई एक सर्वसामान्य निश्चित समय (कॉमन

स्टैंडर्ड टाइम) नहीं है। जब तक हम प्रेक्षक और प्रेक्षणीय वस्तु की सापेक्ष गतियों को दृष्टि में न रखें तब तक सही माप नहीं किए जा सकते। माप की कोई एक नियत इकाई न तो है और न हो सकती है। किसी वस्तु का स्वरूप क्या है यह केवल उसकी प्रकृति पर ही नहीं वरन् प्रक्षणीय वस्तु के साथ प्रेक्षक के सम्बन्ध की प्रकृति पर भी निर्भर है। दूरियाँ लम्बाइयाँ और आयतन-सम्बन्ध विशिष्ट ढाँचे के साथ सापेक्ष होते हैं। सापेक्षता का सिद्धान्त रेडियमधर्मी परमाणु से लेकर अन्तरिक्ष में विद्यमान नक्षत्रों तक सभी वस्तुओं पर लागू होता है।

घटनाओं के दो पहलुओं—आकारिक और वस्तु-सम्बन्धी—में हम भेद कर सकते हैं। देश-काल का सम्बन्ध आकारिक पहलू से है। हर घटना की चाहे वह कैसी भी हो एक निश्चित अवस्थिति होती है, एक नियत दैशिक-कालिक स्वरूप होता है। वह सीमित होती है असीम और निरपेक्ष नहीं वह अस्थायी होती है नित्य नहीं। हर घटना ससीम और परिवर्तनशील होती है और देश एवं काल ससीमता और परिवर्तनशीलता की स्वाभाविक उपाधि हैं। देश-काल एक यथार्थ समकालीय संरचना नहीं है बल्कि वह यथार्थता का एक अभिन्न पहलू है। वह कोई ऐसा रंगमंच नहीं है जिस पर विभिन्न वस्तुएँ अपना नृत्य प्रदर्शित करती हैं बल्कि वह कुछ नियमों और पद्धतियों का समूह है जिनमें कि गतिशील घटनाओं के ब्रह्माण्ड के भीतर कुछ व्यापकतम आकार और सम्बन्ध व्यक्त किए जाते हैं। देश-काल के साथ सम्बन्ध और सापेक्षता समस्त प्रकृति पर लागू होती है और उसे ऐक्य प्रदान करती है। सम्बद्धता और सापेक्षता अपने-आपमें कोई तथ्य नहीं हैं इसलिए प्रकृति के अन्तिम तथ्य की कल्पना एक प्रक्रिया के रूप में एक काल-परिवर्तन के रूप में जो एकाकी है बहुसाक्षीय नहीं की जाती है। 'घटना' (ईवेंट) शब्द इस प्रक्रिया के हिस्सों या पहलुओं के लिए प्रयोग में लाया जाता है। प्रकृति तत्त्वतः एक अविश्लेष्य और अविच्छिन्न परिवर्तन शृंखला है जिसमें कुछ आकारिक गुण जिन्हें हम देश-काल कहते हैं और कुछ भौतिक गुण जिन्हें हम वस्तु या जीवन आदि के नामों से पुकारते हैं परस्पर एक-दूसरे के साथ और

एक मकान पर विद्यमान प्रेक्षक द्वारा नापी गई दूरी जितनी रहती है दूसरे मकान पर विद्यमान प्रेक्षक द्वारा नापी गई दूरी भी, चाहे वह पहले मकान के प्रेक्षक की अपेक्षा से कुछ भिन्न हो, उतनी ही सही है। हम दोनों मकानों के बीच कोई को व्याख्या नहीं कर सकते। प्रत्येक एक दूरी एक ढाँचे की अपेक्षा से है और दूसरी दूसरे की अपेक्षा से। किसी ऐसी पूर्ण निरपेक्ष दूरी की कल्पना करना, जो किसी भी ढाँचे के साथ सापेक्ष न हो, निरर्थक है। (एडिंग्टन: दि नेचर ऑफ दि फिजिकल वर्ल्ड (१९२९), पृष्ठ ११)।

साथ ही समय के साथ उनके सम्बन्धों में अवस्थित होते हैं।

गणितीय विज्ञान घटनाओं के आकारिक पहलू का अध्ययन करते हैं। उनका अध्ययन प्रारम्भिक अमूर्त रूपों का अध्ययन होता है और उनका तर्क आकारिक और कल्पनाओं का होता है। शुद्ध गणितशास्त्र देश-काल की परिस्थितियों से भी अमूर्तीकरण करता है और क्रम एवं संरचना की शुद्ध संकल्पनाओं पर उनके अमूर्ततम सम्भव आकार में विचार करता है। इकाइयाँ सत्त्वरहित होती हैं और उनकी वास्तविक प्रकृति में जरा भी हस्तक्षेप किये बिना उनको हिलाया डुलाया जा सकता है। इस प्रकार गणित एक आकारी विज्ञान है।

यह भौतिक विज्ञान की अपेक्षा तर्कशास्त्र के अधिक निकट है। यूक्लिडेतर रेखागणित, बीजगणित और अंकगणित की ज्ञात समूहों के सिद्धान्त और प्रक्षेपीय रेखागणित आदि परागणितिक विषयों का अनुसन्धान गणित के शुद्ध आकारिक रूप को सिद्ध करते हैं। व्हाइटहेड का कहना है कि 'गणित अपने व्यापकतम रूप में सभी प्रकार के आकारिक, आवश्यक और निगमनात्मक तर्क का विकास है।'[1] यह विचार काण्ट के इस विश्वास से मेल नहीं खाता कि गणित के सिद्धान्त संश्लेषणात्मक हैं, जबकि तर्कशास्त्र के सिद्धान्त आकारिक और विश्लेषणात्मक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सम्बन्ध में शुद्ध और प्रयुक्त गणितशास्त्र में कुछ विभ्रम हो गया है। काण्ट विशुद्ध तार्किक अन्तर्ज्ञानों की सम्भावना को स्वीकार नहीं करता, इसलिए उसने देश और काल के आगनुभव अन्तर्ज्ञानों की, जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष जगत् से है, सम्भावना प्रकट की है। रसैल और व्हाइटहेड ने अपनी पुस्तक 'प्रिन्सिपिया मैथमैटिका' में यह मत प्रकट किया है कि इस तर्क-वाक्य का कि सात और पाँच का योग बारह होता है (७ + ५ = १२) प्रमाण वैसा ही विशुद्ध तार्किक है जैसे कि अन्य तार्किक प्रमाण। यह ठीक है कि हममें से बहुत से लोग गणित की विधियों को प्रतीकों और रेखाचित्रों के बिना नहीं समझ सकते, तथापि ये प्रतीक और रेखाचित्र विधियों के अंग नहीं हैं। गणित का स्वरूप वैसा ही नहीं माना जा सकता जैसा कि भौतिक शास्त्र का है।

कुछ लोग ऐसे हैं जिनका विश्वास यह है कि देश-काल अनुभव से निकृष्ट आकारिक अमूर्तीकरण नहीं है, बल्कि वह घटना-घटन का एक अत्यन्त प्राथमिक तथ्य है। एडिंग्टन का यह मत प्रतीत होता है कि वस्तु को मात्र देश-काल सम्बन्धों से परिभाषित किया जा सकता है, उसके बाद देश-काल-सम्बन्धों के

[1] 'यूनिवर्सल एल्जब्रा', खण्ड १।

अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रहेगा।[1] उनकी राय में देश-काल ही अन्तिम तथ्य है और उसी के द्वारा अन्य सब वस्तुओं की व्याख्या की जा सकती है। प्रकृति में अन्तिम वस्तु जो कुछ भी है वह भौतिक नहीं तार्किक या गणितीय है। यथार्थ जो प्रेक्षक से अलग और स्वतन्त्र है घटनाओं की ऐसी शृंखला नहीं है, जो इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य हो बल्कि वह सम्बन्धों की एक प्रणाली है जो केवल विचार द्वारा संकल्पित ही की जा सकती है। यथार्थ का मूल नित्य और अपरिवर्तनीय गणितीय सम्बन्ध है। द्रव्य और बल विशुद्ध मनोवैज्ञानिक आभास हैं जो उनके उपाधिभूत नित्य-सम्बन्धों और प्रेक्षक की पारस्परिक क्रिया के परिणाम हैं। इस प्रकार वस्तु (मैटर) विचार में परिणत हो जाती है और भौतिक विज्ञान गणितशास्त्र में।

अलेग्जण्डर की दृष्टि में देश-काल ही अन्तिम यथार्थता है और उसीसे देश और काल के अमूर्तकरण किये जाते हैं। देश-काल एक प्रकार की ब्रह्माण्ड व्यापी गति है और मूर्त वस्तुएँ इस ब्रह्माण्डीय प्रणाली के भीतर ही गति के निर्मीहित सम्मिश्र हैं। देश-काल में अस्तित्व पूर्ण व्यापिता और क्रम-व्यवस्था आदि कुछ व्यापक या निरुपाधिक गुण हैं जो सभी वस्तुओं में पाए जाते हैं। अन्य आनुभविक गुण जो विभिन्न वर्गों की वस्तुओं में भेद करते हैं विशिष्ट परिस्थितियों में ही पैदा होते हैं। अलेग्जण्डर के अनुसार, देश-काल स्वतः ही बिन्दु क्षणों की अनन्त सह-स्थितियों में बँट जाता है। इन सह-स्थितियों में से सरलतम सह स्थितियाँ विभिन्न वेगों वाली गतियाँ और गतियों की इयत्ता (व्याप्ति) हैं। ये सह-स्थितियाँ कुछ खास आकृतियाँ बनाती हैं तब वस्तुत्व का गुण पैदा होता है। और जब उनमें कुछ अन्य परिस्थितियों या उपाधियों का भी समावेश हो जाता है तो रंग आदि पैदा होते हैं।

भौतिक अनुभव और गणितीय समीकरण का ज्ञान दोनों एक-जैसे नहीं हैं। रंग या प्रकाश का प्रत्यक्ष अनुभव किसी गणितीय साम्य के ज्ञान के समान नहीं है। देश-काल-सम्बद्धता का घटनाओं से अलग अस्तित्व सम्भव नहीं है। आनुभविक ग्राह्य रूप में भी घटनाएँ केवल दैशिक-कालिक ही नहीं भौतिक भी हैं।

१ स्पेस टाइम एण्ड डेयिटी (१९२१), पृष्ठ ११७।

२ सर जेम्स जीन्स : दि मिस्टीरियस यूनिवर्स। तुलना कीजिए : एक प्राचीन हिन्दू गणित-शास्त्र में भी कहा गया है, 'इस लम्बी विस्तार से व्याख्या करने का क्या लाभ है? तीनों चराचर लोकों में जो कुछ भी है, वह गणित से अलग कुछ भी नहीं रह सकता।'

उनमें देश-काल सम्बद्धता के अलावा कुछ अन्य निश्चित अन्तर्वस्तु भी है। वह विद्युत् की चमक हो सकती है एक सुन्दर वस्तु हो सकती है या कोई भय वस्तु। आनुभविक जगत् में हम संसार की भौतिक घटनाओं को जब अनुभव करते हैं तब हमें प्रतीत होता है कि हम उसके तल तक पहुँच गए हैं। देश-काल सम्बद्धता का गुण तो सभी घटनाओं में पाया जाता है। कारण कोई भी घटना देश-काल के बिना नहीं रह सकती। घटनाएँ स्पष्ट और पृथक् प्रत्यय हैं किन्तु तत्वतः वे अस्तित्व की प्रक्रिया में आन्तरिक तत्त्व हैं और विचार के द्वारा मूर्त क्रिया से निकाले गए अमूर्तीकरण हैं। अन्य सब घटनाओं की भाँति भौतिक घटनाएँ भी केवल देश-काल में ही घटित होती हैं। वे 'यहाँ घटित होती हैं वहाँ नहीं 'अब घटित होती हैं तब' नहीं।

दार्शनिक दृष्टि से इस बात का सबसे अधिक महत्त्व है कि पहले जिस ठोस अविभाज्य वस्तु (परमाणु) को अन्तिम तत्त्व माना जाता था उसका स्थान अब वैद्युतिक प्रभावों (इलेक्ट्रान) ने ले लिया है। वस्तु (मैटर) अब कोई चीज नहीं रही वह अब परस्पर सम्बद्ध घटनाओं की एक प्रणाली या संरचना बन गई है। पुराना विचार यह था कि वस्तु (मैटर) एक स्थायी द्रव्य है जिसमें कुछ गुण हैं जो विभिन्न सम्बन्धों में अवस्थित है और वह कुछ निश्चित कार्य कर रहा है। किन्तु अब उसका स्थान इस विचार ने ले लिया है कि वस्तु कुछ अस्थिर घटनाओं का समूह है। पहले वस्तु को जड़ या क्रियाहीन और जीवन को क्रियाशील वस्तु को प्रत्यावर्त्य (जो लौटाया जा सके) और जीवन को अप्रत्यावर्त्य (जो लौटाया न जा सके) माना जाता था किन्तु यह भेद अब विलुप्त हो गया है। अब वस्तु और जीवन में यह अन्तर नहीं रहा कि इनमें से एक सक्रिय है और दूसरा निष्क्रिय अब दोनों ही दो अलग-अलग किस्म की क्रियाएँ हैं। न्यूटन ने अपने पहले नियम में जिस निष्क्रियता (इनर्शिया) का इतना महत्त्व दिया था वह स्वयं वस्तु की आन्तरिक क्रिया का परिणाम है। वस्तु में जो रेडियम-सक्रियता (विकिरण क्रिया) हम देखते हैं वह जीवन में आत्मिक क्रिया के समान ही है अन्तर सिर्फ यह है कि पहली में प्रतिगति भी हो सकती है जबकि दूसरी में केवल प्रगति ही सम्भव है। रसायनशास्त्र की तत्त्वों की तालिका और वनस्पतिशास्त्र और प्राणिविज्ञान की प्रणालियों—दोनों में हम परिवार जाति उपजाति आदि की व्यवस्थाएँ समान रूप से लागू कर सकते हैं। भौतिक वस्तु और जीवन के

बीच में कोई अनुल्लंघनीय खाई नहीं है। परमाणु अणु, नक्षिन (क्रासोयर) प्रोटोप्लाज्म (जीवाणु) सेल (जीवकोष)—ये सभी एक ही सतत प्रक्रिया के प्रतीत होते हैं। वस्तु सकेन्द्रित सरचनात्मक ऊर्जा है जिससे नये आकार नयी संरचनाएँ और नये टाइप बनाये जा सकते हैं। यह भी उतनी ही सृजनात्मक है जितने कि जीवित जीव या मन। जब परमाणु (एटम) मिलकर एक अणु (मोलीक्यूल) बनाते हैं तो उनका एक नया स्वरूप हो जाता है। उस समग्र पूर्ण के कारण जिसके साथ उनका सम्बन्ध होता है उनमें नये गुण आ जाते हैं जो मिलकर अणु के रूप में आने से पहले उनमें नहीं आ सकते थे।

५. द्रव्य

दर्शन का सारा इतिहास एक अर्थ में द्रव्य की आलोचना कहा जा सकता है। यद्यपि ग्रीक दर्शन का आरम्भ एक ऐसी स्थायी सत्ता की संकल्पना से हुआ था जो भिन्न भिन्न रूपों और आकारों वाली सभी वस्तुओं में विद्यमान है किन्तु बाद में पैथागोरस और हेराक्लिटस ने इससे भिन्न दार्शनिक विचारों को जन्म दिया। उनका मत था कि यथार्थ वस्तु कोई अपरिणामी द्रव्य नहीं है बल्कि कुछ स्थायी गुण ही यथार्थ वस्तु हैं जो सब घटनाओं या उत्पत्तियों में विद्यमान रहते हैं। पैथागोरस के अनुसार वस्तुओं का असली तत्त्व संख्या है। हेराक्लिटस का मत था कि द्रव्य कोई ऐसी चीज नहीं है जो उत्पत्ति या घटना से बाहर हो बल्कि वह एक विश्वव्यापी नियम है जो समस्त उत्पत्ति या घटनाओं में व्याप्त है और उन्हें उनका आकार प्रदान करता है। काण्ट की दृष्टि में द्रव्य अवधारणा की एक संकल्पना है और ह्यूम का कहना है कि वह हमारी आनुभविक आदत और साहचर्य का परिणाम है। यह एक कल्पना है जो एक नियमित क्रम में बहुधा घटित होने वाली घटनाओं को मिलाकर एक प्रत्यय का रूप प्रदान करती है। ऐवेनेरियस और माख द्रव्य का विचार को सरल बनाने वाला एक संकल्पनात्मक साधन मानते हैं। द्रव्य की एकता नाम-मात्र की है। वास्तव में किसी वस्तु की एकता एक कल्पना-मात्र है। जब हम किसी वस्तु के सम्बन्ध में यह कहते हैं कि यह वस्तु यही है तो उसका अभिप्राय सिर्फ यही होता है कि कुछ सम्बन्ध

१ "विज्ञान आज केवल संगठित रचनाओं (आर्गेनिज्म) का अध्ययन है। जीव विज्ञान बड़ी सजीव रचनाओं का अध्ययन है, जबकि भौतिक विज्ञान छोटी संगठित रचनाओं का।" (व्हाइटहेड : साइंस एण्ड द माडर्न वर्ल्ड (१९२६), पृ० १४५)।

स्थिर रूप से विद्यमान हैं। हमारे मनों की रचना इस प्रकार की है कि वे कुछ परस्पर सम्बद्ध परिस्थितियों को एकत्व मान लेते हैं और उन परिस्थितियों को उसका गुण समझते हैं। हम वस्तुओं में भेद उनके गुणों से करते हैं। हम किसी वस्तु को एक ही या वही वस्तु तभी तक मानते हैं जब तक कि उसमें एक ही या वही गुण होते हैं। द्रव्य क्या है इसका सबसे ज्यादा सन्तोषजनक उत्तर लात्से के इस स्मरणीय वाक्य में मिलता है कि कोई वस्तु जो-कुछ करती है वही वह है। जिस ढंग से वह व्यवहार करती है वही उसकी प्रकृति है। लोत्से ने अपने 'मेटाफिज़िक्स' में बताया है कि किस प्रकार एक द्रव्यात्मक यथार्थ सत्ता की जो उसमें विद्यमान गुणों को वस्तु के स्थायित्व और स्थिरता का रूप प्रदान करती है कल्पना निरर्थक है।[1] किसी वस्तु का आन्तरिक तत्त्व और अन्तःसार क्या है यह हम नहीं जानते। हम किसी वस्तु को वास्तविक यथार्थ या एक-जैसी तभी कहते हैं जबकि वह एक खास ढंग से व्यवहार करती है जब वह एक विशिष्ट नियत क्रम में बदलती है। किसी वस्तु की यथार्थता वह नियम है जिसके अनुसार परिवर्तमान घटनाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। वह सूत्र है जो उसके इतिहास को सार रूप में प्रस्तुत करता है वह क्रम है जो उसके व्यवहार को प्रकट करता है। लात्से ने वस्तु के सार-तत्त्व की तुलना एक राग से की है जिसमें एक के बाद एक स्वर एक तारतम्य के नियम का पालन करते हैं। हम किसी वस्तु को द्रव्य तभी कहते हैं जबकि उसके गुण परस्पर समन्वित हों। जब उनके उत्तरोत्तर परिवर्तन एक ऐतिहासिक मार्ग का अनुगमन करें। किसी वस्तु की सत्ता उसकी उत्पत्ति या घटनात्मक रूप है। व्हाइटहेड का कहना है कि किसी भौतिक वस्तु में स्थायी वस्तु 'द्रव्य' नहीं बल्कि आकार है और आकारों के सम्बन्धों का परिवर्तन होता रहता है।[2] देश-काल के सीमित क्षेत्रों में प्रायः ऐसे गुण होते हैं जो न्यूनाधिक स्पष्टता से एक-दूसरे से अलग किये जा सकते हैं और जो दीर्घकाल तक स्थायी बने रहते हैं और यदि उनमें परिवर्तन होता भी है तो व्यवस्थित ढंग से और आहिस्ता-आहिस्ता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि परिवर्तन एक नमूने (टाइप) के अन्तर्गत होते हैं। आधारभूत संरचना में परिवर्तन नहीं होता। 'भौतिक वस्तु' शब्द का अर्थ ऐसे विशिष्ट गुणात्मक देश-काल क्षेत्र ही है। भौतिक जगत् की वस्तुएँ इसी अर्थ में द्रव्य हैं। उनमें हमें कोई ऐसा स्थायी अविच्छिन्न

1 मेंट की अनुवाद भाग १ अध्याय १ १ १४-४२।
2 सोर्सेज ऑफ रिलैटिविटी (१९२१), पृ ४ ।

(सबस्टैंस) नहीं मिलता जो अपने गुणों और सम्बन्धों के परिवर्तन का साहसिक कार्य करे और साथ ही इन परिवर्तनों में स्वयं वैसा का वैसा बना रहे। वास्तव में द्रव्य से हमारा अभिप्राय एक घटनावली होता है।

क्वान्टम सिद्धान्त ने एक स्थायी द्रव्य की संकल्पना को भौतिक विज्ञान की दृष्टि से असंगत बना दिया है। वस्तु वास्तव में एक स्थान या केन्द्र से पड़ने वाले प्रभावों का समूह है और यह स्थान या केन्द्र भी अपने आपमें विशुद्ध प्राक्कल्पना-मात्र है। ठीक-ठीक कहा जाए तो हम सिर्फ घटनाओं का समूह ही देखते हैं जो किसी नाटक के दृश्यों या किसी राग के स्वरों की भाँति एक के बाद एक आते हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो किसी भी क्षण सम्पूर्ण रूप में विद्यमान हो या सारे समय अनुजीवित रहे। यहाँ तक कि एक इलेक्ट्रॉन के बारे में भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह वस्तु का एक ऐसा कण है जो सारे समय एक-जैसा रहता है और एक निश्चित देश-क्षेत्र में अवस्थित है। वस्तु का आत्मैक्य (यह एक या वही है, ऐसा भाव) अपेक्षाकृत दीर्घकाल तक औसत रूप में एक जैसा रहने की प्रक्रिया का परिणाम है। एक इलेक्ट्रॉन भी सांख्यिकी की दृष्टि से अपरिवर्तित तत्त्व है अर्थात् वह औसत रूप में एक-जैसा रहता है। उसकी द्रव्यात्मकता का कारण एक उच्चतर समन्वयकारी शक्ति है क्योंकि कोई भी सतत रूप से रहने वाली वस्तु किसी उच्चतर समन्वयकारी शक्ति का ही परिणाम होती है। किसी वस्तु की एकता का अर्थ उसके इतिहास की एकता होता है। कारण-कार्य सम्बन्ध वस्तु को काफी ऐक्य प्रदान करता है जिससे उस वस्तु को एक पृथक नाम दिया जा सकता है। दुर्भाग्य से एक नाम एक ही वस्तु की ओर संकेत करता है और यदि सम्बद्ध घटनाएँ एक ही स्थान पर घटित नहीं होतीं तो हम कहते हैं कि वह वस्तु वहाँ से दूसरे स्थान पर चली गई है।

यदि वस्तुएँ घटनाओं की शृङ्खलाएँ हैं तो एकता का अर्थ है सम्बद्ध सातत्य। यदि परिवर्तन आहिस्ता-आहिस्ता होते हैं और उनसे वस्तु की तदरूपता नहीं

१ बर्ट्रेण्ड रसेल ने कहा है "यदि द्रव्य और कारण दोनों की अपनी कल्पनाओं को त्यागना होगा। यह कहना कि परमाणु स्थायी है वैसा ही है जैसा कि यह कहना कि एक धुन स्थायी है। यदि एक धुन को बजाने में पाँच मिनट लगते हैं तो हम उसे सारे समय विद्यमान एक ही वस्तु नहीं मानते बल्कि उसे स्वरों की एक शृंखला मानते हैं जो इस ढंग से परस्पर जुड़ी हुई होती है कि उनका आकार एक हो जाता है। धुन की एकता सौन्दर्य-

७ कारण :

कारण की संकल्पना में भी संशोधन की आवश्यकता है। किसी भी विज्ञान की सम्भावना के लिए यह अनिवार्य शर्त है कि हमारे सम्मुख उपस्थित घटनाओं में कुछ वास्तविक सम्बन्ध हों वे सम्बन्ध केवल द्रष्टा की कल्पना-मात्र न हों। काण्ट इसका एक सरल उदाहरण देता है। उसका कहना है कि जब मैं किसी घर को देखता हूँ तो उसके सम्बन्ध में मेरा बोध कहीं भी प्रारम्भ हो सकता है और कहीं भी खत्म। वह ऊपर के सिरे से प्रारम्भ होकर नीचे के तल पर या नीचे के तल से प्रारम्भ होकर ऊपर के सिरे पर समाप्त हो सकता है। किन्तु जब हम धारा में बहते हुए जहाज को देखते है तो उसे अनुभव करने का क्रम निश्चित होता है हम उसे न तो बदल सकते है और न उलट। काण्ट का कहना है कि कारणता का नियम एक संश्लिष्ट प्रागनुभव सिद्धान्त है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि प्रत्यय प्रबल के अव्यवहित अनुभव में उदभ होता है, जिसे हम वस्तुनिष्ठ विज्ञान में व्याख्यात्मक सिद्धान्त के रूप मे इस्तेमाल करते हैं। यदि इच्छात्मक निमित्तता ही कारणता की संकल्पना का आधार है तो निष्प्राण वस्तुओं को निमित्त कारण नहीं माना जा सकता। इसके अलावा इच्छात्मक निमित्तकारणता चाहे हमारे लिए कितनी ही सुपरिचित वस्तु हो किन्तु हम सहज में उसकी व्याख्या नही कर सकते। कारण इच्छात्मक निमित्तकारणता में कठोर सम्पर्क अन्तर्निहित है जबकि सजग रूप से परस्पर जुड़ी हुई स्थितियों में भी वह विद्यमान नहीं होता। इसके अतिरिक्त कारणता की संकल्पना में एक यह बात भी अन्तर्निहित प्रतीत होती है कि संसार विभिन्न वस्तुओं का एक समूह है जबकि वास्तव मे वह वैसा नहीं है। सिर्फ इसलिए कि संकल्पनाएँ स्पष्ट और निश्चित हैं यह नही कहा जा सकता कि जिन स्थितियों के साथ उनका सम्बन्ध है वे भी उतनी ही स्पष्ट और निश्चित हैं। मूर्त सत्ताओं पर गणित के फारमूले लागू कर हम यह निष्कर्ष निकालते है कि कार्य कारण के बराबर ही होता है उससे अधिक नहीं। किन्तु यदि कारण और कार्य दोनों एक-जैसे अथवा समान होते है तो समस्त सृजनात्मकता और प्रवृत्ति का अन्त हो जायगा। घटनाएँ कुछ नियमों के अनुसार घटती हैं। ऐसी कोई आवश्यकता नही है कि वे उसी ढंग से हों किन्तु स्थिति यह है कि वे होती उसी रूप से है। हम नहीं जानते कि हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के मिलने से ही पानी क्यो बनना चाहिए, और तत्वों के मिलने से क्यों नही। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सब बिना किसी तर्क के मनमाने ढंग से होता है। प्रकृति

में वस्तुएँ किसी आवश्यकता से विद्यमान नहीं होतीं। किसी भी वस्तु का होना 'अनिवार्य' नहीं है और न किसी वस्तु के होने का कोई 'औचित्य' है। तथ्य सिर्फ इतना ही है कि वस्तुएँ हैं। ह्यूम ने बहुत पहले यह सिद्ध कर दिया था कि कारण और कार्य में विश्वास करने का इसके सिवाय कोई उचित तर्क नहीं है कि हम कुछ चीज़ों को कुछ चीज़ों के बाद होते देखते हैं। चाहे हम कुछ घटनाओं को कितनी ही बार एक नियत क्रम में होते देखें हम उनसे कुछ नहीं सीखते। पौर्वापर्य क्रम के नियम प्रेक्षित तथ्य हैं उनमें तार्किक अनिवार्यता या आवश्यकता कुछ नहीं है। जब हम कहते हैं कि 'क' के बाद 'ख' जरूर आता है, तो उसका अभिप्राय यही होता है कि बहुत से उदाहरणों में 'क' और 'ख' का यह सम्बन्ध हम देखते हैं और हम इसके विपरीत कोई उदाहरण ज्ञात नहीं है। यह कहना कि 'ख' 'क' से पैदा होता है सिर्फ इनके क्रम को बताना है। उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं होता कि 'ख' 'क' ही है या 'क' के बराबर है। कार्य कारण का ही दूसरा रूप नहीं है। अन्त आरम्भ का ही वेष-परिवर्तन नहीं है। हम किसी को 'कारण' नहीं कह सकते क्योंकि कारण-जैसी कोई चीज नहीं है सिर्फ कारण-सम्बन्धी कुछ नियम हैं कुछ ऐसे चुने हुए क्रम हैं जिन्हें हम एक-सा पाते हैं कुछ पौर्वापर्य के अनुभूत नियम हैं। घटनाएँ परस्पर-सम्बद्ध होती हैं और कारण-नाम नियम हमें उन घटनाओं के आपसी सम्बन्ध बताते हैं।

८ क्रम और प्रगति

ब्रह्माण्ड का हम वैज्ञानिक अध्ययन और विवेचन कर सकते हैं क्योंकि प्रकृति परस्पर-सम्बद्ध घटनाओं का एक ताना-बाना है। हर घटना का एक व्यक्तिगत और एक समष्टिगत स्वरूप होता है। उनमें अपनी एक विशिष्टता एक अद्वितीयता होती है और साथ ही अन्य घटनाओं के साथ उनका सम्बन्ध भी होता है। हर घटना जो कुछ है वही है किन्तु वह जो कुछ है वह तब तक नहीं हो सकती जब तक कि अन्य घटनाओं का प्रभाव और सहायता उसे प्राप्त न हो। घटनाएँ किसी भी तरह दूसरी घटनाओं से बिलकुल विच्छिन्न एकाकी और बिरानी सहेलों के सम्पर्क से रहित नहीं हैं। व्यक्ति से उसका परिवेश अलग या पराया नहीं है। परमाणु की पुरानी अवधारणा में परमाणु अपने स्वरूप में तो पूर्णतः स्वतन्त्र और व्यतिरिक्त होते थे और उनके सम्बन्ध बिलकुल बाह्य परकीय और आकस्मिक थे। इस अवधारणा के अनुसार परमाणु के इर्द-गिर्द परिवेश हो

या न हो और हो तो चाहे कैसा भी हो परमाणु बदलेगा नहीं वैसा ही रहेगा। किन्तु अब इलेक्ट्रॉन की संकल्पना ने परमाणु को एक सामष्टिक रूप भी प्रदान कर दिया है। यदि हम उसे एक पृथक् अमूर्त व्यष्टि के रूप में ही मानें तो हमें उसका बोध हो ही नहीं सकता। इलेक्ट्रॉन मिलकर समूह या समग्र की रचना करते हैं और उनके सम्बन्धों का बोध हमें तभी हो सकता है जबकि हम उन्हें समग्र के अंग या सदस्य के रूप में देखें। एक सजीव शरीर के भीतर विद्यमान इलेक्ट्रॉन उससे बाहर के इलेक्ट्रॉन से भिन्न होता है क्योंकि शरीर की योजना और व्यवस्था में उसका भी हिस्सा होता है। परमाणु के भीतर प्रोटानों और इलेक्ट्रॉनों के पारस्परिक सम्बन्ध बाह्य या आकस्मिक नहीं हैं वरन् स्वयं परमाणु की सामान्य संरचना के ही परिणाम हैं। अणु (मौलीक्यूल) आदि अधिक सम्मिश्र संरचनाएँ उनके गुणों को निर्धारित और निर्दिष्ट करती हैं। भौतिक स्तर पर भी यथार्थता स्वतन्त्र और एक-दूसरे से अलग वस्तुओं का समूह ही नहीं है बल्कि वह उनसे बना हुआ एक समग्र पूर्ण अवयवी है और इसीलिए उसकी एक नियत संरचना है जो उसके अंगों के सम्बन्धों और गुणों को निर्दिष्ट करती है। समग्र पूर्ण अवयवी द्वारा नियन्त्रण एक विशिष्ट आश्चर्यजनक तथ्य है। हम उसके एक भाग से दूसरे का अनुमान कर सकते हैं क्योंकि घटनाएँ पारस्परिक सम्बन्ध का ही एक संसार हैं। किसी भी एक मंजिल में यह समस्त ब्रह्माण्ड एक विश्व-स्थिति है और उसका कोई एक भाग उसकी समूची पृष्ठभूमि है।

संसार में केवल क्रम ही नहीं है प्रगति भी है। भौतिक संसार की दो विशिष्टताएँ हैं—सातत्य और परिवर्तन अतीत के साथ सम्बन्ध और भविष्य में सृजनात्मक प्रगति। काल एक सम्बन्ध है केवल पौर्वापर्य ही नहीं है। अतीत मरता नहीं वर्तमान में जीवित रहता है और वर्तमान भविष्य में प्रवाहित होता रहता है। हर घटना का सम्बन्ध केवल अतीत से ही नहीं भविष्य से भी होता है। चेतन-स्तर पर यदि हम देखें तो हम पायेंगे कि हमें न केवल अतीत का स्मरण होता है बल्कि भविष्य की कल्पना भी होती है। भौतिक स्तर पर भी अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना-जैसी चीजें होती हैं—एक भौतिक स्मृति और दूसरी अन्ध भविष्य कल्पना। संसार की कोई भी घटना अपने आपमें पूर्ण नहीं होती। वह अपनी पूर्णता एक अनिश्चित भविष्य में रखती है। प्रकृति की समग्र प्रक्रिया में हम सृजनात्मकता अथवा नवीनता का अंश दिखाई देता है जिसे हम फिर से पुरातन में लौटा नहीं सकते या मरण और न पुरातन

का परिणाम ही कह सकते हैं। अपने वर्तमान के ज्ञान के आधार पर हम भविष्य का प्राक्कथन नहीं कर सकते। परमाणु की विकिरण प्रक्रियाएँ और रासायनिक सम्मिश्रण स्थायी यौगिक (कम्पाउंड) पैदा करते हैं। हाइड्रोजन के दो परमाणु जो एक-दूसरे से कुछ दूर हैं और जिनमें एक अणु बनाने के लिए आवश्यक पूर्ण ऊर्जा है, बाह्य प्रभावों का हस्तक्षेप न होने पर आकर्षण के अप्रतिरोध्य नियम के अन्तर्गत एक-दूसरे की ओर गति करते हैं। दोनों परमाणु एक निश्चित उद्देश्य के लिए काम करते हैं हालांकि वे यह बात जानते नहीं। प्रकृति में हमेशा कुछ-न कुछ नया घटित होता रहता है। हर घटना एक नयी सम्भावना को वास्तविक बनाती है जो अतीत में निहित नहीं होती। वस्तु अपनी प्रगति की कूच में कुछ नये मरचनात्मक समूह और संयोग बनाती है जो न केवल हमारे लिए मूल्यवान् हैं अपितु ब्रह्माण्ड की क्रम-व्यवस्था में भी मूल्यवान् हैं। लॉयड मॉर्गन का कहना है कि प्रकृति में ऐसी सर्वथा नयी उद्भूत होने वाली वस्तुएँ हैं—इनके लिए उन्होंने जी० एच० लूइस का 'इमर्जेन्ट' शब्द प्रयोग किया है—जिनके स्वरूप और सत्त्वों के बारे में उनके विभिन्न घटकों के स्वरूप को देखकर पहले से कुछ नहीं कहा जा सकता। इन नयी सरचनाओं के स्वरूप और प्रकृति को उनके उद्भव या उत्पत्ति के बाद अध्ययन और परीक्षणों से ही जाना जा सकता है। जो वस्तुएँ एकाधिक वस्तुओं के मिलने के परिणामस्वरूप बनती हैं (रिजल्टेंट) उनकी प्रकृति तो उनके घटकों से मिलती-जुलती है किन्तु सर्वथा नयी उद्भूत होने वाली वस्तुओं (इमर्जेन्ट) की प्रकृति और सरचना सर्वथा भिन्न अकल्पित और नयी होती है। यदि विकास (एवाल्यूशन) का अर्थ एक ऐसी वस्तु को अनावृत करना है जो पहले से विद्यमान है तो उद्भव (इमर्जेंस) का अर्थ एक ऐसी वस्तु का उद्भूत या आविर्भूत होना है जो स्वयं उसके भीतर पहले से निहित किन्तु छिपी हुई थी किन्तु विकास का अर्थ एक सर्वथा नयी वस्तु का अस्तित्व में आना किया जाता है जिसका प्राक्कथन उसके अस्तित्व में आने से पहले नहीं किया जा सकता।

यद्यपि प्रत्येक घटना हर दूसरी घटना से भिन्न होती है और उसका एक अपना अलग और विशिष्ट स्वरूप होता है तो भी हम अपना ध्यान आकार अथवा संरचनात्मक संगठन पर केन्द्रित करते हैं और जब तक वह नहीं रहता है तब तक हम उन परिवर्तनों की परवाह नहीं करते जो वैज्ञानिक वर्गीकरण की दृष्टि से नगण्य होते हैं। किन्तु जब कोई नया सरचनात्मक संगठन उद्भूत होता है तो वह हमारा ध्यान आकृष्ट करता है और हम कहते हैं कि एक नया आकार पैदा

हुआ है। एकाधिक वस्तुओं के मिलन के परिणामस्वरूप होने वाली प्रगति और एकाधिक वस्तुओं से एक नयी वस्तु के उद्भव से होने वाले विकास का अन्तर केवल उनकी कार्यविधि का अन्तर है, दार्शनिक दृष्टि से वह अन्तर नहीं होता। दोनों अवस्थाओं में काम में कुछ-न-कुछ सृजनात्मक प्रगति होती है, चाहे वह थोड़ी हो या अधिक। वस्तु का स्वरूप तत्त्वतः सृजनात्मक होता है और उसकी प्रक्रियाएँ अप्रत्यावर्तनीय होती हैं। इसीलिए उसे ब्रह्माण्ड की जननी कहा जाता है। सृजनात्मकता केवल प्राणमय और मनोमय पहलुओं तक ही सीमित नहीं है वस्तु भी सृजनात्मक परिवर्तन है। उसकी अप्रत्यावर्तनीय प्रक्रियाओं का अर्थ है कि उनके निश्चित आयोजन और उद्देश्य हैं भले ही वस्तु को उनका ज्ञान न हो। भौतिक जगत् स्वयं एक ऐसे भविष्य के लिए तैयारी करता है जो अपूर्ण और अधूरा रह गया है। एक निश्चित समय पर पृथ्वी की सतह पर प्रचुर मात्रा में कार्बन हाइड्रोजन और ऑक्सीजन आए और उन्होंने जीवन के उद्भव के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा कीं। इन भौतिक परिस्थितियों और परिवेश की प्रक्रियाओं की तब तक कोई युक्तियुक्त व्याख्या नहीं की जा सकती जब तक यह न मान लिया जाए कि जिस जीवन की तैयारी के लिए वे हुई थीं उनका कोई निश्चित उद्देश्य है।

अतीत से वर्तमान की व्याख्या नहीं की जा सकती। हर घटना एक रहस्य है। सत्ता एक सतत चमत्कार है। भौतिक विज्ञान यदि एक चमत्कार को एक समीकरण (इक्वेशन) में परिणत करने का प्रयत्न करे तो वह सफल नहीं होगा। वह सिर्फ यह बताता है कि पिण्ड किस ढंग से व्यवहार करते हैं किन्तु वह यह नहीं बताता कि वे ऐसा क्यों करते हैं। हमारे भौतिक और रासायनिक प्रतीक कार्य के लिए आवश्यक साधन हैं और वे हमारे लिए अत्यधिक उपयोगी हैं। किन्तु ये प्रतीक सिर्फ यथार्थता और वास्तविकता के एक ही पहलू का प्रतिपादन करते हैं और वह भी बिलकुल नपे-तुले रूप में नहीं बल्कि मोटे तौर पर। हमारा यह ख्याल हो सकता है कि हम वस्तु के बारे में सब-कुछ जानते हैं, उसका अस्तित्व असन्दिग्ध है और उसकी प्रकृति और स्वरूप को समझा जा सकता है परन्तु वास्तव में हम जो कुछ जानते हैं वह वस्तु का हम पर पड़ने वाला प्रभाव ही है। जब हम उस पर विचार करते हैं तो हम देखते हैं कि वह कुछ भावनाओं और उनके आपसी सम्बन्धों के सिवाय और कुछ नहीं है। वह अनुभव और सम्भावित अनुभव-मात्र है।

१ भौतिक विज्ञान और आत्मनिष्ठतावाद :

यह हो सकता है कि वस्तु की संरचना उससे अधिक सम्मिश्रित और जटिल हो और उसकी सम्भावनाएँ उससे अधिक सूक्ष्म हों जितनी कि हम कल्पना करते हैं फिर भी वस्तु वस्तु ही है और कुछ नहीं। वस्तु को वैद्युतिक ऊर्जा बताने का अर्थ उसे मन के समकक्ष बताना नहीं है। किन्तु कुछ वैज्ञानिक दार्शनिकों की पुस्तकों में भौतिक वस्तु की मानसिक वस्तु के रूप में व्याख्या करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इसका उत्तरदायित्व मुख्यतः आधुनिक भौतिक विज्ञान के दो मुख्य सिद्धान्तों—सापेक्षतावाद और क्वाण्टम सिद्धान्त—पर है। दार्शनिक विचार के इतिहास का अध्ययन करते हुए हम यह बात देखते हैं कि उसमें सापेक्षतावाद और आत्मनिष्ठतावाद को आम तौर पर एक ही समझ लिया जाता है। वस्तुओं के परिवर्तनीय लक्षणों का कारण प्रायः द्रष्टा की दृष्टि समझ लिया जाता है। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण हम प्रधान और गौण गुणों के भेद में पाते हैं। यह माना जाता है कि 'गौण' गुण अर्थात् वस्तुओं के परिवर्तनीय लक्षण कर्ता या द्रष्टा की प्रकृति पर निर्भर होते हैं। किन्तु अब क्योंकि 'प्रधान' गुण भी सापेक्ष माने जाते हैं इसलिए वे भी आत्मनिष्ठ कल्पित किये जाते हैं। वे सब गुण जो किसी वस्तु या प्रणाली में किसी अन्य वस्तु या प्रणाली के सम्बन्ध से किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में होते हैं सापेक्ष कहलाते हैं जबकि वे गुण जो किसी वस्तु में किसी बाह्य वस्तु के साथ सम्बन्ध के बिना उसकी अपनी सत्ता में होते हैं वे निरपेक्ष कहलाते हैं। जो गुण किसी समय निरपेक्ष और स्वाभाविक कहे जाते थे वे अब सापेक्ष और परिवर्तनीय माने जाते हैं। वे यहाँ मानो न यथार्थ के गुण और स्वरूप नहीं हैं बल्कि द्रष्टा की दृष्टि के परिणाम हैं। इसके अतिरिक्त मानवीय पर्यवेक्षण का सम्भाव्यतानुमान घटनाओं की सापेक्षता की व्याख्या में भी अपनाया जाता है। यदि भौतिक सम्बन्धों में सापेक्षता है तो मानवीय परिप्रेक्ष्यों की आत्मनिष्ठता भी उनमें होनी चाहिए। यदि हम प्रकृति को

१ पर्यवेक्षण का कहना है : "भौतिक जगत् का वस्तु-विश्व जिस प्रकार व्यवहार करता है, उसका जो विवरण हम देते हैं, उस पर हमारा अपना ... हमारी अवस्थाओं की और हमारी ... की छाप उससे कहीं अधिक रहती है जितना कि हम महसूस करते हैं। जब वस्तु का अध्ययन परमाणुओं की एक ... की दृष्टि से विचार किया जाता है तो यह एक निश्चित कार्य-कारण रूप से व्यवहार करती प्रतीत होती है, किन्तु जब उसे हम कुछ अन्य परमाणुओं की दृष्टि से देखते हैं तो हमें उसमें कुछ अनिश्चितता या स्वतन्त्रता मिलती जान पड़ती है।" (दि मैकर ऑफ दि सिविलाइज्ड वाउ (१९९), पृष्ठ १५१)

की दृष्टि से होता है।[1] जानामी जो वास्तविक मनोतर पदार्थ होता है वह मानसिक पदार्थ है। संसार का पदार्थ मन का पदार्थ है।[2] यहाँ मन व्यापक अर्थ में लिया जाता है। चेतना की कोई निश्चित व्याख्या नहीं है, वह अवचेतना में छिप जाती है और उसके पर हमें किसी अनिश्चित वस्तु को स्वीकृत करना चाहिए, जो अनिश्चित होते हुए भी हमारी मानसिक प्रकृति के साथ सतत रूप से विद्यमान है। इसे मैं विश्व का पदार्थ मानता हूँ।[3] रहस्यवादियों के रहस्यमय अनुभवों से भी यही अनुभव होता है कि भौतिक संसार और चेतना एक ही है।[4]

सापेक्ष और परिवर्तनशील लक्षण अनिवार्यतः आत्मनिष्ठ नहीं है। विशिष्ट और परिवर्तनशील लक्षण भी वैसे ही वास्तविक हैं जैसे कि सामान्य और व्यापक लक्षण। सापेक्षता का सिद्धान्त ऐसे समीकरण स्थापित करने का प्रयत्न करता है जो सभी प्रेक्षकों के लिए सही हों और जो व्यक्तिगत मान्यता से सर्वथा स्वतन्त्र और मुक्त हों। नया भौतिक विज्ञान वस्तुनिष्ठता को एक नयी व्यवस्था में प्रस्तुत करता है, किन्तु वह आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ के भेद को खत्म नहीं करता। इसके अलावा यह दृष्टिकोण स्वीकार करना कठिन है कि पृथ्वी की सापेक्ष स्थिति आदि वस्तुनिष्ठ प्रतीत होने वाले तथ्यों का घटित होना या न होना मनुष्य की सुविधा पर निर्भर है। सूर्य की गति सिर्फ इसलिए आइन्स्टाइन की भविष्य-गणना के अनुसार नहीं होती कि वह ऐसा चाहता था। अन्तरिक्ष के ग्रह-नक्षत्रों की वास्तविक और निर्धारित गतियाँ निर्धारित भौतिक कारणों की वजह से होती हैं। इस मान्यता का कि भौतिक विज्ञान के सामान्य नियम घटनाओं के वास्तविक क्रम और परिस्थितियों को निर्धारित नहीं करते बल्कि वे सिर्फ उनका वर्णन करते हैं, अर्थ यह नहीं है कि हम उनकी वस्तुनिष्ठता को अस्वीकार करते हैं। समय के हमारे माप—सैकिंड, मिनट और घंटा—केवल मानव द्वारा रचित हो सकते हैं, किन्तु प्रकृति की लयबद्ध प्रक्रियाओं में इससे कोई

१ दि नेचर ऑफ दि फिजिकल वर्ल्ड, पृष्ठ २८७।
२ दि नेचर ऑफ दि फिजिकल वर्ल्ड, पृष्ठ २७६।
३ दि नेचर ऑफ दि फिजिकल वर्ल्ड, पृष्ठ ९।
४ 'हमारे मन संसार से और हमारी देह देह जिनस की अवस्थाओं से अलग नहीं होते और हमारी और अधिक गहरी अनुभूतियाँ भी सिर्फ हमारी अपनी ही अनुभूतियाँ नहीं होतीं बल्कि हमारी चेतना की संकीर्ण सीमाओं से भी परे विद्यमान पदार्थ की झाँकियाँ होती हैं—प्रकृति की समरसता और उसकी सुन्दरता मूलतः मनुष्य के आह्लाद और दर्द के साथ एक और तादात्म्य होती है। (दि नेचर ऑफ दि फिजिकल वर्ल्ड, पृष्ठ ३२१)।

अन्तर नहीं आता कि हम उन्हें किस रूप में देखते हैं। सौर-परिवार हमारे मन की सृष्टि नहीं बल्कि वास्तविक वस्तु है हालांकि हम लोग अनेक दृष्टिकोणों से उसे देखते-परखते हैं। यही नहीं ज्योतिर्विज्ञान की अनेक प्रणालियों में उसका स्थान है। एक तरह से देखा जाए तो यह बात बहुत नहीं है कि हम प्रकृति का निर्माण करते हैं। हम स्थायित्व को मूल्यवान् समझते हैं और प्रतीयमान द्रव्य का एक संसार रचते हैं। किन्तु इसमें हम तथ्य की अनिवार्यता की उपेक्षा नहीं कर सकते। तथ्य के नियन्त्रण में ही हम अपने विज्ञानों का भवन खड़ा करते हैं। यदि हम उसकी उपेक्षा कर दें तो विचार महज कल्पना मात्र रह जाएगा। वस्तु की संकल्पना के लिए अवश्य ही मानवीय मन उत्तरदायी है किन्तु वह उसका स्रष्टा किसी भी तरह नहीं है।

मनुष्य के क्रियाकलाप और गति किसी निर्धारित नियम से नहीं होते इससे हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि मानव स्वतन्त्र है। प्राकृतिक घटनाएँ भी कुछ लिहाज से निर्धारित नहीं होतीं हालांकि उनकी सामान्य संरचना के नियम पूर्वतः निर्धारित होते हैं। किन्तु इस अनिर्धारितता का अर्थ यह नहीं है कि प्रकृति बिना किसी नियम के मनमाने ढंग से काम करती है जैसा कि हम मानव के बारे में मानते हैं। अनिर्धारितता का सिद्धान्त सिर्फ यही सिद्ध करता है कि भौतिक मात्रों का कोई एक निश्चित समूह ऐसा नहीं है जो प्राकृतिक तथ्य का जो अन्तर बीजों का निश्चित और अन्तिम रूप है पूरी तरह निर्धारित कर सके। हाइजेनबर्ग का अनिर्धारितता का नियम सिर्फ यही बताता है कि क्रियात्मक मात्रों की भी एक सीमा है। उसका अर्थ निर्धारितता का अभाव नहीं है। सभी अपूर्ण निर्धारण सम्पूर्ण घटना की दृष्टि से शासित हैं यहाँ तक कि परमाणु के भीतर जो निर्धारित नियम का कभी-कभी व्यतिक्रम हो जाता है वह भी मानव को स्वतन्त्र मानने की मान्यता में किसी भी कदर सहायक नहीं है। इससे यह कहना कि परमाणु में विद्यमान इलेक्ट्रॉन स्वतन्त्र है स्वयं स्वतन्त्रता को नीचे गिराना है।

यह सत्य है कि विज्ञान के सिद्धान्तों की पुष्टि केवल परीक्षणों द्वारा ही की जाती है। किन्तु जब हम यह कहते हैं कि जो-कुछ घटित होता है वह आत्मगत रूप से वास्तविक है तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि वह वस्तुगत रूप की अपेक्षा से वास्तविक है। विज्ञान अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए जिस अनुभव को आधार बनाता है वह मानसिक रूप सामग्री की कोई व्यवस्थित प्रणाली नहीं है। वास्तविकता का पता स्वयं घटनाओं के प्रकार से लगता है घटनाओं के

की दृष्टि से होता है।[1] घटनाओं को वास्तविक मानेतर पदार्थ होना है यह मानसिक पदार्थ है। संसार का पदार्थ मन का पदार्थ है।[2] यहाँ मन व्यापक अर्थ में लिया जाता है। चेतना की कोई निश्चित व्याख्या नहीं है यह अवचेतना से मिल जाती है और उससे परे हमें किसी अनिश्चित वस्तु को स्वीकार करना चाहिए, जो अनिश्चित होते हुए भी हमारी मानसिक प्रकृति के साथ सतत रूप से विद्यमान है। इसे मैं विश्व का पदार्थ मानता हूँ।[3] रहस्यवादियों के व्यापक अनुभवों से भी यही अनुभव होता है कि भौतिक संसार और चेतना एक ही है।[4]

सापेक्ष और परिवर्तनशील जगत अनिवार्यतः आत्मनिष्ठ नहीं है। विशिष्ट और परिवर्तनशील जगत भी वैसे ही वास्तविक है जैसे कि सामान्य और व्यापक जगत। सापेक्षता का सिद्धान्त ऐसे समीकरण स्थापित करने का प्रयत्न करता है जो सभी प्रेक्षकों के लिए सही हों और जो व्यक्तिगत मान्यता से सर्वथा स्वतन्त्र और मुक्त हों। नया भौतिक विज्ञान वस्तुनिष्ठता को एक नयी व्यवस्था में प्रस्तुत करता है, किन्तु यह आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ के भेद को खत्म नहीं करता। इसके अलावा यह दृष्टिकोण स्वीकार करना कठिन है कि पृथ्वी की सापेक्ष स्थिति आदि वस्तुनिष्ठ प्रतीत होने वाले तथ्यों का घटित होना या न होना मनुष्य की सुविधा पर निर्भर है। सूर्य की गति सिर्फ इसलिए आइन्स्टाइन की भविष्य-गणना के अनुसार नहीं होती कि वह ऐसा चाहता था। अन्तरिक्ष के ग्रह-नक्षत्रों की वास्तविक और निर्धारित गतियाँ निर्धारित भौतिक कारणों की वजह से होती हैं। इस मान्यता का कि भौतिक विज्ञान के सामान्य नियम घटनाओं के वास्तविक क्रम और परिस्थितियों को निर्धारित नहीं करते बल्कि वे सिर्फ उनका वर्णन करते हैं अर्थ यह नहीं है कि हम उनकी वस्तुनिष्ठता को अस्वीकार करते हैं। समय के हमारे माप—सेकण्ड मिनट और घंटा—केवल मानव द्वारा रचित हो सकते हैं किन्तु प्रकृति की समरूप प्रक्रियाओं में इससे कोई

1 दि नेचर ऑफ दि फिजिकल वर्ल्ड, पृष्ठ २६०।
२ दि नेचर ऑफ दि फिजिकल वर्ल्ड, पृष्ठ २७५।
३ दि नेचर ऑफ दि फिजिकल वर्ल्ड, पृष्ठ २८०।
४ "हमारे मन मस्तिष्क से और हमारी इस पर्यवेक्षा विज्ञान की अवधारणाओं से स्वतन्त्र नहीं होते और हमारी और बाकी सबकी अनुभूतियाँ भी सिर्फ हमारी अपनी ही अनुभूतियाँ नहीं होतीं बल्कि हमारी चेतना की सर्वाधिक सीमाओं से भी परे विद्यमान पदार्थ की अभिव्यक्ति होती है—प्रकृति की समरूपता [illegible] उसकी तुलनात्मक मूलतः मनुष्य के व्यवहार और इसे के [illegible] (दि नेचर ऑफ दि फिजिकल वर्ल्ड, पृष्ठ ३१८)।

प्रतीत होता है। क्योंकि भौतिक विज्ञान के नियम सही मात्रा में किन्हीं कारण-कार्य सम्बन्धों पर आधृत नहीं हैं और क्योंकि ऐसी कोई भी चीज नहीं है जो परमाणु के क्वान्टम सिद्धान्तों को जो न्यूनाधिक दिमाग से सोच-विचार कर किये गए चुनावों के समान प्रतीत होते हैं, पूर्व-निर्धारित करती हो इसलिए परमाणु की तह में जो कुछ है उसे मस्तिष्क की तह में विद्यमान वस्तु के साथ सतत रूप में विद्यमान कहा जा सकता है। 'जहाँ तक मस्तिष्क का सम्बन्ध है हम देखते हैं कि बाह्य संकेतकों के अध्ययन के पीछे एक मानसिक जगत् भी है जिसे हम अपनी अन्तर्दृष्टि से देख सकते हैं और उस जगत् में हम निर्णय या निर्धारण के तथ्य की एक नयी तस्वीर देखते हैं जिसके बारे में हम यह मान सकते हैं कि वह उसके यथार्थ स्वरूप को अभिव्यक्त करती है—बशर्ते कि 'यथार्थ स्वरूप' जैसी कोई चीज हो। किन्तु परमाणु के सम्बन्ध में हमें ऐसा कोई अन्तर्ज्ञान नहीं है कि बाह्य संकेतकों के पीछे क्या है। हम यह विश्वास करते हैं कि समस्त संकेतकों के पीछे एक पृष्ठभूमि है जो मस्तिष्क की पृष्ठभूमि के साथ सतत रूप में विद्यमान है।

एडिंग्टन ने जो दूसरी युक्ति दी है वह यह है कि वैज्ञानिक सत्यों की परीक्षा और पुष्टि केवल मूर्त और सम्मिश्रित घटनाओं में ही की जा सकती है जिनके समग्र स्वरूप की केवल समीकरणों से ही परीक्षा और निर्धारण नहीं किया जा सकता। भौतिक विज्ञान के नियमों का सम्बन्ध ऐसे अमूर्तीकरणों संकेतकों के संकेतों के परिमाणात्मक सह-सम्बन्धों के साथ है, जो सम्भावित संसारों में से किसी एक में लागू हो सकते हैं। ऐसे संसारों की अनिश्चित संख्या में से जो इस बात का उदाहरण है कि प्रकृति के नियमों के अन्तर्गत क्या-कुछ सम्भव है एक संसार ऐसा है जो उन नियमों की पूर्ति से भी कुछ अधिक करता है। उसका ऐसा करना एक ऐसा गुण है जिसकी व्याख्या स्पष्टतः प्रकृति के किसी भी नियम से नहीं की जा सकती और जिसे हम 'वास्तविकता' का नाम देते हैं और इस शब्द का प्रयोग हम किसी विशिष्ट अर्थ को बताने के लिए नहीं करते उसे एक अनिश्चितता के प्रभामण्डल से मंडित रखते हैं। हम किसी संसार को वास्तविक इसलिए मानते हैं क्योंकि वही एकमात्र ऐसा संसार होता है जिसके साथ चेतना पारस्परिक क्रिया करती है।[२] 'वास्तविक और अवास्तविक का भेद केवल मन

१ दि नेचर ऑफ दि फिजिकल वर्ल्ड पृष्ठ ३११ ३१२।
२ दि नेचर आफ दि फिजिकल वर्ल्ड पृष्ठ २६५ २६६।

की दृष्टि से होना है।[1] घटनाओं को वास्तविक मानेतर पदार्थ होता है [illegible] मानसिक पदार्थ है। संसार का पदार्थ मन का पदार्थ है।[2] यहाँ मन व्यापक अर्थ में लिया जाता है। 'चेतना की कोई निश्चित व्याख्या नहीं है यह मनोतर [illegible] छिप जाती है और उसके पर हम किसी अनिश्चित वस्तु को स्वीकार करना चाहिए, जो अनिश्चित होते हुए भी हमारी मानसिक प्रकृति के साथ तत्त्वतः [illegible] से विद्यमान है। इसे मैं विश्व का पदार्थ मानता हूँ।[3] रहस्यवादियों के एकात्म अनुभवों से भी यही अनुभव होता है कि भौतिक संसार और चेतना एक ही है।[4]

सापेक्ष और परिवर्तनशील लक्षण अनिवार्यतः आत्मनिष्ठ नहीं है। विशिष्ट और परिवर्तनशील लक्षण भी वैसे ही वास्तविक हैं जैसे कि सामान्य और व्यापक लक्षण। सापेक्षता का सिद्धान्त ऐसे समीकरण स्थापित करने का प्रयत्न करता है जो सभी प्रेक्षकों के लिए सही हों और जो व्यक्तिगत मान्यताओं से सर्वथा स्वतन्त्र और मुक्त हों। नया भौतिक विज्ञान वस्तुनिष्ठता को एक नई व्यवस्था में प्रस्तुत करता है किन्तु वह आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ के भेद को नष्ट नहीं करता। इसके अलावा यह दृष्टिकोण स्वीकार करना कठिन है कि पृथ्वी की सापेक्ष स्थिति आदि वस्तुनिष्ठ प्रतीत होने वाले तथ्यों का घटित होना या न होना मनुष्य की सुविधा पर निर्भर है। सूर्य की गति सिर्फ इसलिए आइन्स्टाइन की भविष्य-गणना के अनुसार नहीं होती कि वह ऐसा चाहता था। अन्तरिक्ष के ग्रह-नक्षत्रों की वास्तविक और निर्धारित गतियाँ निर्धारित भौतिक कारणों की वजह से होती हैं। इस मान्यता का कि भौतिक विज्ञान के सामान्य नियम घटनाओं के वास्तविक क्रम और परिस्थितियों को निर्धारित नहीं करते, बल्कि वे सिर्फ उनका वर्णन करते हैं अर्थ यह नहीं है कि हम उनकी वस्तुनिष्ठता को अस्वीकार करते हैं। समय के हमारे माप—सेकंड मिनट, [illegible] मानव द्वारा रचित हो सकते हैं किन्तु प्रकृति की अवधि [illegible]

1. दि नेचर ऑफ दि फिजिकल वर्ल्ड पृष्ठ २२० [illegible]।
2. दि नेचर ऑफ दि फिजिकल वर्ल्ड पृष्ठ [illegible]।
3. दि नेचर ऑफ दि फिजिकल वर्ल्ड पृष्ठ [illegible]
4. "हमारे मन संसार में और हमारी [illegible] हमारी और अधिक गहरी अनुभूतियाँ [illegible] बल्कि हमारी चेतना की संकीर्ण सीमा [illegible] है—प्रकृति की समग्रता और उसकी [illegible] साथ एक और तादात्म्य होती है। (दि [illegible]

अन्तर नहीं आता कि हम उन्हें किस रूप में देखते हैं। सौर-परिवार हमारे मन की सृष्टि नहीं बल्कि वास्तविक वस्तु है हालांकि हम लोग अनेक दृष्टिकोणों से उसे देखते-परखते हैं। यही नहीं ज्योतिर्विज्ञान की अनेक प्रणालियों में उसका स्थान है। एक तरह से देखा जाए तो यह बात बहुत सही है कि हम प्रकृति का निर्माण करते हैं। हम स्थायित्व को मूल्यवान् समझते हैं और प्रतीयमान दृश्य का एक संसार रचते हैं। किन्तु इससे हम तथ्य की अनिवार्यता की उपेक्षा नहीं कर सकते। तथ्य के नियन्त्रण में ही हम अपने विज्ञानों का भवन खड़ा करते हैं। यदि हम उसकी उपेक्षा कर दें तो विचार महज कल्पना-मात्र रह जाएगा। वस्तु की संकल्पना के लिए अवश्य ही मानवीय मन उत्तरदायी है, किन्तु वह उसका स्रष्टा किसी भी तरह नहीं है।

मनुष्य के कार्यकलाप और गति विधि निर्धारित नियम से नहीं होते इससे हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि मानव स्वतन्त्र है। प्राकृतिक घटनाएँ भी कुछ सिद्धान्त से निर्धारित नहीं होती हालांकि उनकी सामान्य संरचना के नियम पूर्णत निर्धारित होते हैं। किन्तु इस अनिर्धारितता का अर्थ यह नहीं है कि प्रकृति बिना किसी नियम के मनमाने ढंग से कार्य करती है जैसा कि हम मानव के बारे में कहते हैं। अनिर्धारितता का सिद्धान्त सिर्फ यही सिद्ध करता है कि भौतिक मापों का कोई एक निश्चित समूह ऐसा नहीं है जो प्राकृतिक तथ्य का जो अनेक चीज़ों का मिश्रित और जटिल रूप है पूरी तरह निर्धारित कर सके। हाइसेनबर्ग का अनिर्धारितता का नियम सिर्फ यही बताता है कि क्रियात्मक मापों की भी एक सीमा है। उसका अर्थ निर्धारितता का अभाव नहीं है। सभी अमूर्त निर्धारण सम्पूर्ण घटना की दृष्टि से आंशिक हैं यहाँ तक कि परमाणु के भीतर जो निर्धारित नियम का कभी-कभी व्यतिक्रम हो जाता है वह भी मानव को स्वतन्त्र मानने की मान्यता में किसी भी कदर सहायक नहीं है। इससे यह कहना कि परमाणु में विद्यमान इलेक्ट्रॉन स्वतन्त्र हैं स्वयं स्वतन्त्रता को नीचे गिराना है।

यह सत्य है कि विज्ञान के निष्कर्षों की पुष्टि केवल परीक्षणों द्वारा ही की जाती है। किन्तु जब हम यह कहते हैं कि जो-कुछ घटित होता है वह सापेक्ष रूप से वास्तविक है तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि वह ज्ञाता मन की अपेक्षा से वास्तविक है। विज्ञान अपने निष्कर्षों की पुष्टि के लिए जिस अनुभव को आधार बनाता है, वह मानसिक दत्त सामग्री की कोई व्यक्तिगत प्रणाली नहीं है। वास्तविकता का पता स्वयं घटनाओं के प्रवाह से लगता है, घटनाओं के

आन्तरिक स्वरूप के बारे में हमारी अनुभूतियों या धारणाओं से नहीं। भौतिक जगत् के भीतर गहराई में एक अज्ञात अन्तर्वस्तु या अन्तस्सार है जिस तक भौतिक वैज्ञानिकों के तरीके पहुँच ही नहीं पाते। किन्तु वस्तुओं की आन्तरिक प्रकृति का अपरोक्ष ज्ञान हमें केवल चेतन जीवन में ही होता है। सिर्फ इसीलिए हम यह नहीं कह सकते कि यह अन्तर्वस्तु हमारी चेतना की सामग्री है।

एडिंगटन के अनुभूत जगत् को जिसे भौतिक विज्ञान के समीकरणों में नहीं बाँधा जा सकता मानसिक जगत् की सृष्टि बताने का इस आधार पर जो प्रयत्न किया है कि आकस्मिकता सापेक्ष वास्तविकता और अनिर्धारितता मानसिक प्रपंच के लक्षण हैं उसके प्रति सहानुभूति रखते हुए भी हमारे लिए अनुभव के उन स्थायी और आग्रही पहलुओं की जो सिर्फ ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं किये जा सकते उपेक्षा करना कठिन है। आनुभविक दृष्टि से उनके स्वरूप और लक्षण इतने भिन्न हैं कि उनमें से एक को दूसरा बताने का प्रयत्न करना अयुक्तियुक्त है। मानवीय मन के अनुभव भी वैसे ही प्राकृतिक जगत् के लक्षण हैं जैसे कि अणुओं की गतियाँ।[1] वस्तु की संकल्पना ही यह सिद्ध करती है कि अनुभूत जगत् का एक ऐसा पहलू भी है जो मानसिक जगत् से सर्वथा भिन्न है और जिसकी अभिव्यक्ति के लिए मानसिक माध्यम से भिन्न माध्यम का आश्रय लिया जाता है। वस्तु का अपेक्षाकृत ठोस होना मन की अभिव्यक्ति में सहायता करता है और साथ ही उसकी क्रिया को सीमित और प्रतिबन्धित करता है। वस्तु के नकारी (अभावात्मक) कार्य पर चिन्तन के इतिहास में बहुत बल दिया गया है। हाड़ मांस का क्षय होने पर आत्मा का काम भी खत्म हो जाता है। जैसा कि प्लेटो ने कहा है शरीर आत्मा का मकबरा है। आधुनिक भौतिकशास्त्रियों ने यह जो आशंका व्यक्त की है कि भौतिक जगत् की कालावधि खत्म हो रही है और कोई भी मानव या अतिमानव-जाति हमेशा कायम नहीं रह सकती वह वस्तु के नकारी कार्य पर आधृत है। मूर्त अनुभव में मन और भौतिक वस्तु का परस्पर सम्बन्ध

१ तुलना कीजिए मैक्स प्लांक 'सर्वश्रुति हमें यह बताती है कि व्यक्ति और समस्त मानव-जगत् ही नहीं यह सारा संसार, जिसे हम अपने ऐन्द्रियिक बोध से जानते हैं, सिवाय नक्षत्रों के एक छोटे-से टुकड़े से अधिक नहीं है और इस नक्षत्र के नियमों पर मानव-अस्तित्व का कोई असर नहीं है। इसके विपरीत ये नियम पृथ्वी पर जीवन के आरम्भ से भी बहुत पहले से विद्यमान हैं और पृथ्वी के अन्तिम भौतिक वैज्ञानिक के नष्ट हो जाने के भी बहुत समय बाद तक बने रहेंगे।' (दि यूनिवर्स इन दि लाइट ऑफ माडर्न फिज़िक्स अंग्रेजी अनुवाद (१९३१), पृ०)।

है किन्तु एक के दूसरे में साम्यान्वेषण से सम्बन्ध की मूर्तता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। भौतिक वस्तु और मन दोनों का प्रकृति से सम्बन्ध है किन्तु भौतिक वस्तु मन नहीं है। भौतिक वस्तु कितनी भी सूक्ष्म हो मन से उसकी भिन्नता बनी ही रहेगी।

सर जेम्स जीन्स ने 'दि मिस्टीरियस युनिवर्स' (१९३१) में यह विचार प्रकट किया है कि प्रकृति का व्यवहार क्योंकि 'शुद्ध' गणितीय सम्बन्धों द्वारा बहुत अच्छी तरह व्यक्त किया जा सकता है इसलिए प्रकृति की यथार्थता को गणितज्ञ के मन की भाँति व्यवहार करना चाहिए। मन क्योंकि विचारों से बना होता है इसलिए यह माना जा सकता है कि प्रकृति भी विचारों से बनी होगी। परन्तु विज्ञान भौतिक जगत् को इस प्रकार रहस्यमय स्तर तक उठाने की पुष्टि और समर्थन नहीं करता। ऐसा प्रतीत होता है कि सर जेम्स यह भूल गए हैं कि गणितीय भौतिक विज्ञान में जिस प्रकार का विश्लेषण किया जाता है वह भौतिक तथ्यों की व्याख्या के लिए पर्याप्त नहीं है। यह विश्लेषण-पद्धति अपूर्ण अनुमानात्मक और अमूर्त है। घटनाओं के गणितीय गुण हमें उनकी आन्तरिक प्रकृति की जानकारी नहीं देते। हम प्रारम्भ तो इन्द्रियगम्य प्रपंचों की व्याख्या से करते हैं किन्तु बाद में निष्कर्ष के रूप में उनमें इलेक्ट्रॉन और ऊर्जा आदि ऐसी वैज्ञानिक सत्ताएँ प्राप्त करते हैं जो इन्द्रियगम्य वस्तुओं से निकृष्ट अमूर्तीकरण हैं। यदि अमूर्त को वास्तविक और मूर्त को प्रतीयमान (आभास) कहा जाए तो उसके लिए उससे बड़े प्रमाण की आवश्यकता होगी जो सर जेम्स देते हैं।

व्हाइटहेड ने भावना अनुभव और मूल्य आदि शब्दों का जो आमतौर पर मनोविज्ञान में इस्तेमाल किये जाते हैं अधिक व्यापक अर्थ में किया है। उन्होंने भौतिक घटनाओं को परसिपियेंट (अनुभव करने वाला) और हर अवसर को 'प्रीहिमेन्स' (प्रयोग) कहा है। व्हाइटहेड के अनुसार हर अवसर दूसरे सब अवसरों को अपने भीतर धारण (प्रिहेन्ड) करता है। 'प्रिहेन्शन' शब्द की प्रेरणा उन्हें देकार्त के मानसिक 'कोगिटेशन' (आचारिक संकल्पना) और लॉक के 'आइडिया' (प्रत्यय) से मिली है। यहाँ तक कि भौतिक सम्बद्धता भी उनके विचार में एक प्रकार का अवधारण या बोध बन जाती है। 'अविकलतम व्यक्तिगत

१ भौतिक वस्तु की धारणा है ऐसी किसी वस्तु का [illegible] नहीं किया जा सकता जो पारस्परिक [illegible] रूप में [illegible]। (व्हाइटहेड : प्रोसेस एण्ड रियेलिटी, (१९२९), पृ० ४९३)।

वास्तविक तथा अनुभव-क्षमता की एक निश्चित क्रिया है। और क्योंकि यह अनुभव-क्षमता अन्यनिहित और ज्ञानेतर है इसलिए 'वास्तविक तथ्य सौंदर्य बोधात्मक अनुभव का तथ्य है।'[1] अधिकतम मूर्त वास्तविक चीज के रूप में घटना का कुछ मूल्य है। मूल्यों की इलेक्ट्रोनों में विद्यमानता भी उतनी ही सत्य है जितनी कि मन में विद्यमानता हालांकि उसका रूप कुछ भिन्न है।'[2]

यदि यह माना जाए कि चेतना और चुनाव करने की क्षमता मानवीय अनुभव के अवच्छेदक लक्षण हैं तो हर घटना में ये लक्षण विद्यमान नहीं हैं और इन शब्दों का व्यापक अर्थ में प्रयोग करना भ्रामक है। चेतन अनुभव जहाँ जब और जिस रूप में घटित होता है वहाँ पर वह एक प्राकृतिक घटना है। प्राकृतिक जगत् में यह (चेतन अनुभव) बहुत बाद की और सीमित घटना है और इस घटना (चेतन अनुभव) ने ही प्राकृतिक जगत् को पैदा नहीं किया और न वह उसके अधिक व्यापक लक्षणों का कुछ अधिक गम्भीरता से वहन ही सकती है।

हम भौतिक जगत् के सामान्य लक्षणों का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन कर सकते हैं (१) जिस परमाणु को पहले किसी समय एक निष्क्रिय और अपरिवर्तनीय समझा जाता था वह अब सक्रिय ऊर्जा की एक जटिल और सम्मिश्र प्रणाली समझा जाता है। परमाणु एक आंगिक संघटन है और प्रोटान एवं इलेक्ट्रोन उसके सदस्य (अंग) हैं। अणु और मानवीय समाज अधिक सम्मिश्र और जटिल संघटन हैं। (२) भौतिक प्रकृति एक व्यवस्थित समष्टि पूर्ण वस्तु है और उसी रूप में वह काम करती है। उसके सब सदस्य (अंग) स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार हरएक आंगिक संघटन और उसके परिवेश (एनवायरनमेंट) में एक परस्पर अभिसापेक्ष है। (३) हरेक घटना में कार्यत्व और कारणत्व दोनों हैं अर्थात् वह किसी अन्य घटना का परिणाम भी है और साथ ही किसी अन्य घटना का कारण भी रही है। इस प्रकार उसके परिचायक आंगिक परिवर्तनों से परे की चीज है। (४) जब हम घटना के गठनात्मक पक्ष (स्ट्रक्चर) पर पहुँचते हैं तो वैज्ञानिक व्याख्या चरम आधार को समाप्त पाती है। विज्ञान इस बात की व्याख्या नहीं कर सकता कि वस्तु का अस्तित्व क्यों होना चाहिए या उसमें इलेक्ट्रोन और प्रोटान का अमुक-अमुक गठन क्यों होना चाहिए।

१ जीवन :

भौतिक वस्तु के प्रकरण में जब हम जीवन पर विचार करते हैं तो हमें यह प्रतीत होता है कि उस पर अभी पर्याप्त रोशनी नहीं पड़ी है। जीव-सम्बन्धी विज्ञान माइक्रोब (सूक्ष्म जीवाणु) से लेकर स्तनधारी प्राणियों तक समस्त जीवित अंगधारियों और उनकी प्रवृत्तियों द्वारा प्रस्तुत स्पष्ट घटनाओं का अध्ययन करते हैं। यह सम्भव है कि ब्रह्माण्ड के अन्य भागों में भी जीवन-जैसी कोई चीज हो किन्तु जीव-विज्ञान सिर्फ पृथ्वी पर जल स्थल और वायुमण्डल में पाए जाने वाले जीवन का ही अध्ययन करता है। यद्यपि उच्च श्रेणी के जीवों में चेतना के लक्षण दीख पड़ते हैं परन्तु जीव विज्ञान उसे अपना विषय नहीं मानता।

जीवित वस्तुओं के व्यवहार में कुछ ऐसी विशिष्टता होती है जो जीवनरहित वस्तुओं में नहीं होती। जीवित वस्तुओं में पाई जाने वाली आत्मसात्करण श्वास-प्रश्वास पुनर्जनन वृद्धि और विकास की प्रक्रियाएँ भौतिक रासायनिक प्रतिक्रियाओं से भिन्न होती हैं। जीव अपने समस्त परिवर्तनों में से गुजरते हुए भी अपनी विशिष्ट रचना और प्रवृत्तियों को कायम रखते हैं। जीवों में उनके आकार की स्थिरता बने रहने का कारण उनकी एक आन्तरिक क्रिया है उसका कारण अपने परिवेश में होने वाले परिवर्तनों के प्रति उनका निष्क्रिय प्रतिरोध नहीं है। उदाहरण के लिए श्वास-प्रश्वास की क्रिया में रक्त में ऑक्सीजन के दबाव का और फेफड़ों में कार्बन डाइऑक्साइड के दबाव का। बिलकुल ठीक-ठीक नियमित रहने वाली प्रक्रियाएँ सम्पूर्ण देह के सन्तुलन को कायम रखने वाली प्रक्रियाओं के रूप में ही समझ में आती हैं। पूर्ण की अवस्था उद्देश्य या प्रत्यय जीवन के समस्त अंगों और घटनाओं में कार्य करने वाला सक्रिय प्रभाव है। जीवन एक गतिशील सन्तुलन है जिसमें अपने-आपको कायम रखने की प्रवृत्ति रहती है। जीवित अवयवियों के अवयव भौतिक अवयवियों के अवयवों से कम स्वतन्त्र होते हैं। किसी भौतिक पिण्ड का कोई भाग यदि अलग कर दिया जाए तो उससे उसके गुणों में कोई तात्त्विक परिवर्तन नहीं होता किन्तु जीवित अवयवियों में उनका आकार उनका ढाँचा और उनकी आन्तरिक रचना परस्पर-निर्भर है। जीवित वस्तु एक समग्र अवयवी वस्तु है और वह ऐसे कार्य करती है जो परमाणु कभी नहीं कर सकता। जीवित वस्तु अपने अनुभवों के परिणामों का संचयन करती है और कुछ आदतें बना लेती है। जीवित वस्तुओं में बाह्य परिस्थितियों के फलस्वरूप जो अनुक्रियाएँ होती हैं वे उनकी देह के भीतर कायम रहती हैं और उसे प्रभावित करती हैं।

परमाणु न तो अपने-आपको सुधार सकता है और न पुनर्जनन कर सकता है। जीवित वस्तु अपने-आपको अपने इर्द गिर्द के परिवेश के अनुकूल ढाल लेती है उसमें सिर्फ अपने परिवेश के परिवर्तनों की प्रतिक्रिया ही नहीं होती बल्कि वह उन पर अनुक्रिया भी करती है। जब किसी जीव को कोई चोट या क्षति पहुँचती है तो तुरन्त ही उसमें उस क्षति को भरने और दूर करने की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। पौधे का जब एक अंग काट दिया जाता है तो उसमें नया अंग अंकुरित होने लगता है। विकास की प्रक्रिया में जो परिवर्तन होते हैं वे एक खास किस्म के होते हैं। पुनर्जनन की प्रक्रिया जीवधारी के अपने ही एक भाग में आरम्भ होती है। जीवधारी देह की अत्यन्त जटिल भौतिक-रासायनिक संरचना आनुवंशिक रूप में पुनर्जनन की क्रिया में आगे हस्तान्तरित होती रहती है। एक विशेष से जीवधारी का परिवेश उसके लिए बाह्य या पराया नहीं होता बल्कि वह उसके जीवन में ही प्रविष्ट हो जाता है। जीवित देहधारी अपने परिवेश से ग्रहण की गई सामग्री से अपने-आपको पुष्ट करता है। दोनों का एक-दूसरे के साथ इतना अधिक सामञ्जस्य है कि उन्हें एक अन्य बृहत्तर पूर्ण की अभिव्यक्तियाँ माना जा सकता है। दोनों एक-दूसरे में इस तरह गुँथे हुए हैं कि उन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। जीवित वस्तुओं में एक विशिष्ट प्रकार का आन्तरिक निर्देशन होता है जिससे वे बढ़ती हैं अपनी टूट फूट की मरम्मत करती हैं पुनर्जनन करती हैं और बाह्य परिस्थितियों को अपने ही रूप में ढालती हैं। भौतिक वस्तु के सम्बन्ध में हमारा जो ज्ञान है वह हमें जीवन के सामञ्जस्यपूर्ण संघारण को समझने में सहायता नहीं देता। जीवन तथ्य का एक सर्वथा भिन्न रूप है।

११ प्राणवाद :

जीवनयुक्त और जीवन रहित वस्तुओं में जो स्पष्ट भेद है उससे कुछ शरीर क्रिया विज्ञानवेत्ताओं ने एक नये तत्त्व 'एण्टीलेकी' या 'अचेतन आत्मा' की कल्पना की और यह माना कि वह भौतिक प्रक्रियाओं को नियन्त्रित करती है। उनका कहना है कि जीवित वस्तुओं में आत्माएँ या 'एण्टीलेकी' छिपी हुई हैं। हान्स ड्रीश ने यह विचार अपने एक परीक्षण के आधार पर बनाया है जिसमें उसने एक समुद्री जीव (सी अर्चिन) के अण्डों को काट दिया फिर भी उन अण्डों में एक छोटे आकार के पूर्ण जीव उत्पन्न हो गए।

१ [illegible]

जो लोग जीवों को महज यन्त्र या भौतिक रासायनिक प्रक्रियाओं का सम्मिश्र मानते हैं उनके विरोध के रूप में प्राणवादी सिद्धान्त उपयोगी है। जीवित प्राणियों का विशिष्ट ढंग का व्यवहार और परमाणु की आन्तरिक क्रिया को एक नहीं माना जा सकता। प्राणवाद इस तथ्य पर बल देता है कि जीवन के प्रपञ्चों में एक समन्वित क्रिया रहती है जिसमें जीवित वस्तु के अलग-अलग हिस्सों का सम्पूर्ण अवयवी को बनाए रखने और उसके कार्य-कलापों के साथ सामञ्जस्य रहता है। अलग-अलग अंगों के विशिष्ट ढंग के अस्तित्व का मूल कारण समग्र अवयवी में निहित रहता है। जीवन के अनुभव एक मात्रही (स्थायी) और अविभाज्य-एकता की अभिव्यक्ति हैं। किन्तु यह प्राण-तत्त्व भौतिक अनुभव को प्रभावित करने वाली कोई अभौतिक वस्तु नहीं हो सकता। प्रोफेसर लोएब ने यह प्रदर्शित किया है कि एक अनभिषिक्त (अनफर्टिलाइज्ड) अण्डाणु में यदि सुई चुभाई जाए या इसी प्रकार का कोई और विक्षोभ पैदा किया जाए तो उसमें विभाजन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है और उसके सामान्य विकास को बढ़ावा मिलता है। इन विक्षोभों के बिना न तो अण्डाणु का विभाजन होता और न विकास। हमें इस बारे में ज्ञान नहीं है कि इस चुभन और अंडाणु के विकासोन्मुख परिवर्तनों में क्या सम्बन्ध है। प्रोफेसर लोएब ने सरल जीवों की क्रिया का कारण अभिवर्तन (ट्रोपिज्म) और प्रकाश ताप और दबाव आदि की प्रतिक्रिया बताया है। किन्तु यह स्पष्ट है कि भौतिक रासायनिक उद्दीपन जीव में अनेक प्रकार की सप्राण क्रिया पैदा करता है। इसके उत्तर में प्राणवादी कहते हैं कि प्राण भौतिक रासायनिक कारणों के साथ मिलकर क्रिया करता है। प्राण सिर्फ एक नियामक तत्त्व है उसे अपने कार्य के लिए भौतिक-रासायनिक प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। किन्तु यद्यपि जीवन के प्रपञ्च और घटनाएँ भौतिक परिस्थितियों पर निर्भर हैं तथापि यह हम नहीं जानते कि भौतिक परिस्थितियाँ जीवन के प्रपंचों को निर्धारित किस प्रकार करती हैं। विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो प्राणवाद सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि वह जीवनयुक्त सत्ताओं में घटित होनेवाली सब घटनाओं की व्याख्या का प्रयत्न करता है और हम उसकी व्याख्याओं की परीक्षा नहीं कर सकते। अनुभवी सत्ता के रूप में हमें केवल तथ्य के कथन पर प्रकृति के उस रूप के विवरण पर जिस रूप में कि वह जीवन के प्रपञ्चों में प्रकट होता है सन्तोष कर लेना चाहिए। जीवों में एक नये ढंग की संरचना उनकी प्रवृत्तियों

† मैकेनिस्टिक कन्सेप्शन ऑफ लाइफ (१६१२)।

प्र...(वि)शिष्ट प्रकार का समन्वय एक आयोजन होता है समग्र जीवित अव(यवों) के कार्य और उद्देश्य में उसके सब अंगों के भीतर से निर्धारण होता है जिसकी भौतिक विज्ञान की दृष्टि से कभी व्याख्या नहीं की जा सकती। विज्ञान की दृष्टि से तो एक ही बात सगत प्रतीत होती है कि जीव-विज्ञान-सम्बन्धी तथ्यों के लिए जिस अन्योन्य-सम्बन्ध की आवश्यकता होगी है वह भौतिक प्रपंचों के लिए आवश्यक अन्योन्य-सम्बन्ध से भिन्न है।

जीव-विज्ञान जीवन की कोई व्याख्या नहीं करता बल्कि वह उसे अव्याख्येय मानता है। उसकी दृष्टि में जीवन प्रकृति का ही एक भाग है जो भौतिक वस्तु से भिन्न है हालांकि जीवित प्राणियों पर भौतिक-विज्ञान और जीव विज्ञान की व्याख्याओं को लागू करने की गुंजायश है।

१२ विकास

भौतिक जगत् में सातत्य और परिवर्तन संरक्षता और प्रगति के जो गुण विद्यमान हैं उनकी तुलना में जीवन के जगत् में भी हम आनुवंशिकता और विभिन्नता देखते हैं। जीवित प्राणी अपनी संघटन योजना आनुवंशिक रूप में प्राप्त करते हैं और उसमें कुछ परिवर्तन भी कर लेते हैं। इन विभिन्नता से नयी संरचनाएँ नये अंग नये कार्य और नयी शक्तियाँ पैदा होती हैं। आज जो जीवित प्राणी हैं उनके पूर्वज सरल किस्म के प्राणी थे और स्पष्टतः शब्दों में क्रमिक विकास होकर आज के प्राणी बने हैं। जीव-जगत् में नयी प्राणि-जातियों की उत्पत्ति की व्याख्या-हेतु ही विकासवाद के सिद्धान्त की कल्पना की गयी है।

यदि भारत और ग्रीस के पुराने दर्शनशास्त्रों को छोड़ दिया जाय तो आधुनिक विकासवाद का सिद्धान्त मुख्यतः लिनीस (१७०७-१७७८) बफन (१७०७-१७८८) इरैस्मस डार्विन (१७३१-१८०२) लैमार्क (१७४४-१८२९) चार्ल्स डार्विन और उनके अनुयायियों के अध्ययन और खोजों का परिणाम है। यद्यपि लिनीस का यह विश्वास था कि वनस्पति और प्राणि दोनों की प्रत्येक जाति का अलग-अलग मूल-रूप में [illegible] था, तथापि [illegible] की पुस्तकों में उसने यह स्वीकार किया कि [illegible] प्राणियों [illegible] भी हो सकते जो उनकी मूल जातियों [illegible]। किन्तु [illegible] मान्यता थी कि इस परिवर्तन का [illegible] मूल [illegible] है। [illegible] में परिवर्तन से कभी ही [illegible]

प्रथी की भांति बिलकुल निश्चित है किन्तु वह यह मानने को तैयार नहीं था कि सृष्टि में वनस्पतियों और प्राणियों की सब मूल जातियों की योजना बिलकुल निर्दोष और पूर्ण है और उसमें अधिक पूर्णता नहीं लायी जा सकती। शरीर-रचना विज्ञान के अध्ययन के आधार पर उसने यह मत प्रकट किया कि मूल वनस्पति या प्राणि-जातियां की रचना योजनापूर्ण और निर्दोष नहीं है क्योंकि प्राणियों में कुछ ऐसे अंग भी होते हैं जिनकी उनके लिए या तो कोई आवश्यकता नहीं है या नाम मात्र की है और ये अंग अन्य प्राणियों से लिये गए प्रतीत होते हैं। इससे यह कल्पना की गई कि एक प्राणि-जाति के सदस्यों में परस्पर एक परिवार का-सा सादृश्य है और यह सम्भव है कि ये सदस्य किसी एक ही पूर्वज के विकास या ह्रास के परिणाम-स्वरूप पैदा हुए हों। उसने वनस्पतियों और प्राणियों में अपने परिवेश और परिस्थितियों में पैदा होने वाले परिवर्तनों के बारे में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें सुझायीं। एरेस्मस डार्विन और लैमार्क दोनों का मत था कि एक प्राणी के जीवन में परिस्थितियों के परिवर्तन से उसकी आदतों में परिवर्तन हो जाता है। आदतों के इस परिवर्तन से कुछ अंगों का उपयोग बढ़ जाता है और कुछ का घट जाता है जिससे अन्ततः आकार बदल जाता है। उनका कहना था कि इस प्रकार के 'उपार्जित लक्षण' ही आनुवंशिक रूप में प्राप्त किये जाते हैं।

माल्थस के 'ऐस्से आन दि प्रिंसिपल आफ पापुलेशन' (१७९८) के अध्ययन से डार्विन को यह बात सूझी कि 'प्रकृति द्वारा योग्य का चुनाव' भी प्राणि-जातियों में होने वाले क्रमिक उत्कर्ष या विकास को प्रभावित करने वाला कारण है। अपनी पुस्तक 'ओरिजिन ऑफ स्पीशीज' (१८५९) में उसने अपने विकासवाद के सिद्धान्त को विस्तार तर्क और प्रमाणों के साथ देते हुए बताया कि इस ग्रह (पृथ्वी) में प्राचीनतम प्राणियों से लेकर नवीनतम प्राणी—मानव—तक विकास की एक क्रमिक और सतत प्रक्रिया चली आ रही है। प्रकृति द्वारा चुनाव परिवर्तन और आनुवंशिकता द्वारा वर्तमान प्राणि जाति से नयी जातियां विकसित होती हैं। अकेले 'प्रकृति द्वारा चुनाव' से ही नये परिवर्तनों की पूरी व्याख्या नहीं की जा सकती। यह तो सिर्फ छांटकर अयोग्य को अलग कर देने की एक प्रक्रिया है, और अन्य दो कारणों परिवर्तन और आनुवंशिकता को मानकर चलती है। एरेस्मस डार्विन के अनुसार कोई भी दो प्राणी या वनस्पतियां बिलकुल एक जैसी नहीं हैं। यहां तक कि एक ही माता-पिता की सन्तान भी न केवल आपस में बल्कि अपने माता-पिता से भी कुछ-न-कुछ भिन्न होती हैं। उनमें जो नवीनताएं आती हैं उन्हें

में एक विशिष्ट प्रकार का समन्वय एक आयोजन होता है समग्र जीवित अव यवों के कार्य और उद्देश्य से उसके सब अंगों के भीतर से निर्धारित होता है जिसकी भौतिक विज्ञान की दृष्टि से कभी व्याख्या नहीं की जा सकती। विज्ञान की दृष्टि से तो एक ही बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि जीव-विज्ञान-सम्बन्धी तथ्यों के लिए जिस अन्योन्य-सम्बन्ध की आवश्यकता होती है वह भौतिक प्रपंचों के लिए आवश्यक अन्योन्य-सम्बन्ध से भिन्न है।

जीव-विज्ञान जीवन की कोई व्याख्या नहीं करता बल्कि वह उसे अव्या ख्येय मानता है। उसकी दृष्टि में जीवन प्रकृति का ही एक भाग है जो भौतिक वस्तु से भिन्न है इसलिए जीवित प्राणियों पर भौतिक-विज्ञान और जीव-विज्ञान की व्याख्याओं को लागू करने की गुंजायश है।

१२ विकास

भौतिक जगत् में सातत्य और परिवर्तन संरक्षता और प्रगति के जो गुण विद्यमान हैं उनकी तुलना में जीवन के जगत् में भी हम आनुवंशिकता और विभिन्नता देखते हैं। जीवित वंशी अपनी सघटन योजना आनुवंशिक रूप में प्राप्त करते हैं और उसमें कुछ परिवर्तन भी कर लेते हैं। इस विभिन्नता से नयी संरचनाएँ नये अंग नये कार्य और नयी शक्तियाँ पैदा होती हैं। आज जो जीवित प्राणी हैं उनके पूर्वज सरल किस्म के प्राणी थे और स्पष्टत उन्हीं में क्रमिक विकास होकर आज के प्राणी बने हैं। जीव-जगत् में नयी प्राणि-जातियों की उत्पत्ति की व्याख्या-हेतु ही विकासवाद के सिद्धान्त की कल्पना की गयी है।

यदि भारत और ग्रीस के पुराने दर्शनशास्त्रों को छोड़ दिया जाय तो आधुनिक विकासवाद का सिद्धान्त मुख्यत लिनीस (१७ ७ १७७८) बफन (१ ७-१७) इरेस्मस डार्विन (१७३१ १ २) लैमार्क (१७४४ १८२९) चार्ल्स डार्विन और उनके अनुयायियों के अध्ययन और खोजों का परिणाम है। यद्यपि लिनीस का यह विश्वास था कि वनस्पति और प्राणी वर्गों की प्रत्येक जाति का अलग अलग मूल-रूप में सृजन होता है, तथापि अपनी बाद की पुस्तकों में उसने यह स्वीकार किया कि वनस्पतियों और प्राणियों के ऐसे रूप भी हो सकते हैं जो उनकी मूल जातियों में सकट से पैदा हुए हों। किन्तु उसकी यह मान्यता थी कि इस परिवर्तन का परिणाम ह्रास होता है क्योंकि मूल वस्तु पूर्ण होती है। पूर्ण में परिवर्तन से कमी ही आती है। बफन का मत प्रारम्भ में यह था कि हर जीवित

अंगो की भांति बिलकुल निश्चित है किन्तु वह यह मानने को तैयार नहीं था कि *सृष्टि में वनस्पतियों और प्राणियों की सब मूल जातियां की योजना बिलकुल* निर्दोष और पूर्ण है और उसमें अधिक पूर्णता नहीं लायी जा सकती। शरीर-रचना विज्ञान के अध्ययन के आधार पर उसने यह मत प्रकट किया कि मूल वनस्पति या प्राणि-जातियां की रचना योजनापूर्ण और निर्दोष नहीं है क्योंकि प्राणियों में कुछ ऐसे अंग भी होते हैं जिनकी उनके लिए या तो कोई आवश्यकता नहीं है या नाम मात्र की है और ये अंग अन्य प्राणियों से लिये गए प्रतीत होते हैं। इससे यह कल्पना की गई कि एक प्राणि-जाति के सदस्यों में परस्पर एक परिवार का-सा सादृश्य है और यह सम्भव है कि ये सदस्य किसी एक ही पूर्वज के विकास या ह्रास के परिणाम-स्वरूप पैदा हुए हों। उसने वनस्पतियों और प्राणियों में अपने परिवेश और परिस्थितियों में पैदा होने वाले परिवर्तनों के बारे में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें सुझायीं। एरैस्मस डार्विन और लैमार्क दोनों का मत था कि एक प्राणी के जीवन में परिस्थितियों के परिवर्तन से उसकी आदतों में परिवर्तन हो जाता है। आदतों के इस परिवर्तन से कुछ अंगों का उपयोग बढ़ जाता है और कुछ का घट जाता है जिससे अन्ततः आकार बदल जाता है। उनका कहना था कि इस प्रकार से 'उपार्जित लक्षण' ही आनुवंशिक रूप में प्राप्त किये जाते हैं।

माल्थस के 'ऐस्से आन दि प्रिंसिपल ऑफ पापुलेशन' (१७) के अध्ययन से डार्विन को यह बात सूझी कि प्रकृति द्वारा योग्य का चुनाव भी प्राणि-जातियों में होने वाले क्रमिक उत्कर्ष या विकास को प्रभावित करने वाला कारण है। अपनी पुस्तक 'ओरिजिन ऑफ स्पीशीज' (१ ५९) में उसने प्रथम विकासवाद के सिद्धान्त को विस्तार तर्क और प्रमाणों के साथ देते हुए बताया कि इस ग्रह (पृथ्वी) में प्राचीनतम प्राणियों से लेकर नवीनतम प्राणी—मानव—तक विकास की एक क्रमिक और अनन्त प्रक्रिया चली आ रही है। प्रकृति द्वारा चुनाव परिवर्तन और आनुवंशिकता द्वारा वर्तमान प्राणि जाति से नयी जातियां विकसित होती हैं। परन्तु प्रकृति द्वारा चुनाव से ही नए परिवर्तनों की पूरी व्याख्या नहीं की जा सकती। यह तो सिर्फ छानकर अयोग्य को अलग कर देने की एक प्रक्रिया है और नए या नाटकीय परिवर्तन और आनुवंशिकता को मानकर चलती है। एरैस्मस डार्विन के अनुसार कोई भी दो प्राणी या वनस्पतियां बिलकुल एक-जैसी नहीं हैं। यहां तक कि एक ही माता-पिता की सन्तान भी न केवल आपस में बल्कि अपने माता पिता से भी कुछ-न-कुछ भिन्न होती हैं। उनमें जो नवीनताएं आती हैं उन्हें

विभिन्नता (वैरियेशन) कहा जाता है। यदि इस नयी विभिन्नता को बाद में आने वाली सन्तान अपनी माता या पिता से वंशागत रूप में प्राप्त नहीं करती तो उसका विकास की शृङ्खला में कोई प्रत्यक्ष मूल्य नहीं होता। आनुवंशिकता के सिद्धान्त से हमें यह पता चलता है कि माता पिता में जो विशेषताएँ होती हैं उनकी थोड़ी बहुत मात्रा में सन्तानों में भी हस्तान्तरित होने की प्रवृत्ति रहती है। जब विभिन्न कारणों के फलस्वरूप कुछ नये लक्षण पैदा होते हैं तब प्रकृति इस बात का चुनाव और निश्चय करती है कि वे कायम रहें या नष्ट हो जाएँ। यदि ये नये लक्षण अपने परिवेश के साथ सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर पाते तो जीवन की प्रतियोगिता में वे नष्ट हो जाते हैं। किन्तु यदि इन लक्षणों से प्राणियों में जीवन-संघर्ष की क्षमता बढ़ जाए तो वे लक्षण कायम रहते हैं। संघर्ष में जो सफल रहते हैं उनकी भावी सन्तानों में ये अनुकूल परिवर्तित लक्षण अपने माता-पिता की अपेक्षा अधिक प्रबल होते हैं और इस प्रकार क्रमशः अनेक पीढ़ियों तक इन परिवर्तित लक्षणों के थोड़ा-थोड़ा कर संचित होने से प्राणियों की नयी किस्म तैयार हो जाती है और उनकी जड़ पक्की हो जाती है।

डार्विन और लामार्क के बाद यह अनुभव किया गया कि विकास की मंजिलें क्रमशः नहीं आतीं बल्कि छलांग भरकर आती हैं। बेटसन ने यह सिद्ध किया कि अनेक बार विकास के क्रम में [illegible] परिवर्तन प्रकट नहीं होता। ह्यूगो डि व्रीस के अनुसार परिवर्तन छलांग भी हो सकते हैं और आकस्मिक भी। छलांग होने वाले परिवर्तनों को उद्भवन (म्यूटेशन) कहा जाता है और या [illegible]-आकस्मिक होने वाले परिवर्तनों को विचलन ([illegible]) कहा जाता है। डि व्रीस का कहना था कि सतत विविध प्रगति या विकास का कारण बड़े और स्पष्ट परिवर्तन या उद्भवन होते हैं। उद्भवन स्वतन्त्र रूप से अचानक हो जाते हैं और मैंडल ने वंशानुगत ([illegible]) के सिद्धान्त को सिद्ध किया है।

[illegible] के उपार्जित लक्षणों के सम्बन्ध में ([illegible]) [illegible] सिद्धान्त का [illegible] किया जिससे डार्विन और लेमार्क [illegible] विकास का [illegible] द्रव्य (जर्मप्लाज्म) और शरीर द्रव्य ([illegible]) [illegible] किया और [illegible] किया कि जीव के शरीर में [illegible] [illegible] [illegible] हो सकते हैं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] विभिन्नताएँ [illegible] [illegible] [illegible] विभिन्नताएँ प्रकट नहीं होतीं।

विभिन्नताओं की, चाहे वे छोटी हों या बड़ी, क्रमिक हों या एकाएक होने वाली, हम किस प्रकार व्याख्या कर सकते हैं? उनका कारण वातावरण और परिस्थिति नहीं हो सकता क्योंकि विभिन्नता कभी किन्हीं परिस्थितियों के अनुसार अपने-आपको नियमतः ढाल लेती है, विभिन्नता रहित विस्म भी उसका कम नहीं समझती। बाह्यमान का भौतिक आवश्यकता का सिद्धान्त भी उनकी व्याख्या नहीं कर सकता। डार्विन का यह विचार कि ये विभिन्नताएँ एकाएक सम्भव हो जाती हैं, एक तरह से इन विभिन्नताओं के मूल कारण की व्याख्या करने में असमर्थता को स्वीकार करना है। आँख-जैसी जटिल इन्द्रियाँ आकस्मिक विभिन्नताओं की शृंखला और आकस्मिक प्रतियोगिता (सरवाइवल) का परिणाम नहीं हो सकतीं। परिवर्तन और विभिन्नताएँ अकेली नहीं आतीं, बल्कि सम्मिश्रित रूप में आती हैं जिसमें अनेक मामूली और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन और विभिन्नताएँ मिली होती हैं। हर विभिन्नता अलग और स्वतन्त्र नहीं होती। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्राणी 'समग्र' रूप में बदलता है।

बेर्गसां का कहना है कि मोलस्को (घोंघे की जाति का एक लघु जीव) में क्रमिक विकास से स पृथक हुए एक आँख बन जाती है जो स्वतन्त्र रूप से उन्नत कशेरुकदण्डी (रीढ़ की हड्डी वाले) जीवों की आँख से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। विभिन्न मार्गों से चलने वाले विभिन्न-जातीय प्राणियों में ये एक ही जैसे परिणाम क्यों प्रकट होते हैं? यदि ये छोटी-छोटी विभिन्नताएँ सर्वथा आकस्मिक हैं तो वे विकास की दो अलग-अलग शृंखलाओं में कैसे होती हैं? इन समान विभिन्नताओं से प्रतीत होता है कि इन दोनों विकास-शृंखलाओं वाले जीवों में इस उपयोगी उद्देश्य के लिए सामान्य प्रेरणा रही होगी। विकास में केवल यान्त्रिक प्रेरणाएँ ही नहीं हैं, बल्कि इनसे कुछ अधिक और भिन्न प्रेरणाएँ भी होती होंगी। बेर्गसां का मत है कि हर प्राणि-जाति में कुछ-न-कुछ 'चरम' (चौग्म) का तत्त्व विद्यमान है और उस तत्त्व के कारण विभिन्न मार्गों से यात्रा करती हुई वे एक ही लक्ष्य पर पहुँच जाती हैं।[1] नयी स्थिति पैदा होने पर प्राणि जगत् के समस्त सत्ता में विद्यमान सामान्य 'प्रेरणा' उन्हें एक नए तरीके से उसका सामना करने के लिए प्रयत्न करती है। यदि व्यवहार का यह अनोखा इस नया तरीका स्थायी हो जाता है तो प्राकृतिक चयन (नेचरल सिलेक्शन) नवागत अनुकूल विभिन्नताओं को स्थायी और प्रतिकूल विभिन्नताओं का विनाश कर

१ [illegible] पृ० ५१–६६।

देता है। बेर्गसाँ के अनुसार आन्तरिक प्रेरणा या जीवन-बल या ऊर्ध्वमुख प्रवृत्ति ही समस्त प्राणि-जाति को एक *निश्चित दिशा की ओर प्रेरित करती है।* उसका विचार लैमार्क के दृष्टिकोण से मिलता-जुलता है। लैमार्क के अनुसार नयी परिस्थितियाँ और नया वातावरण नयी आवश्यकताएँ पैदा करते हैं और ये नये कार्यों के लिए प्रेरणा देते हैं। अपनी परिस्थितियों में सुधार का प्रयत्न करते हुए प्राणी नये परिवर्तन उपार्जित करते हैं और उन्हें अपनी अगली पीढ़ियों में सञ्चारित कर देते हैं। यदि हम बेर्गसाँ और लैमार्क की इस मान्यता को स्वीकार न करें कि प्राणियों के भीतर गहराई में एक आन्तरिक आकांक्षा और चेष्टा रहती है जो उन्हें जीवन के उच्चतर आकारों की ओर ले जाती है तो हम उनमें नये अंगों की उत्पत्ति विभिन्नताओं के उद्‌भव और उनके समन्वय की खास तौर से तब जबकि हमें उनकी कोई उपयोगिता नजर नहीं आती कोई व्याख्या नहीं कर सकते। जीवों की उच्चतर आकार की प्राप्ति की यह चेष्टा सकारात्मक प्रयत्न है और उसी के कारण विकास होता है। होर्मे (प्रेरक-शक्ति) का सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि हर प्राणी में एक विशेष स्वभाव होता है, जिसके द्वारा वह कुछ सीमित उद्देश्यों के लिए प्रयत्न करता है। विभिन्न प्राणि-जातियों की हार्म-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ जीवित रहने की आद्य प्रेरणा के ही विभिन्न रूप हैं। प्राणियों में विकास की शृंखला में जो विभिन्नताएँ पैदा होती हैं वे नयी परिस्थितियों का मुकाबला करने के उनके प्रयत्न होते हैं।

लैमार्क के उपार्जित लक्षणों के संचरण के सिद्धान्त पर इस आधार पर आपत्ति की जाती है कि शरीर में ऐसा कोई मार्ग नहीं है जिससे जीव में होने वाले परिवर्तन बीज उसके रूप या आकार का बड़ा हो जाना उसके जनन-कोष में प्रतिफलित हो जाएँ और इस बात का भी कोई परीक्षणात्मक प्रमाण नहीं है कि प्राणी जब किसी अंग का उपयोग करता है या उसका उपयोग छोड़ देता है तो उसकी यह आदत उसकी आने की पीढ़ियों में भी सञ्चारित होती है। किन्तु वास्तव में बात यह है कि यदि हम यह नहीं जानते कि शरीर में होने वाले परिवर्तनों की जनन-कोषों पर किस ढंग से प्रतिक्रिया होती है तो सिर्फ अपने इस अज्ञान के कारण हमें यह कहने का अधिकार नहीं हो जाता कि वह प्रतिक्रिया होती ही नहीं। जिन परिस्थितियों में हम परीक्षा कर सकते हैं वे परिस्थितियाँ ऐसी नहीं हैं कि वे इस सम्बन्ध में किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचा सकें। इन परीक्षणों में हमें बाह्य हस्तक्षेप से ही किसी प्रकार जीव में ये परिवर्तन पैदा करने पड़ते हैं, इसलिए

भिन्न आकारों के मध्य विभाजक-रेखाओं को ही मिटाया। हर्बर्ट स्पेन्सर ने डार्विन के कथनों और विचारों के आधार पर एक दार्शनिक विचारधारा का निर्माण किया और ऐसा प्रतीत होता है कि उस विचारधारा से वह जीवन हीन से जीवन-युक्त की और मानस-हीन से मानस-युक्त की उत्पत्ति सिद्ध कर सका। उसका कहना है कि जीवन-हीन और जीवन-युक्त में और मानस-हीन और मानस-युक्त मे अन्तर सिर्फ उनकी रचना की सम्मिश्रता और जटिलता में कमो-बेशी के कारण ही है।

विकासवाद वास्तव में जीवन की कोई व्याख्या नही है। वह यह नही बताता कि जीवन की प्रक्रिया क्यों होनी चाहिए थी या स्वयं जीवन ही क्यों होना चाहिए था। योग्यतम की अतिजीविता (सरवाइवल ग्र फ दि फिटेस्ट) की कल्पना इस सम्बन्ध मे हमें अधिक आगे नही ले जाती। जीवन में भौतिक वस्तु का अपेक्षा जिससे उसका उद्भव कल्पित किया जाता है अतिजीविता की क्षमता बहुत कम है। एक चट्टान करोड़ों वर्ष तक कायम रह सकती है जब कि पुराने-से-पुराने वृक्ष की आयु भी सिर्फ कुछ हजार वर्ष ही होती है। यदि अति जीविता ही प्रकृति का परम ध्येय होता तो जीवन का उद्भव कभी होता ही नही। जीव-विज्ञान के अध्ययन के फलस्वरूप सिर्फ ये तथ्य ही देखने मे आते है कि जीवन के क्षेत्र में घटित होने वाले प्रपंच या घटनाएँ बिलकुल भिन्न होती है और उनमे बराबर नवीनताओं का उद्भव होता रहता है पौधे और प्राणी जड़ और नियत नही हैं और अन्य आकारों से उनका विकास हुआ है बल्कि समस्त जैविक जगत् मे धीरे धीरे विकास हुआ है और आन्तरिक प्रवृत्तियों एव बाह्य परिस्थितियों के दबाव ने उसके विकास को एक निश्चित आकार प्रदान किया है।

भौतिक जगत् में हम जो विशिष्ट सत्ता पाते है वे जीवन-युक्त वस्तुओं मे और भी अधिक मात्रा मे पाये जाते हैं। ये जीवन-युक्त वस्तुएँ पारमाणविक सत्ताओं से भिन्न श्रेणी के तथ्य की द्योतक है और परमाणु की अपेक्षा यथार्थ के अधिक निकट हैं। वे (जीव) अलग-अलग पूर्ण सत्ता है और उसी रूप में कार्य करते है। अपने आन्तरिक और बाह्य परिवेश में वे स्थिरता बनाये रखते है। जीव और उसकी बाह्य परिस्थितियों के बीच म कोई विभाजक रेखा नहीं होती। वे दोनो ही एक बृहत्तर पूर्ण की अभिव्यक्ति है और उसमें दोनों का समावेश है। एक तरफ वे अपने ढाँचे और आकार को स्थिर रखते हैं और दूसरी तरफ उनमे सर्जनात्मक परिवर्तन भी होते है। भौतिक विज्ञान और जीव-विज्ञान दोनों में से

वाली तन्त्रिका-सम्बन्धी (न्यूरोसोफिकल) घटना नहीं बताया जा सकता बल्कि वह जीवन की बाद में विकसित और विशिष्ट प्रवस्थता की परिणामभूत क्रिया है।

यद्यपि तन्त्रिका-सम्बन्धी (स्नायविक या मस्तिष्क-सम्बन्धी) और भौतिक घटनाओं से परस्पर-सम्बन्ध है किन्तु दोनों को एक नहीं माना जा सकता। प्रोफ़ेसर वाटसन ने चेतन-व्यवहार को प्रतिवर्त क्रिया (रिफ्लेक्स एक्शन) का परिणाम सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि कुछ सहज क्रियाएँ या प्रतिवर्त जो किसी एक प्राणि-जाति के सब सदस्यों में समान रूप से होते हैं सब प्रकार के व्यवहारों के आधार होते हैं। शरीर-क्रिया-सम्बन्धी सबक आनु वंशिक रूप से प्राप्त होते हैं और अभ्यानुकूलन से उनकी आदत बन जाने का परिणाम जटिल व्यवहार होता है। इस विचार की पुष्टि में 'अभ्यनुकूलित प्रतिवर्तों' पर प्रोफ़ेसर पावलोव द्वारा किये गए परीक्षण प्रमाण के रूप में पेश किये जाते हैं। यदि हम एक कुत्ते के सामने भोजन ले जाएँ तो उसके मुंह में पानी आ जाता है। भोजन का उद्दीपन उसकी लार-ग्रन्थि की अनुक्रिया पैदा करता है जो एक अनभ्यनुकूलित या निरपेक्ष प्रतिवर्त (सहज-क्रिया) है। किन्तु यदि भोजन देने के साथ या उससे एकदम पहले घण्टी बजाई जाए और यह क्रिया बार-बार दोहराई जाए तो कुत्ते में एक अभ्यनुकूलित प्रतिवर्त पैदा हो जाएगा और घण्टी बजते ही कुत्ते के मुँह में पानी आ जाएगा चाहे भोजन उसके सामने रखा जाए या नहीं। अतः कुत्ते में लार-ग्रन्थि की अनुक्रिया एक नये उद्दीपन के कारण होगी जो अभ्यनुकूलन से पहले उद्दीपन का सहचारी हो गया है। मन की क्रियाएँ भी शरीर की गतियों की तरह मात्र अनुक्रियाओं के सम्मिश्रित अभ्यनुकूलन का परिणाम हैं। चेतना शरीर-क्रिया की अवास्तविक सहचरी है।

किन्तु अभ्यनुकूलित प्रतिवर्त बुद्धियुक्त अनुकूलन नहीं है। बुद्धियुक्त अनु कूलन कोई यत्किंचित् प्रक्रिया (रैंडम प्रोसेस) नहीं होता न वह एक क्रिया की बार-बार आवृत्ति से उत्पन्न अनुकूलन होता है, बल्कि वह सोच-समझकर अधिक प्रत्यक्ष रूप में किया जाता है। यह कोई यान्त्रिक ढंग की आदत नहीं है बल्कि मननात्मक शक्ति है। व्यवहार हमें नज़र नहीं आता हमें नज़र सिर्फ़ गतियाँ आती हैं। गतियों को ही व्यवहार मान लेना जीव द्वारा समग्र रूप से की गई क्रिया और उसके आन्तरिक निदेशन को एक मान लेने जैसा है। एक चेतन जीव एक अर्थ को अभिव्यक्त करता है और उसके साथ उसका तादात्म्य होता है। जिन प्राणियों का प्रमस्तिष्क (सेरिब्रम) नष्ट हो जाता है, वे सम्मिश्र प्रतिवर्त

का अनुमान कभी नहीं लगा सकेंगे। जिस प्रकार एक जीवन-युक्त प्राणी जीवन रहित वस्तु की अपेक्षा अधिक संगठित पूर्ण होता है और उसके अंगों में भी उसके भागों की अपेक्षा परस्पर-सम्बद्धता होती है उसी प्रकार मन भी शरीर की अपेक्षा अधिक आत्म-विनियमित और नियन्त्रित होता है। जीव के जीव-विज्ञान सम्बन्धी अध्ययन से उसको जाना और समझा नहीं जा सकता। अरस्तू का कहना है कि आत्मा का शरीर के साथ वही सम्बन्ध है जो दृष्टि का आँख के साथ या कुठारत्व का कुठार के साथ। आँख की भौतिक विज्ञान या शरीर क्रिया विज्ञान-सम्बन्धी रचना का कितना भी विस्तृत अध्ययन किया जाए तो भी दृष्टि (साइट) की व्याख्या उसी तरह नहीं की जा सकती जिस तरह कुल्हाड़ के आकार और उसकी रचना का चाहे जितना अध्ययन करने पर भी उसकी काटने की क्रिया की व्याख्या नहीं की जा सकती। आत्मा मनुष्य के आंगिक देह की वास्तविकता है, जिस प्रकार दृष्टि आँख की वास्तविकता है। हम मनोविज्ञान को भौतिक विज्ञान या शरीर-क्रिया-विज्ञान में परिणत नहीं कर सकते। यह ठीक है कि चेतन की उत्पत्ति प्राण से होती है, फिर भी वह उतना ही यथार्थ है जितना कि प्राण जोकि एक जीव-विज्ञान-सम्बन्धी वस्तु है। चेतना प्राण और प्राणेतर वस्तुओं के बीच पारस्परिक क्रिया की द्योतक है।

बाह्य परिवेश चेतन जीवों से सर्वथा असम्बद्ध और पृथक नहीं है। चेतन जीवों के साथ सम्बन्ध से ही उसका अस्तित्व है। जिस संसार में चेतन जीव रहते हैं वह भौतिक संसार नहीं है। व्यक्ति और उनके इर्द-गिर्द की परिस्थितियाँ और वातावरण मिलकर एक पूर्ण का निर्माण करते हैं। व्यक्ति दूसरों के बीच में रहते हैं और उनके साथ संघर्ष करते हैं।

जिस प्रकार भौतिक विज्ञान में कारणता और अनवधारणत्मकता (कॉजेशन और क्रिएटिविटी) के और जीव विज्ञान में वंशानुगतता और विभिन्नता (हैरेडिटी और वेरियेशन) के मूल तत्त्व हैं, उसी प्रकार यहाँ भी हमें होर्म (टी पी नन) और म्नेमे (सेमन) के सर्वव्यापी तत्त्व मिलते हैं जिन्हें मानवीय स्तर पर प्रेरक शक्ति और स्मृति कहा जा सकता है। सविनता के नये लक्षणों और विचार के तरीकों का विकास होर्म-सम्बन्धी प्रवृत्तियों के कारण होता है। इससे इस विचार का भी समर्थन होता है कि विभिन्न प्राणि-जातियों की वंशागत प्रकृति में विभिन्नता जीवों के उन प्रयत्नों का परिणाम है जो उन्हें परिवर्तित परिस्थितियों में नई शक्तियों और नये कार्यों के विकास के लिए करने पड़ते हैं।

हुआ है उस दबाने वाले 'ज्ञान होने' की तिक तथ्य में, चाहे वह कितना भी विशाल हो, अन्तर्भूत हुआ पड़ा है। ज्ञान मानवीय चेतना का विशिष्ट विभेदक लक्षण है और वह एक ऐसा अन्तिम तथ्य है जो किसी अन्य कारण का कार्य नहीं है। हम ज्ञान का विश्लेषण करके बता सकते हैं कि उसकी अन्तर्वस्तु क्या है किन्तु यह नहीं बता सकते कि ज्ञान का कारण क्या है, वह क्यों पैदा हुआ।

किन्तु मानव सर्वथा भिन्न प्राणी नहीं है। उसकी रचना के भीतर उसके मूल स्रोत के चिह्न मौजूद हैं—ये चिह्न हैं उसके शरीर की दुर्बलता, उसके जीवन का मर्यादित और उसके मन का सीमा में आबद्ध होना। वह भौतिक प्राणवान् और वास्तविक जीवन से विकसित होकर मानव बना है। वह विश्व-प्रकृति का एक भाग है। प्रकृति के सातत्य में से काटकर गढ़ा गया अनोखा प्राणी है। जिस प्रकार प्राणी मानव का ह्रास रूप नहीं है, उसी प्रकार मानव भी केवल प्राणी का विकसित रूप नहीं है। दोनों के बीच में एक खाई है। कितना भी वैज्ञानिक अनुसंधान और अध्ययन किया जाए, वह हमें इस विस्मयकारी परिवर्तन की व्याख्या करने में सहायता नहीं दे सकता।

कभी-कभी मनुष्य को भी महज एक प्राणी (जन्तु) सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। व्यवहारवादी मनोविज्ञान की यह मान्यता है कि मानवीय व्यवहार का भी उसी प्रकार अवलोकन किया जा सकता है जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञानों का। उसका कहना है कि मनोविज्ञान को भी एक विज्ञान के रूप में अपने-आपको केवल परीक्षणात्मक अवलोकन और अध्ययन तक ही सीमित रखना चाहिए। उसका व्यक्तिगत अनुभवों, मूल्यों और प्रयोजनों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

किन्तु व्यवहारवाद की अपूर्णता मानवीय स्तर पर और भी स्पष्ट नजर आती है। मानवीय व्यवहार को केवल प्रतिवर्त क्रिया बताना भ्रम का अपलाप है। अन्तर्दर्शन से उपलब्ध सामग्री मनोविज्ञान के साथ असंगत नहीं है। शरीर को अन्तर्दर्शन से हम जिस रूप में देखते हैं वह बाह्य अवलोकन से ज्ञात होने वाले उसके रूप से भिन्न है। व्यवहार के बाह्य रूपों के अवलोकन से हमें व्यक्ति के बारे में कुछ ज्ञात नहीं होता, जो उन अनुभवों को अन्दर से सजीव रूप से प्राप्त करता है। व्यक्ति के अनुभव अव्यवहित अनुभव हैं और दूसरों तक व्यवहित रूप में ही पहुँचाए जा सकते हैं। यद्यपि सभी जीव अपने स्वास्थ्य और अपनी सत्ता की पूर्णता की रक्षा का प्रयत्न करते हैं और अपने तात्त्विक अंगों में एकता स्थापित

करने और उसका पूर्ण विकास करने के लिए प्रयत्न करते हैं, तथापि मानव ही एकमात्र ऐसा जीव है जो प्रयत्न से और इच्छापूर्वक ऐसा करता है। प्रकृति की अन्य वस्तुओं में जो कुछ नैसर्गिक रूप में विद्यमान है, मनुष्य को उसे प्रयत्न और चेष्टा से प्राप्त करना पड़ता है। अनुकूलित प्रतिवर्तों का सिद्धान्त बुद्धियुक्त व्यवहार की व्याख्या नहीं कर सकता।[1] यदि व्यवहारवादियों का कथन सही हो तो मनुष्य महज अपनी परिस्थितियों का दास हो जाएगा, उसकी अपनी कोई प्रतिष्ठा या स्वतन्त्रता नहीं होगी। उसका अर्थ यह होगा कि मनुष्य परिवर्तित परिस्थितियों के प्रति स्वचालित यन्त्र की भाँति अनुकूलित और अननुकूलित प्रतिवर्तों से स्वतः अनुक्रिया करता है। उसका संघर्ष और कष्ट-सहन से आत्म-सुधार और आत्म-विकास में सोच-समझकर अपने-आपको ऊँचा उठाने का प्रयत्न निरर्थक है। यदि हम एक थैले में टाइप के अक्षरों का एक ढेर डालकर उसे हिलाएँ तो वाट्सन की पुस्तक 'बिहेवियरिज्म' (व्यवहारवाद) तैयार हो जाएगी, बशर्ते कि उसे हिलाने के लिए समय की कोई अवधि और कैद न हो। इस प्रकार के दृष्टिकोण में 'मनोवृत्ति' का कोई अर्थ नहीं रह जाता और उसका अपना सत्य भी व्यर्थ हो जाता है। यदि मनुष्य का सोचना इस तरह का है जैसे पत्थर का पहाड़ी से अपने-आप नीचे लुढ़कना, तो उसका अर्थ यह होगा कि उसका विचार पूर्वतः निर्धारित नियमों के अनुसार है और उसे सही या गलत नहीं बताया जा सकता।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में बात इससे उलटी होती है। वहाँ मानसिक प्रपंच कारण-रूप उपादान है और भौतिक व्यवहार की वैयक्तिक इतिहास के रूप में व्याख्या की जा सकती है। यह विश्लेषण वस्तुनिष्ठ दृष्टि से नहीं किया जा सकता। इसीलिए हम व्यक्ति में उसके स्वप्नों और वैचारिक साहचर्य के बारे में प्रश्न करने पड़ते हैं। हमारे मन का अधिकतर भाग हमसे छिपा रहता है। वह दबा हुआ होता है, फिर भी जागरण-काल की हमारी चेतना को प्रभावित करता

[1] प्रोफेसर लाश्ले ने लिखा है : 'यह समझना कि मस्तिष्क (कॉर्टेक्स) की क्रिया को स्पष्ट करने के लिए उठाये जानेवाले इन प्रारम्भिक कदमों से मनुष्य की उच्च मानसिक क्रियाओं की उलझन-भरी समस्याएं हल की जा सकती हैं, बहुत बड़ा भ्रम पैदा करना है, खास तौर से इस वजह कि हम यह जानते हैं कि इस समय तक हमने जो अनुसन्धान और अध्ययन किया है, उसके परिणामों को हम व्यापक रूप से मनुष्य पर लागू नहीं कर सकते।' 'बिहेवियरिज्म एंड फिनोमिनोलॉजी', विन द्वारा सम्पादित (१९६४), पृष्ठ ४)।

है। मनोवैज्ञानिक जिसे 'अचेतन' कहता है और व्यवहारवादी जिसे 'जीवविज्ञान सम्बन्धी' कहता है, वे दोनों एक ही नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि अचेतन और चेतन दोनों एक समग्र पूर्ण के दो भाग हैं।

व्यवहारवादी और मनोविज्ञान विश्लेषक शरीर और मन को अलग-अलग मानते हैं, किन्तु गेस्टाल्ट सिद्धान्त के समर्थक 'मन-शरीर' को एक समष्टि समझते हैं। वे मानसिक-भौतिक क्षेत्र में बनत और आकृति के महत्व पर बल देते हैं। ठीक-ठीक कहा जाए तो हम यह कह सकते है कि संसार में केवल एक ही समष्टि है और वह है सम्पूर्ण सत्ता। किन्तु क्रियात्मक सुविधा के लिए हम उस समष्टि में से भी बहुत सी अलग अलग पूर्णताओं की समष्टियां बना लेते हैं। उदाहरण के लिए चलने की प्रक्रिया को ही लीजिए। हम उसकी व्याख्या तभी कर सकते हैं जबकि हम शरीर और संसार दोनों के स्वरूप पर, क्योंकि दोनों परस्पर क्रिया करते हैं विचार करें। हम पानी पर नहीं चल सकते क्योंकि हमारे शरीर और पानी के स्वरूप अलग-अलग है। फिर भी क्रियात्मक प्रयोजनों के लिए हम अपने 'स्व' को एक ऐसी प्रणाली के रूप में मान लेते हैं जो एक बृहत्तर समष्टि के भीतर कार्य करती है। मनोवैज्ञानिक समष्टि को भी हम दो भागों में बाँट लेते है—एक स्व और दूसरी बाह्य परिस्थितियां। मनोविज्ञान 'स्व' (आत्मा) की प्रकृति का अध्ययन करता है जो अपने-आपमें सापेक्ष दृष्टि से एक समष्टि है। 'घोस्ट' (ऐपिफेटेस) यानी 'आत्मा' और ऑटोमेटस (देकार्त) यानी 'स्वचलता तत्त्व' से देह को जोड़ देने से मानव नहीं बन जाता। वह एक समष्टि के रूप में कार्य करता है, अलग-अलग भागों के रूप में नहीं।

परमाणुवादी मनोविज्ञान जो चेतना की धारा को अलग-अलग इकाइयों में विश्लिष्ट करता है और इस बात पर बल देता है कि चेतना की यह धारा इन अलग-अलग इकाइयों की पारस्परिक क्रिया का परिणाम है अब पुराना पड़ गया है। मनोवैज्ञानिक प्रमाणों से इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती। मस्तिष्क के कार्यों को अलग-अलग अंगों में होने वाली पृथक-पृथक इकाइयों में नहीं बांटा जा सकता। शरीर की किसी भी क्रिया में होने वाली मस्तिष्क की प्रक्रिया का विशिष्ट लक्षण समूची प्रक्रिया का लक्षण है समूचे क्षेत्र की विशिष्टता है वह अलग-अलग अंगों में घटित होने वाली अलग-अलग प्रक्रियाओं का जोड़ नहीं है। गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का मत है कि चेतना की धारा विभिन्न घटकों (इकाइयों) का जोड़ नहीं है बल्कि वह एक ऐसी बनत और आकृति है जिसमें हर अलग अलग भाग समष्टि

के स्वरूप से निर्धारित होता है और स्वयं समष्टि के रूप को निर्धारित करता है। विचार और उनके सम्बन्ध अधीन भावों की एकीकृत समष्टियाँ हैं अलग-अलग घटकों का यान्त्रिक जोड़ नहीं है। 'स्व' भी एक समष्टि है जो उसके भाग के जोड़ से कुछ अधिक है। वह एक सक्रिय सजीव समष्टि है विकासवादी प्रक्रिया में उसके लिए नवीनतम शब्द 'शरीर-मन' है।

२ 'स्व' एक प्रांगिक समष्टि

मानवीय 'स्व' विश्व की प्रक्रिया का एक उद्बुद्ध पहलू है, वह स्वयं इस प्रक्रिया से भिन्न कोई द्रव्य नहीं है। जगत का आकृतित्व या स्वामित्व ही किसी वस्तु या 'स्व' का ऐक्य है। यद्यपि शरीर का हरेक घटक बदलता रहता है तो भी शरीर एक प्रांगिक और व्यवस्थित इकाई के रूप में स्थायी तौर पर बना रहता है। यही बात मानवीय स्व (आत्मा) के बारे में है जो विभिन्न भावों से मिलकर बनी हुई एकीकृत संरचना है। यद्यपि उसके कुछ तत्त्व अस्थायी और क्षणिक हैं तो भी उसकी प्रांगिक संरचना स्थायी रूप से बनी रहती है।

दार्शनिक इतिहास में व्यक्तिगत 'स्व' की कल्पना अक्सर उसी ढंग की की गई है जिस ढंग की कल्पना एक भौतिक वस्तु की की जाती है। यह कहा जाता है कि उसमें एक ऐसी आन्तरिक यथार्थ वस्तु है जो उसके गुणों और अवस्थाओं के समस्त परिवर्तनों में भी अपरिवर्तित बनी रहती है। वह 'स्व' के साथ तादात्म्य रखने वाली एक अव्यय वस्तु है जो उससे सम्बद्ध अनुभवों से कुछ भिन्न होती है। पश्चिमी दर्शन ने एक अविनाशीय आत्म द्रव्य की जो स्वभावतः अमर है कल्पना प्लेटो से ली है। आत्मा क्योंकि किन्हीं वस्तुओं के मिलने से नहीं बनी है इसलिए उसे विघटित नहीं किया जा सकता। धार्मिक तार्किकों का कहना है कि आत्मा क्योंकि एक और अखण्ड है इसलिए वह अविनश्वर और अमर है। देकार्त ने आत्मा को एक विचार करने वाला द्रव्य मानने की पुरानी धारणा को पुनर्जीवित किया। जो लोग इस विचार को मानते हैं उनका कहना है कि इस विचार से हम व्यक्तिगत पृथक सत्ता और अमरत्व की भी व्याख्या कर

व्यवहारवाद भी मन के सम्प्रत्ययवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध है। गुत्थरी कहता है 'इसमें मैं यह कह दूँ कि व्यवहारवादी की दृष्टि में व्यक्ति एक समष्टि रूप बनती है। जब वह कोई प्रतिक्रिया करता है तो समग्र रूप से अपने शरीर के हर भाग से करता है।' (दि साइकोलॉजी ऑफ ह्यूमन कन्फ्लिक्ट, हार्पर ब्रदर्स १९३८ (१९३८, पृ १)।

सकते हैं।

यथार्थ सत्ता सभी जगह सम्मिश्र रूप में है। परमाणु में भी यही बात है। यह आवश्यक नहीं है कि 'स्व' यथार्थ रूप में अखण्ड और सरल न हो। लॉक ने यह स्वीकार किया है कि अपने अभिव्यक्त रूपों से भिन्न एक सरल अखण्ड वस्तु 'एक छिपी हुई वस्तु हो सकती है जिसे हम जानते न हों। ह्यूम की वे युक्तियाँ आज भी सही हैं जिनमें मनुष्य की आत्मा को एक सत्ता या एक ऐसा द्रव्य मानने का विरोध किया गया है जो किसी अध्यात्मेय ढंग से अपने समस्त घटकों के योगफल से कुछ अधिक है। यह द्रव्य-परीक्षणों से देखा नहीं जा सकता उसके अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है। कान्ट का कहना है कि स्व-आत्मा का प्रत्यय आत्म-विरोधी है क्योंकि जिसे हम जानते हैं वह कर्ता 'स्व' की ज्ञान की क्रिया का कर्म है, स्वयं कर्ता 'स्व' नहीं है। यदि आत्मा अविनाशी और परमाणु-स्वरूप है तो उसके अस्तित्व का ही कोई मूल्य नहीं उसके सतत अस्तित्व का तो मूल्य होगा ही क्या? 'स्व' में कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो अन्त तक सतत रूप में 'स्व' के साथ तादात्म्य रखता हो। शरीर सतत रूप में बदलता रहता है उसमें हमेशा एक ओर क्षति और दूसरी ओर उसकी पूर्ति की क्रिया अनवरत रूप से चलती रहती है। विचार और भावनाएँ भी निरन्तर बदलती रहती हैं। व्यक्ति में कोई भी ऐसी मूर्त वस्तु नहीं है जो उत्पन्न और नष्ट न होती हो जिससे बचा न जा सकता हो या जिसमें परिवर्तन न होता हो। 'स्व' की पृथक सत्ता और विशिष्टता उसके अखण्ड और सरल रूप के कारण नहीं है बल्कि उसके घटकों की एक विशिष्ट रचना के कारण है।

मन को अक्सर मानसिक अवस्थाओं की एक शृङ्खला के साथ बराबर दिया जाता है। बुद्ध ने दोनों चरम दृष्टिकोणों का विरोध किया—एक यह कि आत्मा या 'स्व' अपरिवर्तनीय नित्य तत्त्व है और दूसरा यह कि वह क्षणिक है और हर क्षण बदलता रहता है। उसने मध्यम मार्ग अपनाया और कहा कि आत्मा भूत में से उत्पन्न होती है और भूत ही उसका कारण है। यह परिवर्ती परिस्थितियों के प्रति अनुक्रियाओं की एक प्रणाली है। यह एक परस्पर सम्बद्ध समष्टि है जिसके सब भाग मिलकर कार्य करते हैं। असम्बद्ध-से असम्बद्ध और असंगत-से-असंगत मानव भी विश्व को एक समष्टि के रूप में ही देखता है। आत्मा मानसिक अवस्थाओं का एक समूह नहीं है बल्कि वह एक समष्टि है।

१ संयुत्त निकाय २२। देखिए विसुद्धिमग्ग अध्याय १०।

हम किसी व्यक्ति को वही व्यक्ति तब कहते हैं जबकि कुछ समय तक उसमें कुछ विशिष्ट निर्धारित किये जाने योग्य लक्षण मौजूद रहते हैं। व्यक्ति का निर्माण जिन चीजों से हुआ है उनकी संघटित रचना में एक विशिष्ट लक्षण होता है और वही उस व्यक्ति का अद्वितीय स्वरूप होता है। सामष्टिक अवयवी अवयवों के योगफल से भिन्न और कुछ अधिक होता है इसलिए वह उसके भागों (अवयवों) और उनके कार्यों के स्वरूप को निर्धारित करता है। और तो और, व्यक्ति की अद्वितीयता और विशिष्टता उसके अंगूठे और उंगलियों की छाप तक में होती है, और उस विशिष्टता का फल अपराधियों को भोगना पड़ता है।

इसलिए व्यक्ति व सच्चे अर्थ में एक नकाब है। वह एक भूमिका है जो हम जीवन के नाटक में अदा करते हैं वह हमारी प्रकृति की गहराई की एक बाह्य अभिव्यक्ति है। हर व्यक्ति संसार को अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से देखता है। मन के विचार से उपलब्ध वस्तु सामग्री अनेक प्रकार से एक सस्थान के रूप में ग्रथित की जा सकती है और जब तक उसे एक सूत्र में बांधकर एक एकाकी समष्टि का रूप दिया जाता है तब तक एक एकाकी आत्मा रहती है। बहु-व्यक्तित्व की जो घटनाएँ देखने में आती हैं वे यह संकेत करती हैं कि एक ही कालावधि या विभिन्न कालावधियों के लिए अपनी आत्मा या 'स्व' के सम्बन्ध में हमारी धारणाएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं क्योंकि हम चेतना खो बैठते हैं और उसके सातत्य का तार टूट जाता है। यदि व्यक्ति के अनुभव पूरी तरह से सुगठित नहीं होते तो 'स्वत्व' अर्थात् व्यक्तित्व भी ढीला और असुबद्ध होता है और वह अपेक्षाकृत असम्बद्ध व्यवहारों की एक शृंखला बन जाता है। इसीलिए हमें बहु-व्यक्तित्व के उदाहरण मिलते हैं।

३ कर्ता के रूप में आत्मा :

आत्मा का एक संघटित पूर्ण रूप उसके कर्तृ रूप से भिन्न है। उसका एक संघटित पूर्ण रूप मनोविज्ञान का विषय है और उसका कर्तृ-रूप दर्शनशास्त्र का विषय है। सभी अनुभवों में हम एक द्वैत देखते हैं—उसमें एक अनुभव करने वाला अर्थात् कर्ता और दूसरा अनुभव का विषय अर्थात् कर्म होता है। उसमें एक स्थायी अधिष्ठान होता है जिससे समस्त ज्ञान प्रत्यभिज्ञान और धारणा सम्भव होते हैं यह अधिष्ठान ज्ञान की व्याख्या के लिए चाहे कितना ही अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण तत्त्व हो मनोविज्ञान में हमें उसकी जानकारी नहीं मिलती।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि अनुभवों की शृंखला को यह ज्ञान होता है कि वह एक शृंखला है। सारी ज्ञान शृंखला ही उसके हर पक्ष के ज्ञान में सन्निप्त है जिसे समझना कठिन है। ह्यूम ने ज्ञान के कर्त्ता (ज्ञाता) को भी ज्ञेय (ज्ञय) बना दिया है और उसके अनुसार आत्मा केवल घटनाओं का एक ढेर है क्योंकि वह मानसिक अवस्थाओं में कहीं भी 'मैं' को नहीं पा सका। किन्तु असम्बद्ध अनुभव की छापों (इम्प्रैशन्स) को आत्मा या 'स्व' की क्रिया के बिना एक समग्र अनुभव में परिणत नहीं किया जा सकता। आत्मा के बिना इस बात की कोई व्याख्या नहीं की जा सकती कि एक के बाद एक द्रुत गति से गुजरने वाले अनुभव परस्पर मिलकर एक ही व्यक्ति के अनुभव कैसे बन जाते हैं। साहचर्य का नियम इसकी व्याख्या करने के लिए पर्याप्त नहीं है। काण्ट का यह कहना ठीक ही है कि साहचर्य का नियम यह सिद्ध करता है कि एक आत्मा जैसी चीज भी है जो महज अनुभवों के एक बहुरंगीय ढेर से कुछ अधिक है।

विलियम जेम्स का कहना है कि गुजरता हुआ विचार ही अनुभव की क्रिया का कर्त्ता है। जो कुछ पहले हो चुका है उसे वह अपने भीतर संचित कर लेता है और नये को आत्मसात् करके और भी बढ़ जाता है। विचार ही विचारक है। लेकिन उनका यह दृष्टिकोण हमारे लिए समझना कठिन है क्योंकि एक अवस्था दूसरी को अपने भीतर कैसे आत्मसात् कर सकती है।

जेम्स वार्ड का मत है कि विलियम जेम्स ने ज्ञान की प्रक्रिया और ज्ञेय वस्तु को तथा ज्ञाता और ज्ञेय को आपस में मिलाकर गोलमाल कर दिया है। उनका कहना है कि अनुभव के हर क्षण के तीन पहलू होते हैं—ध्यान, अनुभव और उसका प्रस्तुतीकरण। इनमें से पहले दो पहलू आत्मनिष्ठ हैं और तीसरा अनुभव का उद्देश्य है। वार्ड की दृष्टि में किसी वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करने की एक के बाद एक होने वाली क्रियाएँ आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं। वार्ड का यह कहना सही है कि स्मृति, चिन्तन और इच्छा की क्रियाएँ आत्मा का स्वरूप हैं, स्मृति, चिन्तन या दृष्ट वस्तु या सामग्री उसका स्वरूप नहीं है। क्रियाएँ ही आत्मा का आकार प्रदान करती हैं, वस्तु नहीं, हालांकि दोनों को एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। सक्रिय आत्मा अधिक स्थायी है, जबकि ज्ञान की वस्तु हमेशा बदलती रहती है। किन्तु वार्ड ने 'कर्त्ता' का जो रूप स्वीकार किया है वह बहुत अपूर्ण है और उनकी कल्पना अनुभव की व्याख्या करने के लिए की गई है।

बाद के इस विचार से हमें काण्ट का यह मत स्मरण हो आता है कि हर अनुभव में एक 'मैं सोचता हूँ' अवश्य रहता है। काण्ट का यह 'मैं सोचता हूँ' आम तौर पर एक विशुद्ध तार्किक आकार माना जाता है जो चेतना की सभी अन्य वस्तुओं मे सहचारी रहता है। यद्यपि इस प्रकार की अपरिवर्तनशील और निष्क्रिय सत्ता के जो कल जो कुछ भी रही आज है और वही हमेशा रहेगी सतत परिवर्तमान अनुभव के साथ सम्बन्ध की कल्पना करना सहज नहीं है फिर भी इसकी कल्पना अनुभव मे विद्यमान संश्लेषण की व्याख्या करने के लिए की जाती है। इस संश्लेषण को ही समस्त पदार्थों के ज्ञान का आधार माना जाता है और इसी से चेतना एक आनुभविक ऐक्य का रूप धारण करती है। काण्ट की शिक्षा की गहराई में यदि हम जाएँ तो हम देखते हैं कि वह आत्मा को एक अमूर्तकरण मानने के विचार के पक्ष मे नहीं है।

चेतना का कर्त्ता और कर्म दोनों ऐसे तत्त्व हैं जिन्हें अलग-अलग पहचाना जा सकता है किन्तु जिस समय अनुभव हो रहा होता है उस समय उन्हें पृथक नहीं किया जा सकता अनुभव एक अविच्छेद्य एकत्व है। दोनो अलग-अलग हैं किन्तु एक पूर्ण के अंगों के रूप में। यदि दोनों एक पूर्ण के अंग न होकर एक-दूसरे से बिलकुल स्वतन्त्र होते तो ज्ञान एक रहस्य बन जाता। समूचे अनुभव मे वे आत्यंतिक उपादानो के रूप मे घुले मिले हैं उसके परस्पर-विरोधी विभाग या हिस्से नहीं हैं। इन दोनों (ज्ञाता और ज्ञेय) से बाहर हम किसी ज्ञान की सृष्टि नहीं कर सकते क्योंकि ज्ञान एक अन्तिम तथ्य है उसके पीछे और कुछ नहीं है। वास्तविक कर्त्ता अर्थात् आत्मा ऐसी वस्तु नहीं है जिसे हम ज्ञान में पा सकें क्योंकि वह स्वयं ज्ञान है। वह समस्त कर्मों (ज्ञेय वस्तु) शरीर और इन्द्रियों से भिन्न है वह स्वयं आनुभविक आत्मा है। हम ज्ञान के कर्त्ता को किसी द्रव्य का गुण या किसी कर्ता का कार्य नहीं बता सकते क्योंकि वह ऐसे समस्त सम्बन्धों (द्रव्य-गुण सम्बन्ध और कार्य-कारण सम्बन्ध आदि) का आधार है। वह आनुभविक आत्मा ही नहीं है बल्कि यथार्थ सत्ता है जिसके बिना आनुभविक आत्मा भी नहीं हो सकता। यह हो सकता है कि अनेक व्यक्तियों को एक ही अनुभव हो व एक ऐसे यथार्थ जगत् को जान जो सबके लिए समान हो क्योंकि सबमें एक आदर्श आत्यंतिक आत्मा कार्य कर रही है। जो व्यक्ति अपने आपको एक सीमित आत्मा समझता है उस पर ऐसी वस्तु की अवरोध चेतना होती है जो उसे और उसके उद्देश्य और प्रयोजन को सीमित कर देती है। सीमा की चेतना का अर्थ है कि हमारे

नहीं है जो आहार्य (ऐक्सिडेंटस) गुणों से युक्त हों और बाह्य रूप से एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध हों बल्कि वे एक परस्पर सम्बद्ध प्रणाली के अंग हैं। वे अनुभव या ज्ञान की प्रक्रिया के केन्द्र हैं क्योंकि वे अपने सम्बन्धों का गुणात्मक संश्लेषण करते हैं। उनमें एक सापेक्ष स्वतन्त्रता और व्यक्तिनिष्ठता है हालांकि जिस संस्थान और प्रणाली में वे विद्यमान हैं उसका सामान्य स्वरूप उनका अनुकूलन अवश्य करता है। प्रत्येक आनुभविक आत्मा (जीवात्मा) स्वयं पूर्ण व्यक्ति होने के बजाय अपने से भी ऊपर की किसी सत्ता की अभिव्यक्ति है। यथार्थ पूर्ण सत्ता या व्यक्ति में पृथक् पृथक् व्यक्ति और उनके परिवेश दोनों ही शामिल हैं और ये सब उसमें पृथक्करण की एक प्रक्रिया के द्वारा विद्यमान हैं, फिर भी आत्म-चेतन या आत्म-निर्धारक मानव प्राणी पूर्णतः पृथक् व्यक्ति नहीं है। आरम्भ से ही उसका संसार भी उतना ही यथार्थ होता है जितना कि वह स्वयं और उसके साथ उसकी अन्योन्य क्रियाएँ उसकी वैयक्तिकता की वृद्धि को प्रभावित करती हैं। व्यक्ति और संसार सह-अस्तित्व से रहते हैं और साथ-साथ बढ़ते हैं।

जीव विज्ञान की दृष्टि से हम विचार करें तो जीवन के केन्द्र जैसी कोई चीज नहीं होती। [illegible] के शरीर के समस्त कोशों की सम्पूर्ण अवयवी से पृथक् कल्पना की ही [illegible] ही जा सकती। उनका जीवन समूचे अवयवी के जीवन में केन्द्रित होता है। वनस्पतियाँ और प्राणी अपने परिवेश के साथ मिलकर एक 'संघटित अन्योन्याश्रित जीवन व्यतीत करते हैं किन्तु मानवीय प्राणी अपने और अपने परिवेश के बीच में एक असौहार्द और असंगति पैदा कर देता है। जीव और उसके परिवेश में [illegible] अवमानवीय स्तर के जीवों में हमें आश्चर्यजनक रूप में मिलती है वह मानवीय स्तर पर [illegible] आकर हमें कुछ उच्छिन्न दिखायी देती है। यद्यपि मानव का सम्बन्ध [illegible] जीवों की अपेक्षा एक अधिक बड़े संसार से है और वह संसार उसके रोम रोम में अनुप्रविष्ट है तथा अन्योन्य क्रिया प्रतिक्रिया के द्वारा वह उसके साथ [illegible] है तो भी मानव की आत्म-चेतना [illegible] और उसके संसार के बीच [illegible] देती है जो तथ्य के भी विपरीत है और उसकी प्रकृति के भी। वह [illegible] भूल जाता है कि उसके हित सिर्फ उसके अपने ही नहीं हैं और अपने

[illegible] में [illegible] ने लिखा है "व्यक्तित्व देश और काल के परिवेश से सर्वथा [illegible] और [illegible] वाली पूर्ण या सीमित वस्तु नहीं है) [illegible] के अर्थ [illegible] दि नेचर [illegible] वर्ल्ड (१९२६), पृष्ठ [illegible])।

आपको एक पृथक व्यक्ति के रूप में समझने लगता है। यद्यपि पृथक व्यक्तित्व की तीव्र अनुभूति काम के लिए आवश्यक है तो भी भूल से यह समझ लिया जाता है कि वास्तव में ही व्यक्ति सर्वथा पृथक है। व्यक्ति अस्थिर सन्तुलन की स्थिति में होता है। उसका अन्तःकरण एक विभाजित जीवन का चिह्न है। वह अनिश्चित खोज और अव्यवस्था से भरी हुई अशान्ति की एक ज्वाला है। जब तक व्यक्ति इस पृथकत्व की भावना से पीड़ित रहता है तब तक वह अशान्त और अपने असली आश्रय के लिए व्याकुल रहता है। वह अपनी इस पृथकता से परे जाने के लिए उद्योग करता है।

मानव तभी प्रगति कर सकता है जबकि उसकी इस अनुभूति में वृद्धि होती जाए कि उसके भीतर एक विश्वव्यापी सत्ता काम रही है। प्रकृति की खोज ज्ञान की साधना और ईश्वर की प्राप्ति के लिए प्रयत्न के द्वारा व्यक्ति अपने और अपने परिवेश के बीच ऐक्य स्थापित करने का उद्योग करता है। वह अपनी अच्छाई को अपने से एक अधिक बड़ी सत्ता में पाता है। वह अनुभव करता है कि उसकी सम्पन्नता का इलाज तभी हो सकता है जबकि वह समग्र समष्टि के प्रति आस्थावान् हो। जीवन की पूर्णता का अर्थ है समग्र की सेवा। इसीलिए वह मूल्यों की प्राप्ति के लिए उद्यम करता है आदर्शों का निर्माण करता है और एक एकता और सहस्वरता के संसार की रचना के लिए यत्न करता है। वह संघ बनाता है परिवारों कुलों जातियों सम्प्रदायों और देशों का निर्माण करता है। ज्ञान कला नैतिकता और धर्म ऐसे साधन हैं जिन्हें मनुष्य एक आध्यात्मिक बिरादरी और एक ऐसे राज्य के सदस्य के रूप में अपने ध्येय की पूर्ति के लिए बरतता है जिसमें प्रत्येक स्व सब समष्टि में व्याप्त है और समष्टि भी किसी-न-किसी रूप में प्रत्येक व्यक्ति में व्याप्त है। हे पिता जैसे तू मुझमें है और मैं तुझमें हूँ इसी तरह वे सब परस्पर भी एक हो जाएँ और हममें भी आत्मसात् हो जाएँ। इस प्रकार की एकता जो ज्ञान प्रेम और सेवा पर आधृत है निम्न वर्ग (योनियों) के प्राणियों की एकता की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ और अधिक सारगर्भतापूर्ण है।

मानवीय आत्मा की एक विशिष्टता यह है कि वह मिलकर और संगठित होकर समग्र समाज के लिए कार्य कर सकती है और अपने जीवन में समग्र समाज के उद्देश्य को धारण करती है। यह क्षमता हर व्यक्ति में अलग भिन्न भिन्न होती है। उच्च और नीच अवस्थाओं में यही अन्तर होता है। आत्मा के दोनों रूप—सीमित या पृथक वैयक्तिकता और सर्वव्यापित्व (विश्वरूप)—

एक साथ बढ़ते हैं और अन्त में पृथक्तम सत्ता सर्वाधिक विश्वव्यापी सत्ता में *विलीन होकर एक हो जाती है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति (अंश) अपने वास्तविक* कार्य को समग्र सामष्टिक सत्ता (पूर्ण) में पूरा करता है और उसी में अपना मूल्य और प्रतिष्ठा पाता है तथापि कोई भी व्यक्ति (अंश) उतना व्यापक नहीं है जितनी कि समग्र सत्ता (पूर्ण)। वह सीमित होता है क्योंकि वह अपने से बड़ी सत्ता में एक वैयक्तिक अंश के रूप में होता है।

लोगों में खासकर पश्चिम के लोगों में मानवीय आत्मा के दरजे और स्थान को बहुत ऊँचा आंकने की प्रवृत्ति देखी जाती है। देकार्त ने अपनी पृथक स्व-सत्ता की सुनिश्चितता के आधार पर ही हर वस्तु को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यह बात आम तौर पर अनुभव नहीं की जाती कि आत्मा का विचार, जो हर चीज की व्याख्या करना चाहता है और आत्मा की इच्छा, जो हर वस्तु को पराभूत कर लेना चाहती है, दोनों अपने-आपमें एक अधिक गहरी पूर्ण और समग्र सत्ता की अभिव्यक्ति हैं जिसमें व्यक्तिगत आत्मा और उसके ज्ञान तथा इच्छा का लक्ष्य दोनों का समावेश है। यदि आत्मा व्यापक होकर सर्वव्यापी आत्मा में विलीन नहीं होती तो मूल्य अपने-आप ही आत्मनिष्ठ बन जाते हैं और स्वयं आत्मा भी कुछ नहीं रहती। मनुष्य तमाम असफलताओं और भ्रमों तथा पराजयों और निराशाओं के बावजूद पूर्णता पाने के लिए सतत प्रयत्न करता रहा है उसने हमेशा समस्त घटनाओं को एकसूत्रता और समन्वय में ग्रथित करने की चेष्टा की है। अन्तर को बाहर अभिव्यक्त करने का भी सतत उद्योग किया है और उसमें उसे कुछ सफलता भी मिली है। उसके ये सब प्रयत्न और उद्योग यह सिद्ध करते हैं कि वह यथार्थ की दिशा में प्रयत्न करता रहा है। जिन मूल्यों के लिए हम प्रयत्न करते हैं वे हमारी सत्ता के साथ अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। प्रकृति का सारा घटना क्रम उस अर्थ को अभिव्यक्ति है जिसे मनुष्य का समझना है। हमारा व्यक्तियों के साथ परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया करना, एक-दूसरे को जानना और एक-दूसरे के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करना—यह सब सिर्फ इसलिए सम्भव है कि हम सब एक ही प्रणाली और संस्थान के अंग हैं।

२ कर्म और मुक्ति

समस्त प्रकृति के दो सर्वव्यापी लक्षण—अतीत के साथ सम्बन्ध और भविष्य का सृजन—मानवीय स्तर पर विद्यमान हैं। हिन्दू विचारधारा में मानव

समझना चाहिए और न पुरस्कार और न दण्ड का कानूनी सिद्धान्त। कारण, पुण्य कार्य का पुरस्कार और पाप-कर्म का दण्ड जीवन के सुख या दुःख नहीं हैं। सुख और दुःख मनुष्य की पाशविक वृत्ति को सन्तुष्ट कर सकते हैं, उसकी मानवीय वृत्ति को नहीं। कारण प्रेम आनन्द है किन्तु वह कष्ट और पीड़ा सहन करता है और दूसरी ओर घृणा में एक प्रकार की विकृत तृप्ति और आनन्द का भाव रहता है। अच्छा या बुरा और भौतिक समृद्धि या शारीरिक दुःख एक नहीं है।

संसार में हर वस्तु कारण भी है और कार्य भी। उसमें अतीत की ऊर्जा संचित रहती है और वह भविष्य पर अपनी ऊर्जा का प्रयोग करती है। कर्म का अतीत के साथ सम्बन्ध का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य स्वतन्त्र रूप से कोई कर्म नहीं कर सकता बल्कि उसमें स्वतन्त्र कर्म तो अन्तर्निहित ही है। जो नियम हमें अतीत के साथ बाँधता है वह इस बात का भी प्रतिपादन करता है कि हम कर्म के नियम को अपने स्वतन्त्र कार्य से पराभूत कर सकते हैं। यह हो सकता है कि अतीत अर्थात् हमारे संचित कर्म हमारे मार्ग में बाधाएँ डालें किन्तु वे सब मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति के आगे उसी मात्रा में झुक जाएँगी जिस मात्रा में उसमें तत्परता और दृढ़ता होगी। कर्म के सिद्धान्त में कहा गया है कि जो व्यक्ति जितनी शक्ति का प्रयोग करेगा वह उतना ही फल पाएगा। विश्व व्यक्तिगत जीवात्मा की माँग के प्रति अनुक्रिया करेगा और साथ ही उसे पूरा करेगा। प्रकृति मनुष्य की आग्रहपूर्ण पुकार का उत्तर देगी। 'जैसी उसकी इच्छा होती है वैसा ही वह लक्ष्य सामने रखता है जैसा उसका लक्ष्य होता है वैसा ही वह कर्म करता है और जैसा वह कर्म करता है वैसा ही अपने लिए फल संचित करता है।' मैं तुमसे सच कहता हूँ कि जो व्यक्ति इस पर्वत से कहेगा कि 'यहाँ से उठो और समुद्र में चले जाओ' और इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं करेगा कि जो-कुछ वह कहता है वह अवश्य होगा उसकी यह बात जरूर पूरी होगी। जब ईसा ने कहा था कि 'इस मन्दिर को नष्ट कर दो और मैं तीन दिन में इसे फिर खड़ा कर दूँगा' तो उसका अभिप्राय यही था कि हमारे भीतर जो भावना और विश्व-आत्मा विद्यमान है वह भौतिक संसार से ज्यादा शक्तिशाली है। यदि हममें सच्ची लगन और आकांक्षा हो तो दुनिया की कोई वस्तु ऐसी नहीं जिसे हम पा न सकें। आत्मा के प्रति अधीनता विश्व प्रकृति का नियम है। इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त के दो पहलू हैं एक नियत और दूसरा अनागत एक अतीत का सातत्य और दूसरा जीवात्मा

१ बृहदारण्यक उपनिषद् ५ ।

की सृजनात्मक स्वतन्त्रता।

मानव की प्रकृति में विद्यमान वह प्रेरणा जिससे वह न केवल अपने-आप को एक निश्चित स्तर पर कायम रखना चाहता है बल्कि एक उच्चतर स्तर पर पहुँचना भी चाहता है मनुष्य में चेतन हो जाती है और वह जीवन और प्रगति के नियमों का जान-बूझकर अनुसन्धान करता है। 'अब तक मेरा पिता (ईश्वर) मुझ काम में लगा रहा है और मैं आगे बढ़ता रहा हूँ।'[१] प्रकृति की सन्तानों में मानव ही सबसे पहला प्राणी है जो 'मैं' कह सकता है और समझ-बूझकर चेतन भाव से संसार को एक आकार प्रदान करने में 'पिता' के साथ जो प्रकृति का नियन्त्रण और निदेशन करने वाली शक्ति है सहयोग कर सकता है। वह सब मानव (सत या असत) जगत् की अन्ध और अज्ञान एवं भूलों से भरी हुई वृत्ति को एक बौद्धिक दिशा प्रदान कर सकता है। हम इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि मानव प्राणी स्वतन्त्र रूप से कर्म कर सकते हैं भले ही उन कर्मों का उद्गम कितना ही अन्धकार में आवृत हो। जीवात्मा में उसकी प्रवृत्तियों आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों को अपने परिश्रम से बदलने और उन्हें अपने प्रयोजन के अनुकूल बनाने की प्रेरणा विद्यमान रहती है।

मानवीय स्वतन्त्रता की समस्या जीवात्मा और इच्छा के बीच भेद से कुछ उलझ दी गई है। इच्छा भी आत्मा ही है किन्तु वह उसका सक्रिय रूप है और इच्छा की स्वतन्त्रता का अर्थ वास्तव में आत्मा की स्वतन्त्रता है। यह आत्मा के द्वारा किसी वस्तु का स्वयं निर्णय और चिन्तन है।

एक तर्क यह भी दिया जाता है कि आत्म-निर्णय वास्तव में स्वतन्त्रता नहीं है। आत्मा अपने अन्दर से परिचालित हो या बाहर से दोनों में कोई फर्क नहीं है। अपने भीतर के स्प्रिंग से चलने वाला यन्त्र और बाहर से डोरी से चलाया जाने वाला यन्त्र दोनों में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही समान रूप से यान्त्रिक हैं। इसी प्रकार आत्मा भी एक आध्यात्मिक स्वचालित यन्त्र हो सकता है। जो मनचाही आदतन व्यवहार करता है वह अपनी प्रकृति में विद्यमान एक तत्त्व के आदेश से वैसा करता है। यह आदत उसकी आत्मा का अंग बन जाती है। यदि हम आत्मा के आन्तरिक तत्त्वों का विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि उनमें से कितने ही तत्त्व परिवेश के प्रभाव से निर्मित या अधीन या अर्जित हैं। यदि व्यक्ति का विचार या चरित्र एक सुदीर्घ विकास प्रक्रिया की उपज है जो उसके कर्मों या इन दोनों की

१ जॉन ५ १७।

उपज है कभी स्वतन्त्र नहीं माने जा सकते। हो सकता है कि स्वतन्त्रता की अनुभूति आत्मा का जो वर्तमान के प्रत्येक क्षण में रहती है और निर्णायक अतीत की परवाह नहीं करती भ्रम हो। किन्तु इन सब आपत्तियों और तर्कों के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की आत्मा एक सामष्टिक और सम्बद्ध अवयवी सत्ता है। यह अन्य प्राणियों वनस्पतियों और परमाणु में पाए जाने वाले समवेत अवयवी रूप से भी अधिक संश्लिष्ट है। आत्म निर्णय का अर्थ आत्मा के किसी एक अंश द्वारा निर्णय नहीं बल्कि समग्र आत्मा द्वारा निर्णय है। यदि व्यक्ति अपनी समस्त प्रकृति का उपयोग नहीं करता विभिन्न सम्भावनाओं का अध्ययन कर उनमें से ऐसी सम्भावना को नहीं चुनता जो उसकी समस्त प्रकृति के अनुरूप हो तो उसका कार्य वास्तव में स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता।

प्रकृति का कोई भी पहलू ऐसा नहीं है जो विशुद्ध रूप से 'नियतत्व' या 'आकस्मिकता' से ही परिचालित हो रहा हो। तथापि पूर्ण स्वतन्त्र केवल ईश्वर ही है और जीवात्मा पूर्ण स्वतन्त्र सिर्फ तभी हो सकती है जबकि वह पूर्ण सत्ता के साथ सह अस्तित्व में रहे। मानव की स्वतन्त्रता पूर्ण नहीं होती कभी कम और कभी अधिक होती है। हम अधिकतम स्वतन्त्र तब होते हैं, जब हमारी सम्पूर्ण आत्मा सक्रिय होती है उसका कोई एक अंश नहीं। सामान्यतः हम अपने पर म्परागत या आभ्यासिक 'स्व' के अनुसार कार्य करते हैं और कभी-कभी अपने अवमानव स्व के स्तर पर उतर आते हैं।

स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं है और न कर्म का अर्थ नियति है। मानव जब अपनी इच्छा से चुनाव करता है तो वह बिना किसी प्रयोजन या कारण के नहीं करता। यदि हमारे कर्मों का अतीत से कोई सम्बन्ध न हो तो हम पर प्रशंसा-शाप के व्यवहार करने की न तो कोई नैतिक जिम्मेदारी होगी और न कोई पुरुषार्थ। अनिर्धारित प्रारम्भ और मनमानी घटनाएँ भौतिक संसार और मानवीय संसार दोनों में असम्भव हैं। कर्म की स्वतन्त्रता तात्पर्य का अभाव नहीं है। स्वतन्त्र कर्म भी प्रकृति के भीतर ही होते हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता या स्वैर-वृत्ति नहीं है क्योंकि हमारा अतीत संचित होकर हमारे साथ रहता है। हमारा चरित्र हमारे अतीत इतिहास का निचोड़ होता है। जो कुछ अब तक हम थे वह हमारे उस अंश में समाविष्ट हो जाता है जो इस समय सक्रिय है और अपने लिए कर्म का निश्चय कर रहा है। हर व्यक्ति की कार्य की स्वाभाविक स्वतन्त्रता का विस्तार सीमित है। किसी भी व्यक्ति के लिए सम्भावनाओं का

तक सर्वव्यापी नहीं होता । हमारी प्रकृति की अनेक सम्भावनाओं को तो अवसर ही नहीं मिलता । ब्रह्माण्ड का प्रभाव कुछ सम्भावनाओं को विकसित होने देता है और कुछ को मुरझा देता है । इसके अलावा हमारी प्रकृति में जो स्वतन्त्रता है वह भी हमारी स्वतन्त्रता को धोखा दे जाती है । जब हम कोई कार्य करने का संकल्प करते हैं तो हमारा मन उससे भिन्न होता है जो वह पहले था । जब एक सम्भावना वास्तविकता का रूप धारण कर लेती है तो वह 'अनिवार्यता' बन जाती है । अतीत हमारे वर्तमान में प्रयुक्त होकर खप सकता है किन्तु वर्तमान में आ जाने से वह कटकर उदासीन नहीं हो जाता । अतीत का प्रतिरोध करने से विपत्ति की आशंका है यह जरूर सम्भव है कि हम अतीत में एक नये जीवन को जन्म दें । केवल 'सम्भव' तक ही हमारी स्वतन्त्रता का क्षेत्र सीमित है । मानवीय जीवन में हम वर्तमान द्वारा प्रतिरोध और अतीत द्वारा निर्धारित अनिवार्यता दोनों काफी मात्रा में देखते हैं । किन्तु अनिवार्यता का अर्थ ऐसी नियति नहीं है जिसका न तो हम प्रतिरोध कर सकते हैं और न जिसे धोखा दे सकते हैं । यद्यपि आत्मा पूर्व निर्धारित घटनाओं (नियति) के बन्धन से सर्वथा मुक्त नहीं है तो भी वह अतीत को कुछ हद तक पराभूत कर उसे नये पथ की ओर प्रवृत्त और निर्देशित कर सकती है । मनुष्य द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक अपने कर्म के चुनाव का पथ है अनिवार्यता (नियति) के ऊपर अपनी स्वतन्त्रता को प्रतिष्ठित करना । इस स्वतन्त्रता से वह 'अनिवार्य' को अपने लिए उपयोगी बना लेता है और इस प्रकार वह अपने-आपको उसके बन्धन से मुक्त कर लेता है । 'मानव कर्ता स्वतन्त्र है' । वह नियति के हाथ का खिलौना नहीं है न वह अनियन्त्रित घटनाओं की धारा में बहनेवाला तिनका ही है । वह निष्क्रिय होकर अतीत को स्वीकार करने के बजाय भविष्य को सक्रिय रूप से अपनी इच्छा के अनुसार ढाल सकता है । अतीत उसके लिए एक सुअवसर भी बन सकता है और बाधा भी । सब-कुछ इस बात पर निर्भर है कि हम उसे क्या बनाते हैं न कि इस बात पर कि वह हमें क्या बनाता है । जीवन एक निश्चित दिशा में ही बहने के लिए बँधा हुआ नहीं है । जीवन एक सजीव वस्तु की वृद्धि है और सजीव वस्तु की वृद्धि कुछ-न-कुछ अंश में अनिर्धारित होती है । यद्यपि भविष्य अतीत का ही परिणाम होता है तथापि हम पहले से यह नहीं बता सकते कि वह क्या होगा । यदि सब-कुछ पूर्व-निर्धारित रूप से ही होता है और स्वतन्त्रता जैसी कोई चीज नहीं है तो मानवीय चेतना एक अनावश्यक विलासिता के सिवाय [illegible] ।

और कुछ नहीं है।

क्रम और नियम में बँधा हुआ यह ब्रह्माण्ड हमारी स्वतन्त्रता की माँग को अवश्य सुनेगा। जीवन एक ताश का खेल है। इस खेल में पत्ते बाँटकर हमारे हाथों में दे दिये गए हैं। हम उन्हें अपनी इच्छा से चुनकर नहीं लेते। ये पत्ते हमारे पूर्व-संचित कर्म हैं। किन्तु इन पत्तों को हम सोच-समझकर व्यवस्थित कर सकते हैं, उन्हें खोल सकते हैं और चालें चल सकते हैं। हम पर बन्धन सिर्फ इतना ही है कि हमें खेल के नियमों के भीतर रहना होगा। जब खेल शुरू होता है तब हम अधिक स्वतन्त्र होते हैं किन्तु जब खेल आगे बढ़ जाता है और हमारे लिए चालों का चुनाव सीमित हो जाता है तब हमारी स्वतन्त्रता कुछ कम हो जाती है। किन्तु अन्त तक चुनाव की कुछ-न-कुछ स्वतन्त्रता बनी ही रहती है। एक अच्छा खिलाड़ी अधिक चालों की सम्भावनाओं को देख लेगा, खराब खिलाड़ी नहीं। खिलाड़ी जितना होशियार होगा उतनी ही अधिक सम्भावनाओं और विकल्पों को देख लेगा। अच्छे पत्ते आने पर भी कच्चा खिलाड़ी अपना सारा खेल बिगाड़ सकता है, किन्तु उसके लिए भाग्य या नियति के प्रकोप को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। हो सकता है कि पत्तों को जिस ढंग से मिलाया गया है उससे हम सन्तुष्ट न हों फिर भी हम खेल पसन्द करते हैं और खेलना चाहते हैं। हो सकता है कि कभी-कभी परिस्थितियों के आँधी-तूफान बहुत प्रबल हों और बड़े-बड़े भी उनको झेल न सकें। महान् आत्माएँ इस चेतना से बहुत गहरी शान्ति अनुभव करती हैं कि विश्व का यह शाही ठाठ जिसमें कभी परम सौन्दर्य और भव्यता होती है और कभी नितान्त अन्धकार और भयंकरता जिसमें मनुष्य अपने कर्तव्य और नियति को पाता है किन्हीं ज्ञात उद्देश्यों के अधीन नहीं किया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका एक अपना उद्देश्य है जिससे हम अनभिज्ञ हैं। दौर्भाग्य नियति नहीं है, ईश्वर का विधान है।

कर्म का सिद्धान्त नियति के सिद्धान्त का समर्थन नहीं करता। कुछ लोगों का विश्वास है कि कुछ आत्माओं के विनाश का पहले से नियत होना ही ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता सिद्ध करता है। ईश्वर को अपने जीवों के साथ उसी तरह यथेच्छ व्यवहार करने का अधिकार है जैसे कि कुम्हार को अपनी मिट्टी के साथ। सन्त पॉल ने 'विनाश के लिए गढ़े गए क्रोध के पात्रों' का उल्लेख किया है। नित्य जीवन ईश्वर की कृपापूर्ण देन है जो उसके कृपापात्रों को ही मिलता है। किन्तु ईश्वर की सर्वोच्चता का यह दृष्टिकोण नैतिकता के विरुद्ध है। ईश्वर का प्रेम

मनमाना नहीं वह भी नियम के अनुसार चलता है।

मानवीय असफलताओं को जब हम देखते हैं तो कर्म के सिद्धान्त में हमारा विश्वास हमें एक सहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाने और दुर्भाग्य के रहस्य के सामने श्रद्धावनत होने के लिए प्रेरित करता है। जितना जितना हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है उतना-उतना हमारा उच्चता का अभिमान कम होता जाता है। कर्म में विश्वास हममें उस न्याय या दान-पुण्य की भावना पैदा करता है जो आध्यात्मिकता का सार-तत्त्व है। हम अनुभव करने लगते हैं कि मानव कितना असहाय और असमर्थ है। जब हम गरीबों के विकृत जीवन को देखते हैं तो अनुभव करते हैं कि कर्म का सिद्धान्त कितना सही है। यदि वे मूर्ख और अपराधी हैं तो हमें यह मानना चाहिए कि उनके लिए इससे भिन्न मार्ग को चुनने का मौका ही कितना था। वे दुष्ट उतने नहीं जितने कि अभागे हैं। इसके अतिरिक्त असफलताएँ पाप का नतीजा उतनी नहीं जितनी कि गलतियों का नतीजा हैं जो हमें हमारे विनाश की ओर ले जाती हैं। ग्रीक दुःखान्त रचना में मनुष्य को व्यक्तिगत रूप से उतना उत्तरदायी नहीं माना गया जितना कि परिस्थितियों और भाग्य के निश्चयों को। ओडिपस रेक्स की कहानी हमें बताती है कि किस प्रकार शुभ प्रयत्न करने पर भी वह अपने-आपको अपने पिता की हत्या और अपनी माता के साथ विवाह करने से जो उसके भाग्य में बदे थे बचा नहीं सका। होमर के काव्य में हैक्टर और एण्ड्रोमाकी का एक-दूसरे से अलग होना नियति का एक और उदाहरण है। शेक्सपीयर के नाटकों में भी कलाकार को हम अपने पात्रों को उनकी दुर्बलताओं से ही उनके भाग्य की ओर ले जाते हुए देखते हैं। लीयर में यह दुर्बलता अहंकारपूर्ण भूल के रूप में और मैकबेथ में व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा के रूप में दिखाई देती है। कलाकार हमें इन आत्माओं को वीभत्स रूप में दिखाता है। हैमलेट का दिमाग चकरा जाता है और उसकी इच्छा-शक्ति विभ्रम में पड़ जाती है। वह जीवन और मृत्यु दोनों पर नजर डालता है और यह निश्चय नहीं कर पाता कि दोनों में से कौन अधिक खराब है। व्यक्तिगत राग और महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर मैकबेथ सब कुछ गड़बड़ा देता है। ओथेलो अपनी पत्नी को मार डालता है और फिर आत्मघात भी कर लेता है क्योंकि एक ईर्ष्यालु खलनायक उसे एक रूमाल दिखाता है। जब हम इन ऊँची आत्माओं को प्रतिकूल शक्तियों के साथ संघर्ष में टूटते देखते हैं तो हमें उनसे सहानुभूति होती है। कारण ऐसा हममें से किसी के भी साथ हो सकता है। हम भी इन दुर्बलताओं के शिकार

उन्हें तोड़ डालना मुमकिन नहीं है—चाहे हम उन्हें मूर्खता, असन्तुलन, अनिश्चितता अथवा पागलपन-भरी महत्त्वाकांक्षा और स्वार्थपरता कोई भी नाम दें। ग्रीक साहित्य की दुःखान्त रचनाओं में बुरे ग्रह-नक्षत्रों को जो स्थान दिया जाता था आज वह अर्थशास्त्र के सर्वशक्तिमान सिद्धान्तों ने ले लिया है। संसार के हजारों नौजवान पिंजरे में बन्द पक्षी की भाँति समाज की बाड़ की दीवारों से व्यर्थ अपना सिर टकरा रहे हैं। उनमें हम समस्त दुःखान्त साहित्य का सार देखते हैं—एक महान् वस्तु को टकराकर नष्ट होते देखते हैं किसी उदात्त भाव को गिरकर चकनाचूर होते देखते हैं। अपनी नियति के दुर्धर भार से टूटते हुए इन लोगों के सम्मुख हम सिर्फ सिर ही झुका सकते हैं। मानवीय आत्मा की कष्ट सहने और असंग अलग हो जाने की क्षमता अपार है। उन गरीब लोगों को देखिए, जिन्हें संसार नीच और पतित समझकर उपेक्षा से बगल से निकल जाता है। यदि सिर्फ हमें यह पता होता कि वे किन अवस्थाओं में से गुजरे हैं तो हम उन्हें अपने साथ रखकर प्रसन्न होते। यह समझना भूल है कि दुर्भाग्य सिर्फ उन्हीं पर आता है जो उसके अधिकारी हैं। यह सारा संसार एक समष्टि है, जिसमें हम एक-दूसरे के साथी हैं इसलिए हमें एक-दूसरे के लिए कष्ट उठाना और सहानुभूति रखनी चाहिए। ईसाई धर्म के अनुसार दिव्य आत्माएँ ही स्वयं कष्ट उठाकर सिद्ध करती हैं कि कष्ट सहन करने में कितनी महानता है। व्यथा को सहना कष्ट को बरदाश्त करना उन लोगों का गुण है जिनमें आत्मिक शक्ति है। यह मानवता की आध्यात्मिक सम्पदा में वृद्धि करता है।

९. भावी जीवन :

यद्यपि सर्वाधिक प्रभावशाली दर्शनशास्त्र और धर्म मृत्यु के अनन्तर जीवन के प्रश्न पर मौन हैं कम-से-कम वे अस्पष्ट तो अवश्य रहे हैं तथापि हमारे कुछ आधुनिक मत हमें यह विश्वास करने के लिए प्रेरित करते हैं कि आत्मा का भविष्य उसी तरह स्पष्ट प्रकाशित है जैसे किसी रंगमंच का दृश्य उस पर पड़ रहे दीपकों के प्रकाश से प्रकाशित रहता है। उनके अनुसार सारा भविष्य बिलकुल साफ जाहिर है। भविष्य की गहराइयों का पूरा नक्शा तैयार है। स्वर्ग और नरक के भूमि-भाग स्पष्ट और सर्वथा ज्ञात हैं। जो लोग यह विश्वास करते हैं कि मरणोत्तर जीवन एक ऐसा तथ्य है जो ईश्वर ही हम पर प्रकट करता है। या जो यह मानते हैं कि शरीर से भिन्न आत्मा-जैसी कोई चीज नहीं है। उनके लिए मृत्यु के

उपरान्त जीवन कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं है। भौतिकवाद के स्थूल और अपरिष्कृत सिद्धान्त का, जो मृत्यु के बाद जीवन को स्वीकार नहीं करता, आत्मा के आविर्भाव के सिद्धान्त के साथ मेल नहीं बैठता। यदि आत्मा शरीर से पैदा नहीं होती, शरीर सिर्फ उसका आविर्भाव करता है, तो वह शरीर के नष्ट हो जाने पर नष्ट नहीं होती।

कठिनाई तब पैदा होती है जब हम भावी जीवन के स्वरूप की व्याख्या और वर्णन करने लगते हैं। पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर विचार करने से पूर्व हम दो अन्य सिद्धान्तों—वैयक्तिक अमरता और सोपाधिक अमरता—पर विचार करेंगे।

७. वैयक्तिक अमरता

जो लोग वैयक्तिक अमरता का प्रयत्न करते हैं वे यह ठीक-ठीक नहीं जानते कि उसका अभिप्राय क्या है। अपने प्रिय के विलुप्त हाथ का स्पर्श चाहते हैं, उस आवाज को सुनना चाहते हैं जो अब शान्त हो गई है। दूसरे शब्दों में, हम यह चाहते हैं कि व्यक्ति हमेशा जीवित रहे, उसका शरीर, मन और उसके ध्येय एवं लक्ष्य सब हमेशा बने रहें, अर्थात् हम उस घर को भी कायम रखना चाहते हैं जिसे हम देख और छू सकें और उसमें रहने वाले को भी। अगर घर नष्ट हो जाए, सिर्फ उसमें रहने वाला किरायेदार बचा रहे तो हमें तसल्ली नहीं होगी। जब हमारा बच्चा मर जाता है तो हम अपने खोए हुए बच्चे को ही देखना चाहते हैं, उसकी जगह किसी फरिश्ते को नहीं। हम उस व्यक्ति को चाहते हैं जिससे हम प्यार करते थे, दिव्य आत्मा का रूप धारण किये और ईश्वर की महिमा से मण्डित किसी व्यक्ति को नहीं, उसे देखकर तो हमारे हाथ-पाँव ठंडे हो जायेंगे। कल्पना कीजिए, हमसे यह पूछा जाय कि हम अपने पार्थिव जीवन के किस रूप को अमर बनाना चाहते हैं—मृत्यु के समय के शरीर को, बाल्यकाल के शरीर को या जन्म के समय के शिशु-रूप को। तब हम न अनन्त यौवन को चुनेंगे और न अनन्त जरा को। चाहे वह यौवन हो या घोर वृद्धावस्था, यदि वह अनन्त और अपरिणामी हो जाए तो हम उससे ऊब जायेंगे। [illegible] की प्रसिद्ध प्रणय-कहानी में अपने लिए अनन्त अक्षीण यौवन की पुनः माँग की थी। इससे ये कुछ बात [illegible] यह [illegible] कि जीवन का उत्कर्ष और जीवन की [illegible] एक साथ रहती है, किन्तु वे यह नहीं जानते कि इस प्रकार चीजों का मानव से मेल नहीं है। जिस

हम चाहते हैं उसे जानते नहीं और जिसे जानते हैं उसे चाहते नहीं।

८. सोपाधिक अमरता

सोपाधिक अर्थात् शर्त-सहित अमरता का सिद्धान्त अब लोकप्रिय होता जा रहा है खास तौर से ईसाई विचारकों में। लोत्ज़े का कहना है कि अमर वही व्यक्ति होते हैं जो अपने भीतर इतने ऊँचे मूल्य को साकार और मूर्त कर लेते हैं कि उसके कारण वे समग्र पूर्ण के आगे अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को खोते नहीं। प्रोफ़ेसर प्रिंगल-पैटिसन इस विषय में लोत्ज़े के अनुयायी हैं। उनका कहना है कि 'अमरता हर मानवीय आत्मा में नैसर्गिक रूप में विद्यमान नहीं है और न यह कोई तिलस्मी गुण है जो मानव-रूप धारण कर जन्म लेने वाले हर व्यक्ति को दे *दिया गया है। एक सच्ची आत्मा का जन्म सतत प्रयत्न के बाद होता है और उसे* कायम रखने के लिए भी वैसे ही प्रयत्न की आवश्यकता होती है क्योंकि उसके विघटन का खतरा हमेशा बना रहता है।[1] जिस प्रकार जीवों की अतिजीविता के लिए यह आवश्यक शर्त है कि वे अपनी परिस्थितियों और परिवेश के साथ सामंजस्य स्थापित करें उसी प्रकार मनुष्य की आत्मा भी तभी अतिजीवित अर्थात् कायम रह सकती है जबकि वह अपने ईश्वरीय परिवेश के साथ सामंजस्य स्थापित करे। अमरता हमारा नैसर्गिक जन्मसिद्ध अधिकार नहीं है वह एक ऐसा पुरस्कार है जो हमें जीतना पड़ता है।

यह सिद्धान्त युक्तियुक्त प्रतीत होता है क्योंकि इसमें हम अतिजीविता अमरत्व और सावधिक सातत्य को निरवधिक नित्य जीवन मान लेते हैं। मृत्यु के *समय हममें से प्रायः हर किसी की स्थिति उस पूर्णता से नीचे के दर्जे की होती है* जो हमें अमरत्व का अधिकार प्रदान करती है। यद्यपि हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि नित्य जीवन रूपी अमरत्व आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति पर निर्भर है तथापि हमें यह स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है कि यह विशाल मानव-संख्या जो इस नित्य अमरत्व की अधिकारिणी नहीं है इस जीवन के बाद नष्ट हो जाती है। यद्यपि अमरत्व के अधिकारी केवल पुण्यात्मा ही हैं, तथापि पुण्यात्मा और पापी दोनों का ही जीवन मृत्यु के बाद भी कायम रह सकता है। यह कहना सही नहीं है कि ईसाई धर्मशास्त्र के अनुसार पापियों और दुरात्माओं का चेतन-जीवन मृत्यु के बाद समाप्त हो जाता है। कैथोलिक ईसाई सम्प्रदाय में उनका अस्तित्व भी

[1] दि आइडिया ऑफ इम्मॉर्टैलिटी (१९२२), पृ० १४५ १४६।

अक्षम्य माना गया है जो ईश्वर के आशीर्वाद और वरदान से वंचित रह गए हैं। इस प्रकार अमर जीवन और पूर्ण विनाश ये दो ही विकल्प नहीं हैं, अन्य रूप में भी मृत्यु के बाद अस्तित्व कायम रह सकता है।

प्रोफेसर प्रिंगल-पैटिसन का मत है कि नैतिक जीवन का महत्त्व तभी रह सकता है जबकि अमरता सोपाधिक अर्थात् शर्त-सहित हो। लोगों को यह विश्वास दिलाना कि वे चाहे जो-कुछ करें, अन्त भला ही होगा, उन्हें यह समझाने का अच्छा और प्रभावकारी तरीका नहीं है कि वे इस जन्म में जो भी निश्चय अपने लिए करते हैं, उसका बहुत भारी महत्त्व है और वह उन्हें सोच-समझकर करना चाहिए, क्योंकि वह उनकी आत्मा को आदत की कड़ियों में जकड़ देता है और उससे छुटकारा पाना उनके लिए बहुत कठिन हो जाता है।[1] लेकिन उनका यह तर्क सही नहीं है। कर्म का सिद्धान्त हमारे इह-जीवन और इह-काल के कार्यों को बहुत महत्त्वपूर्ण मानता है और साथ ही अतिजीविता (सरवाइवल) की भी माँग करता है। यदि मानव-आत्मा इस जीवन में एक स्थायी उद्देश्य और लक्ष्य को सामने रखकर अपने मन की एकाग्रता उत्पन्न नहीं कर सकी तो यह आवश्यक नहीं कि उसका ऐकान्तिक विलोप हो जाए। इस विचार को मान लेने पर यह कल्पना करना कठिन होगा कि उन असंख्य बच्चों और शिशुओं का क्या होगा जो वास्तविक आत्मत्व का अवसर पाए बिना ही इस जीवन से चल बसे, यहाँ तक कि बहुत-से वयस्क मौत के समय वास्तव में बच्चे ही होते हैं। यह निश्चय करना सहज नहीं होगा कि क्या संश्लिष्टता, समन्वय और सामंजस्य प्राप्त कर लेना ही अतिजीविता के लिए आवश्यक है। हममें से बहुत-से ऐसे होंगे जिन्हें मृत्यु के समय तक किसी मूल्य का इतना बोध नहीं हो चुका होगा कि अपने जीवन में उसको और अधिक पूर्ण रूप में प्राप्त करने की ललक लिए सम्भावना हो। हमें कैसे जीवन जीना चाहिए यह हम प्रायः उस समय जानते हैं जब सारा जीवन खत्म हो चुकता है। प्रोफेसर प्रिंगल-पैटिसन भले ही यह मान लें कि 'जिन्होंने जीवन को एक बार प्राप्त कर उसका भली भाँति सदुपयोग नहीं किया उनको मृत्यु के बाद दूसरा जीवन प्राप्त होने की कोई आशा नहीं है'[2] और भले ही मानव-जगत् की आत्माओं की विशाल संख्या के पूर्ण और ऐकान्तिक विनाश से उन्हें कोई चिन्ता और कष्ट न हो, तथापि हमें इस सम्भावना की कल्पना करना

१ दि आइडिया ऑफ इम्मॉर्टेलिटी (१९२२), पृ० १९४।
२ दि आइडिया ऑफ इम्मॉर्टेलिटी (१९२२), पृ० १९०।

कठिन और असंगत प्रतीत नहीं होता है कि यदि सब मनुष्यों को कुछ और वर्षों का मौका दिया जाए तो वे भी प्रेम और अच्छाई अपने भीतर विकसित कर पुण्यार्जन कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त गहन प्रेम की शक्ति इतनी बड़ी है कि वह पतित-से-पतित आत्माओं को भी यह अनुभव करा सकती है कि वे कितने गिरे हुए हैं, इसलिए उनके भी उद्धार की आशा की जा सकती है। इतिहास ऐसे पापात्माओं के उदाहरणों से भरा पड़ा है जिन्हें एकाएक ज्ञान प्राप्त हो गया किन्तु यदि मृत्यु उनके जीवन को खत्म कर देती तो उनके जीवन का उद्धार कभी न हो पाता और ईश्वर का प्रयोजन और उद्देश्य निष्फल होता।

प्रोफ़ेसर प्रिगल-पैटिसन सम्भवतः यह स्वीकार नहीं करते कि व्यक्तियों के जीवन को एकदम नष्ट न कर उन्हें और अवसर प्रदान किये जाने चाहिएँ। 'टाइमेयस' में प्लेटो ने यह तर्क दिया है, क्योंकि ईश्वर अपनी कृति का स्वयं नष्ट करना कभी नहीं चाहेगा और दूसरा कोई उसे नष्ट कर नहीं सकता इस लिए मानव-आत्माएँ जिन्हें ईश्वर ने अपनी ही आकृति के अनुसार बनाया है नष्ट नहीं की जा सकतीं यह बड़ा सम्भव है कि मनुष्य ईश्वर का सायुज्य प्राप्त करने के लिए जिस प्रक्रिया से से गुजरता है वह एक अनन्त प्रक्रिया हो। प्रोफ़ेसर जे. ऐस्टलिन कारपेण्टर का कहना है बौद्ध-दर्शन में सभी प्राणियों की अन्ततः निर्वाण-प्राप्ति का उल्लेख है और ईसाई धर्म अपने व्यापकतम इतिहास में यही कहता रहा है और अब भी कहता है कि असंख्य प्राणी अनन्त काल तक यातनाएँ भोगते रहेंगे और पाप करते रहेंगे।' अनन्त नरकवास-सम्बन्धी शिक्षा ईसाई धर्म के सारे इतिहास में सतत और व्यापक रूप से चली आ रही है हालाँकि ओरिजन और ईसाई प्लेटोवादियों ने इस बात पर बल दिया है कि अन्ततः सभी प्राणी मुक्त हो जाएँगे। ओरिजैन का कहना था कि वास्तव में ईश्वर के सहायक को छोड़कर अन्य सभी मुक्त हो जाएँगे। रोमन कैथोलिक ईसाई सम्प्रदाय कौंसिल आफ ट्रेन्ट के कथन के कारण अनन्त नरकवास के विचार को स्वीकार करने के लिए बाध्य है। हम ईसा के कठोर वचनों को अप्रामाणिक और प्रक्षिप्त कहकर बाइबिल से निकाल सकते हैं। डाइविज (धनी लोग) के जिस वचन की बात बाइबिल में मिलती है वह उसके पाप-प्रवचन के लिए ही है। ईव-सेंट की कहानी में पापियों के ... और दाँत किटकिटाने की जो बात की गई है और बाइबिल में ... (होली स्पिरिट) के विरुद्ध पाप-कर्म करने वाले ... से और न

कभी भविष्य में प्राप्त किए जाने की जो बात कही गई है, इन सबको हम स्वर्ग और नरक के सिद्धान्त की अभिव्यक्तियाँ मानकर उपस्थित कर सकते हैं। और फिर भी ऐसी बहुत सी शिक्षाएँ हैं जिन पर किसी का विवाद नहीं है, किन्तु वे बाद के धर्मशास्त्रवादियों द्वारा अत्यधिक अतिरंजित कर दी गई हैं। इन अति-रंजनापूर्ण वचनों में कहा गया है कि यदि हम अपना पाप-कर्म करने वाला हाथ या पैर काट फेंकने के लिए तैयार नहीं हैं तो गहन्ना (नरक) में जाने के सिवाय हमारे लिए और कोई उपाय नहीं है। स्वर्गीय भाव और भद्र-कहानियों की कहानियों में भी शाश्वतिक नरकवास को ही पाप कर्म करने वालों के लिए वास्तविक सम्भावना माना गया है। किन्तु आधुनिक लोगों का मन ऐसे अनन्त दण्ड को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है जिसमें पापी के सुधार की कोई गुंजाइश न हो। आधुनिक लोग यह समझते हैं कि स्वर्ग-द्वार से भटक गए व्यक्ति को भी अन्ततः सन्मार्ग पर लाकर बचाया जा सकता है। हम यह भय मन में रखने की आवश्यकता नहीं है कि इस सिद्धान्त को अपनाने से नैतिक आचार और प्रयत्न का उत्साह कुण्ठित हो जाएगा। ईसा के अधिक परिष्कृत वचनों में हमें इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि वह मनुष्य-मात्र की अन्तिम मुक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करते थे। बाइबिल में यह जो कहा गया है कि परमपिता ईश्वर की दृष्टि में हर व्यक्तिगत आत्मा का अनन्त मूल्य और महत्त्व है, वह इस बात का विश्वास दिलाता है कि वह (परमपिता) अपनी एक भी सन्तान की मृत्यु का नुकसान उठाना नहीं चाहेगा। कहा जाता है कि सूली पर लटकाए जाने से पूर्व ईसा ने कहा था "मैं एक अच्छा गडरिया हूँ। अच्छा गडरिया इस बात के लिए अपनी जान भी बाजी लगा देता है कि उसकी एक भी भेड़ न मरे।" ईश्वर इतना उतावला या अधीर नहीं है कि सिर्फ मनुष्य के एक जन्म की छोटी-सी अवधि में ही धैर्य खो दे। यदि ईश्वर का हर आत्मा से प्यार है तो अन्ततः समस्त प्राणियों की मुक्ति अनिवार्य है। यदि कुछ आत्माएँ भी नष्ट हो जाती हैं तो ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

यदि अमरत्व से हमारा अभिप्राय अनिर्धारिता (मृत्यु के बाद पुनर्जन्म) नहीं बल्कि नित्य जीवन (मुक्ति) है तो उसके लिए व्यक्तिगत प्रयत्न का महत्त्व अधिक स्पष्ट है। इसके लिए उद्देश्य निश्चय कर लिया जा सकता है किन्तु उसे प्राप्त करने के लिए आत्माओं के परस्पर सक्रिय सहयोग की आवश्यकता है। यदि

कठिन और असंगत प्रतीत नहीं होता है कि यदि सब मनुष्यों को कुछ और वर्षों का मौका दिया जाए तो वे भी प्रेम और भलाई अपने भीतर विकसित कर पुण्यार्जन कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य प्रेम की शक्ति इतनी बड़ी है कि वह पतित-से-पतित आत्माओं को भी यह अनुभव करा सकती है कि वे कितने गिरे हुए हैं इसलिए उनके भी उद्धार की आशा की जा सकती है। इतिहास एसे पापात्माओं के उदाहरणों से भरा पड़ा है जिन्हें एकाएक ज्ञान प्राप्त हो गया किन्तु यदि मृत्यु उनके जीवन को खत्म कर देती तो उनके जीवन का उद्धार कभी न हो पाता और ईश्वर का प्रयोजन और उद्देश्य निष्फल होता।

प्रोफ़ेसर प्रिंगल-पैटिसन सम्भवत यह स्वीकार नहीं करते कि व्यक्तियों के जीवन को एकदम नष्ट न कर उन्हें और अवसर प्रदान किये जाने चाहिएं। टाइमेयस म प्लेटो ने यह तर्क दिया है क्योंकि ईश्वर अपनी कृति को स्वय नष्ट करना कभी नहीं चाहेगा और दूसरा कोई उसे नष्ट कर नहीं सकता इस लिए मानव-आत्माएं जिन्हें ईश्वर ने अपनी ही आकृति के अनुसार बनाया है नष्ट नहीं की जा सकतीं यह जरूर सम्भव है कि मनुष्य ईश्वर का सादृश्य प्राप्त करने के लिए जिस प्रक्रिया म से गुजरता है वह एक अनन्त प्रक्रिया हो। प्रोफ़ेसर य ऐल्फ्रिड कारपेन्टर का कहना है, बौद्ध-दर्शन में सभी प्राणियों की अन्तत निर्वाण प्राप्ति का उल्लेख है और ईसाई धर्म अपने अपेक्षाकृत इतिहास में यही कहता रहा है और अब भी कहता है कि असंख्य प्राणी अनन्त काल तक यातनाएं भोगते रहेंगे और पाप करते रहेंगे। ये म तत्व नरकवास-सम्बन्धी शिक्षा ईसाई धर्म के सारे इतिहास म सतत और व्यापक रूप से चली आ रही है हालांकि ओरिजन और ईसाई प्लेटोवादियों ने इस बात पर बल दिया है कि अन्ततः सभी प्राणी मुक्त हो जाएंगे। ओरिजेन का कहना था कि वास्तव में ईश्वर के महायज्ञ का दाहक गब सभी मुक्त हो जाएंगे। रोमन कैथोलिक ईसाई सम्प्रदाय कौंसिल आफ क ऐंसम क वास्य अनन्त नरकवास के विचार को स्वीकार करने के लिए बाध्य है। हम ईसा के कठोर वचनों को अप्रामाणिक और प्रक्षिप्त कहकर बाइबिल म निकाल सकते हैं। ग्राइबिज (अमी सोल) के जिस वचन की बात बाइबिल म मिलती है वह उनके पाप-शमन के लिए ही है। क्रुम-मेंट की कहानी के गालियां न ा न और दान किर्किस्टाओ की भी दो बातें की गई हैं और बाइबिल में ईश्वर (होली स्पिरिट) के विरुद्ध पाप-कर्म करने वाले के न इस जन्म में और न

१६ निर्वाणिट १ ३ ६ ।

वीरता पैदा करता है और उसके मन से मृत्यु का भय भगा देता है। ईसाई धर्म में भी शुरू की शताब्दियों में कुछ प्रारम्भिक नौस्टिक सम्प्रदाय (रहस्यवादी) और चौथी पाँचवीं शताब्दियों में मैनिकेन सम्प्रदाय पुनर्जन्म में विश्वास करते थे। ओरिजेन का भी पुनर्जन्म में विश्वास था। मध्य-युग में अनेक कथारी सम्प्रदायों में भी यह विश्वास परम्परागत रूप से विद्यमान था। पुनर्जागरण के समय ब्रूनो ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया और सत्रहवीं शताब्दी में वान हेल्मोंट ने भी इस सिद्धान्त को अपनाया। स्वीडनबर्ग ने इस सिद्धान्त का कुछ संशोधित रूप में उल्लेख किया है। गोएठे ने इस सिद्धान्त का मज़ाक उड़ाया किन्तु लेसिंग और हर्डर संजीदगी से इस पर विश्वास करते थे। ह्यूम और शोपेनहॉवर ने इस सिद्धान्त का आदर के साथ उल्लेख किया और आज के समकालिक दार्शनिकों में से भी कम-से-कम आधा दर्जन ऐसे हैं जो इस सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं, हालाँकि पर्याप्त प्रमाण और साक्ष्य के अभाव में वे इसे आधिकारिक रूप में कहने के लिए तैयार नहीं हैं।[1]

आत्मा की उत्पत्ति के बजाय आविर्भाव का सिद्धान्त पुनर्जन्म के सिद्धान्त को युक्तियुक्त सिद्ध करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार समस्त प्रकृति में जीवन का नाश नहीं होता बल्कि वह निरन्तर नये-नये रूप धारण करता जाता है और अक्षय्य बना रहता है। जीवन एक सतत गति और प्रवाह है, जिसका कहीं विराम नहीं है जो भूत की ओर न लौटकर भविष्य की ओर बराबर बढ़ता जाता है। जीव-जन्तु जगत् में विकास के द्वारा किसी सम्पूर्ण प्राणि-जाति का स्थायी और सार्वकालिक हो जाना ही अन्तिम लक्ष्य है किन्तु मानव-जगत् में हर व्यक्ति के पृथक विशिष्ट व्यक्तित्व का विकास लक्ष्य प्रतीत होता है। मनुष्य की आत्मा कोई ऐसा अमूर्त गुण या तत्त्व नहीं है जो हर समय एक-जैसा ही रहे। यह एक सजीव अनुभव है जिसका सावयविक होना एक आन्तरिक लक्षण है। यदि प्रकृति की शेष सब चीज़ें अपने नाम अलग रूप से विद्यमान किसी वस्तु से उद्भूत होती हैं और फिर अपने नाम अलग रूप से विद्यमान किसी वस्तु में विलीन हो जाती हैं तो आत्मा ही इस सामान्य नियम से अलग क्यों रहे। 'मर्त्य सस्य (खेती) की तरह पकता है और सस्य की तरह ही फिर उत्पन्न हो जाता है।'[2] एक धान बनन के भीतर नानाय प्रकृति का नियम है। यदि नानाय के सामान्य नियम का

१ देखिए दि नेचर ऑफ़ एग्ज़िस्टेन्स भाग २ (१९२७) अध्याय ६३।
२ कठोपनिषद् १.६।

हम यह विश्वास करते हैं कि पापी-से-पापी व्यक्ति भी एक दिन सन्मार्ग पर आ सकता है तो यह हमारा परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता पर विश्वास है। इस से हम यह भी स्वीकार करते हैं कि अच्छाई एक दिन सभी को सच्ची राह पर आने के लिए मजबूर करती है। कोई भी व्यक्ति नितान्त बुरा नहीं है, अच्छाई उसके हृदय में भी प्रवेश कर सकती है। आत्मा के प्रभाव का कोई भी व्यक्ति अधिक समय तक प्रतिरोध नहीं कर सकता और जिन आत्माओं ने साधना और संयम से अपने जीवन को पूर्ण बना लिया है वे सारी मानव-जाति का उद्धार कर देंगी।

१ पुनर्जन्म

पुनर्जन्म के सिद्धान्त का इतिहास और प्रभावपूर्ण है। ओर्फियस के धर्म का यह मूलभूत विश्वास था कि जन्म-मरण का चक्र अनवरत रूप से चलता रहता है। पैथागोरस प्लेटो और एम्पीडोक्लीज पुनर्जन्म को स्वतःसिद्ध मानते हैं। उनका कहना है कि अगर पूर्व-जन्म है तो पुनर्जन्म भी है। पूर्व-जन्म और उत्तर-जन्म दोनों साथ-साथ चलते हैं। बाद के विचारकों—प्लोटिनस और नव-प्लेटो वादियों—ने भी पुनर्जन्म को माना। यदि हम इबरानियों पर दृष्टिपात करें तो हम देखेंगे कि फिलो में भी इसके संकेत मिलते हैं और कब्बाला में तो निश्चित रूप से यह विचार पाया जाता है। सूफी सम्प्रदाय के लेखकों ने भी इसे स्वीकार किया है। ईसाई सवत्सर के प्रारम्भ के आसपास फिलिस्तीन में भी यह विचार प्रचलित था। उदाहरण के लिए हेरोद ने यह विचार प्रकट किया था कि बप्तिस्मा करने वाले जॉन (जॉन दि बैप्टिस्ट) ने ही ईसा के रूप में जन्म लिया है।[1] ईसा के शिष्यों ने उस लोगों में फैली इन अफवाहों की खबर दी थी कि यह बप्तिस्मा करनेवाला जॉन या एलिजा या जेरेमिया है। जब ईसा ने एक जन्मान्ध व्यक्ति की चिकित्सा की तो लोगों ने उससे पूछा कि क्या यह अन्धापन उसके पूर्व-जन्म के पापों का फल है।[2] जुलियस सीजर का कहना है कि ब्रिटिश लोगों के पूर्वजों में भी पुनर्जन्म का विश्वास प्रचलित था। अपनी 'हिस्ट्री ऑफ़ दि गॉलिक वार्स' नामक पुस्तक में उसने लिखा है कि "इन लोगों का यह एक प्रमुख सिद्धान्त है कि आत्माओं का विनाश नहीं होता बल्कि वे मृत्यु के बाद एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण कर लेती हैं और उनका खयाल है कि यह सिद्धान्त लोगों में

[1] मैथ्यू XIV ।

[2] जान IX. । मैथ्यू XI १४-१५ भी देखिए।

इसे भंग नहीं करता है तो मानवीय आत्मा का भी मृत्यु के बाद सतत अस्तित्व रहना चाहिए। आत्माएँ अतीत के धागे को कायम रखती हैं उससे वर्तमान में कुछ ताना-बाना बुनती हैं और भविष्य के ताने-बाने की तयारी करती हैं।

मानवीय स्तर पर सातत्य उसी प्रकार का नहीं हो सकता जिस प्रकार का अवमानव स्तर पर होता है। कारण आत्मा में जो परस्पर संश्लिष्टता और निर्भरता है वह अवमानव स्तर पर नहीं होता। अवमानव स्तर पर जो ऐक्य होता है वह मानवीय स्तर पर विद्यमान ऐक्य और संश्लिष्टता की अपेक्षा शिथिल होता है। दीवार टूट जाने पर भी इसकी ईंटें पहले की तरह साबुत रह सकती हैं। किन्तु यदि आत्मा का विनाश ही जाए तो उसके विचार, भावना और इच्छा आदि तत्त्व भी नष्ट हो जाएँ। आकार और भौतिक वस्तु जगत और उसका मसाला इतने संश्लिष्ट रूप में परस्पर जुड़े हुए हैं कि यदि उन्हें एकदम एक-दूसरे से पृथक कर दिया जाए तो आत्मा ही नष्ट हो जाए। इसीलिए मानव-आत्मा का सातत्य वैसा नहीं है जैसा कि अन्य प्राणियों का।

आत्मा का उद्‌भव व्यक्ति के रूप में कार्य करता और उसका विकास करता जाता है। उसकी गहराई समृद्धता और व्यापकता अनिश्चित काल और विस्तार तक बढ़ती रह सकती है। हममें जो शक्तियाँ हैं उनका उपयोग और हम जिन मूल्यों की प्राप्ति के लिए उद्योग करते हैं उनकी परिसमाप्ति एक ही जन्म में नहीं हो सकती। आत्मा की अनन्त सुधार की क्षमता और सातत्य का सर्वव्यापी तथ्य दोनों ही एक ऐसे भविष्य की ओर संकेत करते हैं जिसमें आत्मा को अपना 'अखण्ड पूर्णता' को पूरा करने का अवसर मिलता है। मृत्यु के द्वारा बीच में ही खण्डित कर दिए गए जीवन जिनके पुनर्नवीकरण की आवश्यकता होती है, ऐसी शक्तियाँ हैं जो सृष्टि को अखण्डता प्रदान करती हैं। उत्तरोत्तर जन्मों की शृंखला एक ऐसी सुगठित शृंखला है जिसमें कई जन्म के कर्म दूसरे जन्म के आधार और अवस्था का निश्चय करते हैं। आत्माएँ जन्मों की वीथि में घूम घूम कर लक्ष्य की ओर नहीं भागतीं। उस ईश्वर की सन्तानों को जिसकी दृष्टि में हजार वर्ष केवल एक दिन के बराबर हैं, इस बात से निराश नहीं होना चाहिए कि वह पूर्णता का लक्ष्य एक जन्म में प्राप्त नहीं कर सकी। व्यक्ति अतीत में असंख्य बार प्रकृति के रंगमंच पर प्रकट और अदृश्य हुआ है और इसी प्रकार असंख्य शताब्दियों तक अदृश्य और फिर फिर नये रूप में प्रकट होता रहेगा। यह

[illegible] १।

से बच्चे पाए जाते हैं जिनमें बाल्यकाल में ही असाधारण परिपक्व प्रतिभा होती है। पश्चिम में भी हमें ऐसी बाल-प्रतिभाएं मिलती हैं। येहूदी मैन्युहिन ने बारह वर्ष की आयु में न केवल अपने वायलिन-वादन की परिपक्व और प्रौढ़ टेक्नीक से बल्कि अपनी संगीत की व्याख्या से भी एल्बर्ट हॉल में संगीत-समीक्षकों को चकित कर दिया। बेंजामिन शिशु मानो सेनीभार ने बुडेपेस्ट के प्रोफ़ेसरों को पल-भर में पाँच अंकों की किसी भी संख्या का किसी भी अन्य पाँच अंकों की संख्या से गुणा करके और गणित के दूसरे पेचीदा सवाल करके आश्चर्य में डाल दिया। क्या इनकी असाधारण प्रतिभा का कारण पूर्व-जन्मों में उपार्जित शक्तियों और गुणों को नहीं माना जा सकता?

यदि हम आत्मा का पूर्व-अस्तित्व नहीं मानते तो हमें यह कहना चाहिए कि आत्मा का जन्म शिशु के जन्म के साथ होता है। इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने पर तमाम शिक्षा और अनुभव निरर्थक हो जाएँगे। यदि आत्मा एक निश्चित स्वभाव के साथ जन्म लेती है तो यह समझना कठिन है कि इस पर विविध प्रकार के स्वभाव थोपने का क्या लाभ है। तब हमारे भाग्य हमें ईश्वर के अत्याचार या मनमानापन प्रतीत होंगे। उसका अर्थ यह होगा कि प्रकृति नहीं तो ईश्वर ही हमें भिन्न परिस्थितियों में रख देता है और फिर हमारा फैसला एम करता है मानो स्वयं हम ही अपने भाग्य के लिए उत्तरदायी हों। तब ईश्वर ज़रूर ही अत्यन्त मनमौजी होगा जो हमारे कामों और उपक्रमों में मज़ा लेता है। वह ईसा और जुडास दोनों को अलग-अलग प्रकार के स्वभाव देता है और वह फिर यह शिकायत करता है कि ईसा तो स्वर्ग का अधिकारी हो गया है और जुडास नहीं हो सका। अगर मनमानापन और स्वैर-वृत्ति का ही राज्य है तो विवेक और निर्णय बिलकुल व्यर्थ और गलत हो जाते हैं।

यदि जीवन के सातत्य का नियम एक टूटा हुआ स्वप्न नहीं है तो भावी जीवन भी वैसा ही होना चाहिए जैसा कि वर्तमान जीवन है। आत्मा कोई पर मानसिक व्यष्टि (न्यूनिसयस) नहीं है जो समग्र अवयवों से सर्वथा भिन्न हो। इसलिए मृत्यु के बाद भी उसकी प्रकृति वैसी ही रहेगी। आत्म-जन्म सिद्धान्त का

कुछ गुण देखते हैं जो दूसरों के द्वारा स्वतन्त्र सुदीर्घ अनुभव के बाद प्राप्त किये जाते हैं। यदि हम पूर्व जन्म को स्वीकार कर लें तो हम इन असाधारण गुणों की भी किसी जन्म में प्राप्त कर सुदीर्घकालीन अनुभवों के संचित परिणाम के रूप में व्याख्या कर सकते हैं। —मन ट्रान्समाइग्रेशन ऑफ़ रिलिजन (१९), पृष्ठ १ २)।

पर निर्भर है। शरीर को जब चोट लगती है तो वह सिर्फ आत्मा के अभिव्यक्त रूप को ही नहीं स्वयं आत्मा को भी प्रभावित करती है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि शरीर में चोट लगने या क्षति पहुँचने से मनुष्य का चरित्र ही बदल जाता है। इसके उत्तर में हम यह नहीं कह सकते कि मनुष्य का चरित्र नहीं बदलता सिर्फ उसका व्यवहार बदलता है। आत्मा मन और शरीर का एक सम्मिश्रण है, भले ही मन शरीर से कितनी ही उच्च स्थिति में हो। इसीलिए यह कहा जाता है कि स्थूल शरीर के मर जाने का अर्थ समस्त भौतिक सम्बन्धों का पूर्ण उच्छेद नहीं है। हिन्दू लोग शरीर को रथी आत्मा का रथ मानते हैं, जो इस स्थूल शरीर से भिन्न होता है किन्तु पूर्णतः व्यतिरिक्त नहीं होता। दूसरे शब्दों में आत्मा और शरीर का सम्बन्ध व्यापी या अवयव-अवयवी सम्बन्ध होता है। प्राचीन काल में एक सूक्ष्म शरीर की जो कल्पना की जाती थी वह भौतिक अनुसन्धान से भी कुछ पुष्ट होती है। भूत प्रेत-सम्बन्धी घटनाओं के सम्बन्ध में यदि हम यह मान भी लें कि कुछ घटनाएँ धोखाधड़ी भ्रम या आकस्मिक संयोग की घटनाएँ होती हैं तो भी इस विश्वास का औचित्य सिद्ध करने के लिए काफी प्रमाण है कि भूत प्रेत की घटनाएँ उन आत्माओं के कारनामों का परिणाम होती हैं जिनके शरीर की शक्ल में वे भूत प्रेत दिखाई देते हैं।

यदि आत्मा और शरीर के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है तो हम यह नहीं कह सकते कि कोई भी आत्मा किसी भी शरीर में वास कर सकती है। यदि आत्मा के अस्तित्व की परिस्थितियाँ और अवस्थाएँ वैसी ही हों जैसी कि इस जन्म में हैं तो पशुओं या वनस्पतियों की योनियों में जन्म लेने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। मृत्यु के बाद दूसरे जन्म में जीवन का प्रकार वर्तमान प्रकार से पूर्णतः भिन्न नहीं हो सकता। मृत्यु आत्मा के जीवन को इतना आत्यन्तिक रूप से नहीं बदल सकती। कोई भी मानव प्राणी किसी ऐसे शरीर में जन्म नहीं ले सकता जो उसके स्वभाव चरित्र और प्रकृति के इतना प्रतिकूल हो। यह सम्भव है कि मनुष्य अत्यन्त बर्बर हो जाए किन्तु फिर भी वह रहता मनुष्य ही है। यदि हम यह कहें कि मनुष्य पहले भी अनेक विभिन्न योनियों में से होकर मनुष्य-योनि में

१ हिन्दू शास्त्रों में पशु-योनियों में पुनर्जन्म की बात कही गई है (देखिए छान्दोग्य उपनिषद् ५.१०.७ और मनुस्मृति १२.९ आदि)। प्लेटो के 'टिमेयस' में मनुष्यों के पशु-रूप में जन्म लेने का उल्लेख मिलता है। एम्पीडोक्लीज का विश्वास था कि आत्माएँ पशु या वृक्ष योनि में जन्म लेती हैं।

सकती। परन्तु वास्तव में यदि सामान्य जीवन को हमें वास्तविक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए व्यर्थ प्रयत्न कहकर तिरस्कृत नहीं करना है तो हमें यह मानना चाहिए कि पुण्य या धर्म को हर बुद्धियुक्त प्राणी प्राप्त कर सकता है और धर्म के साथ उसके समान अनुपात में सुख भी रहता है। किन्तु क्योंकि पूर्ण धर्म इस जीवन में प्राप्त नहीं किया गया है और अनुभव हमें यह बताता है कि धर्म के अनुपात में मनुष्य को सुख नहीं मिलता इसलिए यह निश्चित है कि मनुष्य का जीवन अनन्त है और एक ऐसा ईश्वर भी है जो इस बात का ध्यान रखेगा कि अन्त में धर्म और सुख का ठीक-ठीक अनुपात में बँटवारा हो। कान्ट इस तर्क में यह मानकर चलता है कि नैतिकता में यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि धर्मात्मा लोगों को उनकी अच्छाई के अनुपात में सुख भी मिले। इस प्रकार की न्यायपूर्ण व्यवस्था में पुण्य का पुरस्कार सुख के रूप में और पाप का दण्ड दुःख के रूप में मिलना ही चाहिए। परम्परागत ईसाई सिद्धान्त में हमसे कहा जाता है कि 'हमें ईश्वर की इच्छा का पालन करने और अनन्त सुख की प्राप्ति के लिए ही धर्म और पुण्य कार्य करना चाहिए। प्लेटो ने अपने 'रिपब्लिक' में धर्मोपदेशकों का यह कहकर उपहास किया है कि वे मृत पुण्यात्माओं के बारे में यह कहते हैं कि 'वे स्वर्ग में धर्मात्मा लोगों के भोज में आराम से पायेदार कुरसियों पर बैठते हैं उनके सरों में मालाएँ पड़ी रहती हैं वे अनन्त काल तक अथवा नित्य जीवन सुरापान में व्यतीत करते हैं। प्लेटो का कहना है कि "इन धर्मोपदेशकों की नजर में पुण्य और धर्म का पूर्ण पुरस्कार यही है कि धर्मात्मा लोगों को खूब शराब पीने को मिले। अनेक धर्मों में हम यह देखते हैं कि उनमें विश्व के नैतिक शासन को अच्छे या बुरे कामों का समुचित फल समझ लिया जाता है। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि हिन्दू धर्म में इस जीवन में किये गए कामों के लिए मृत्यु के बाद उचित पुरस्कार या दण्ड की कल्पना की गई और इसने अनेक विकृत और अतिरंजित रूप धारण कर लिए। किन्तु हिन्दू विचारक जो

(क्रो) [illegible] (१९०८), भाग १ अध्याय ७।

११। स्पिनोज़ा उन लोगों की कड़ी आलोचना करता है "जो यह आशा करते हैं कि [illegible] अपने पुण्य और उत्तम कार्यों के लिए ऊँचे पुरस्कार देगा जैसे किसी मनुष्य को उसका स्वामी अपनी पूरी तरह गुलामी करने पर देता है। मानो वे लोग समझते हैं [illegible] की सेवा करना अपने-आपमें परम सुख और पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं है।" (एथिक्स ५ [illegible]। इसकी तुलना इसी पुस्तक के ६४ से भी कीजिये)।

जीवन का मूल बीज होता है।

पुनर्जन्म के समय प्राप्त शरीर के साथ आत्मा का मेल और आनुकूल्य होने की कठिनाई सिर्फ पुनर्जन्म के सिद्धान्त के साथ ही जुड़ी हुई नहीं है। जब तक हम यह स्वीकार नहीं करते कि आत्मा के चरित्र और लक्षणों का निर्माण शरीर से होता है तब तक एक खास आत्मा का एक खास शरीर से सम्बन्ध एक समस्या बना रहेगा। आत्मा का किसी शरीर के साथ इतना गहरा सम्बन्ध क्यों हो जाता है कि उसका लक्षण उस शरीर के पूर्ववर्तियों के शरीर के लक्षणों से मिल जाता है। यदि हम यह मान लें कि माता-पिता नया शरीर पैदा करते समय नयी आत्मा को पैदा नहीं करते और नयी आत्मा को ईश्वर पैदा करता है तो भी पुनर्जन्म का पक्ष इससे कमजोर नहीं होता। माता-पिता उस दशा में नये जीवन के परिपाक के लिए सामग्री जुटाते हैं।

कहा जाता है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त आनुवंशिकता के सिद्धान्त के साथ संगत नहीं है। बच्चा अपने माता-पिता की ही उपज प्रतीत होता है जिनके साथ उसका शरीर और मन दोनों मिलते हैं। यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं है कि वह पिछले किसी जीवन से इस नये जीवन में आया है। परन्तु यदि बच्चा वास्तव में ही माता-पिता की ही उपज है तो वंशागति का नियम सर्वव्यापी नियम होना चाहिए। और यह कठिनाई भौतिकवाद को छोड़कर हर सिद्धान्त के साथ लगी हुई है। यदि ईश्वर आत्मा का 'सृजन करता है' तो कोई कारण नहीं कि वह अपने माता-पिता के सदृश हो। यदि यह माना जाए कि ईश्वर पहले आत्मा का चरित्र निर्धारित करता है और फिर उसके अनुकूल शारीरिक आधार के लिए माता-पिता का चुनाव करता है तो यह सिद्धान्त को बहुत लम्बा खींचना होगा और उस पर और भी अनेक आपत्तियाँ उठायी जा सकेंगी। इसलिए यह मान लेना अधिक आसान और सरल है कि पुनर्जन्म की खोज करती हुई आत्मा ऐसे शरीर में प्रवेश कर जाती है जिसमें उसके लिए आवश्यक परिस्थितियाँ होती हैं। माता-पिता वंशागत के नियम के अनुसार जो भौतिक देह प्रदान करते हैं उसे आत्मा ग्रहण कर अपने अनुकूल बना लेती है। यदि यह सिद्धान्त स्वीकरणीय नहीं है तो दूसरा सिद्धान्त तो बिलकुल भी स्वीकरणीय नहीं हो सकता जिसमें यह माना जाता है कि एक प्रकार का अनिश्चित तत्त्व उपयुक्त अवसर आने पर शरीर के ढाँचे में डाल दिया जाता है। आत्मा अपने लिए ऐसा शारीरिक ढाँचा चुन लेती है जो उसके अनुकूल होता है जिस तरह हम ऐसा टोप चुनते हैं जो हमारे सिर पर

व्यक्ति के समस्त मानुभविक अस्तित्व में उसके साथ रहता है और वह एक ऐसा ढाँचा होता है जिस पर स्थूल शरीर आवरण के रूप में मढ़ा रहता है। यही सूक्ष्म शरीर नये जन्म के समय आधार के रूप में होता है और स्थूल शरीर के निर्माण के लिए भौतिक तत्त्वों को अपनी ओर आकृष्ट करता है। शारीरिक मृत्यु होने पर केवल बाह्य स्थूल आवरण का ही नाश होता है। आत्मा का शेष अंश वैसा-का-वैसा रहता है। पुनर्जन्म उस साधन का परिवर्तन-मात्र है जिसके द्वारा आत्मा क्रिया करती है। आत्मा हर जन्म के समय नयी-नयी सृष्ट नहीं होती बल्कि एक सतत प्रक्रिया होती है। भौतिक मृत्यु होने पर आत्मा एक स्थिति से दूसरी स्थिति में संक्रान्त होती है। 'जिस प्रकार मनुष्य एक खाई के किनारे पर लगे वृक्ष की डाली पर रस्सा बाँधकर और उसे पकड़कर झूलता हुआ खाई के पार पहुँच सकता है उसी प्रकार मन (विज्ञान) भी मृत्यु के समय वस्तुओं के कारण-कार्य सम्बन्ध द्वारा एक जीवन से दूसरे जीवन में संक्रान्त होता जाता है।'[1] भौतिक गुरुत्वाकर्षण की भाँति एक मानसिक गुरुत्वाकर्षण-जैसी चीज भी होती है जिससे आत्माएँ अपना एक नियत स्तर अर्थात् अपना उचित परिवेश प्राप्त करती हैं। जन्म सूक्ष्म मन का शरीर धारण करना है जबकि मृत्यु उसका शरीर त्याग करना। जो मशीनरी हम इस्तेमाल करते हैं वह जब बेकार हो जाती है तो हम उसे रद्दी में फेंक देते हैं और उसकी जगह नयी मशीनरी स्थापित कर देते हैं। सन्त पॉल ने यही बात आलंकारिक भाषा में कही थी कि हर बीज को अपना शरीर दे दिया जाता है।[2] हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में कहा जाता है कि मृत्यु के समय मनुष्य के मन में जो विचार होता है वह अगले जन्म के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। यह बात नहीं कि मृत्यु के समय के विचार विकास की अन्य पूर्ववर्ती अवस्थाओं के विचारों से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं बल्कि वे एक जन्म में हुए आत्म विकास की प्रक्रिया की परिणति होते हैं। मृत्यु के समय जो विचार मनुष्य के मन में होता है उसमें पहले के सभी विचार और मानसिक अवस्थाएँ निहित होती हैं। वह अपने पूर्ववर्ती विचारों का सार अपने अतीत का उत्तराधिकारी और उत्तर

१ मिलिन्दप्रश्न पृष्ठ ४७४ (पाली टेक्स्ट सोसायटी १९२०-१९२१)।
२ तुलना कीजिए [illegible] १ पृष्ठ २ ३। [illegible] है और [illegible]। इसी प्रकार [illegible] तुलना कीजिए जॉन मेसफील्ड ने अपनी [illegible] शीर्षक कविता में कहा है 'मेरा ख्याल है कि जब आदमी मरता है तो उसकी आत्मा फिर दुनिया में [illegible] आती है।

जारी रहनी चाहिए और यह कल्पना करना तर्क-विरुद्ध नहीं है कि इस जीवन के बाद ऐसे ही अन्य जीवन आते हैं और हर जीवन को मृत्यु और पुनर्जन्म अपने पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती जीवनों म अलग करते है। यद्यपि यह कल्पना हम कर सकते हैं कि मृत्यु के बाद का जीवन इतना अनिश्चितकालीन और लम्बा होगा कि इस जीवन में जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है वह अगले जीवन म भी जारी रहेगी किन्तु यह सम्भव नहीं है कि इस जीवन के अनुभवों में अगले जीवन में इतना अधिक परिवर्तन हो जाएगा। जो भी हो हम यह मानना ही पड़ेगा कि यदि हम नरक में प्रवेश करते हैं तो नरक की स्थिति का एक दिन अन्त अवश्य होगा बशर्ते कि ईश्वर शैतान न बन जाना चाहता हो। हममें से कोई भी इतना पतित और दिव्यता एवं ईश्वर के स्पर्श से इतना शून्य नहीं है कि वह अनन्त काल के लिए नरक म भेज जाने योग्य हो। यह हो सकता है कि हम पूर्णता की स्थिति के साथ मृत्यु की संगति न मानें किन्तु अपूर्ण की मृत्यु हो जाना तो सर्वथा सगत है। मृत्यु के बाद दूसरा जीवन हमारे वर्तमान अस्तित्व के साथ सतत रूप से जुड़ा हुआ है।

विलियम जेम्स ने 'अमरता' के सम्बन्ध में अपनी एक व्याख्या में कहा है कि यदि हम मृत्यु के बाद भी भावी जीवन की कल्पना को सही मानें तो हम जीवन के उस पार भारी भीड़ हो जाएगी और सब लोगों के लिए वहाँ स्थान का प्रबन्ध करना एक बड़ी समस्या हो जाएगी। 'इतनी विशाल धरती का जिसमें निरन्तर वृद्धि हो रही है अनन्तकाल तक वहीं सुरक्षित रखने की कल्पना से स्वर्गलोक और अनन्त देश एवं काल भी हक्के-बक्के रह जाएँगे।'[1] यदि नयी-नयी आत्माएँ अनवरत रूप से पहुँचती रहें और उनकी मृत्यु कभी होनी न हो तो वास्तव में ही कठिन स्थिति पैदा हो जाएगी। जो लोग इस आपत्ति को सचमुच गम्भीरता से लेते हैं, उन्हें भी तसल्ली और निश्चिन्तता हो जाएगी यदि यह मान लिया जाए कि भावी जीवन में भी पुनर्जन्म और पुनर्मृत्यु का चक्र चलता रहता है।

एक ऐसा सिद्धान्त सहज में स्वीकार नहीं किया जा सकता जिसमें आत्मा का अतीत कोई न हो और भविष्य ही हो। यदि शरीर का जन्म आत्मा को पैदा करता है तो उसकी मृत्यु उसे नष्ट करती है। टर्टुलियन का जो यह मानना है कि "यदि आत्मा शरीर नहीं है तो वह कुछ नहीं है विश्वास है कि आत्मा शरीर के साथ ही मर जाती है और फिर दोनों एक चमत्कार से पुनः उठ जाते हैं। यदि हम चमत्कारों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं तो फिर यह मानने का कोई

1. १८९८ में दिये गये इंगरसोल लेक्चर दि ह्यूमन इम्मॉर्टेलिटी १९०१ भी देखिए।

पूरा आ जाता है। हमारा पुनर्जन्म ऐसे परिवारों में होता है जिनमें हमारे वे गुण जो हमारे भीतर हैं या जिन्हें हम पाना चाहते हैं भली-भाँति विकसित होते हैं। जिस प्रकार ईंट का चनाव सिर के घेरे पर निर्भर होता है ईंट के घेरे पर नहीं उसी प्रकार पुनर्जन्म के समय माता-पिता का चुनाव चुनने वाली आत्मा के स्वरूप पर निर्भर रहता है माता पिता पर नहीं। आत्मा अपने चारों ओर ऐसी शक्तियों को एकत्र कर लेती है जो उसके उचित-शरीर-धारण के लिए आवश्यक होती हैं। इसलिए यह स्वाभाविक है कि बच्चा अपने माता-पिता के सदृश हो।

वास्तव में सब बच्चे अपने माता-पिता के समान नहीं होते। उनमें ऐसे गुण भी दिखाई देते हैं जो उनके पूर्वजों की एक लम्बी शृङ्खला में कहीं नहीं पाए जाते। किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि हो सकता है कि ये गुण और भी पीछे के किसी अतिपूर्ववर्ती पूर्वज में हों।

आत्मा और शरीर के सह-सम्बन्ध का दृष्टिकोण इस प्राक्कल्पना को द्योतित करता है कि मृत्यु के बाद का जीवन भी पार्थिव जीवन के सदृश होगा और उस पर भी परिवर्तन का सिद्धान्त लागू होगा। भावी जीवन कोई एक मृत्युहीन अस्तित्व नहीं है बल्कि वह एक प्रक्रिया या शृंखला है जिसमें अनेक बार शरीर के जन्म और मृत्यु की घटनाएँ घटित होती हैं। जब तक आत्मा की अविशुद्धि हो रही है तब तक समय-समय पर मृत्यु होना एक निश्चित तथ्य है। कैथोलिक ईसाई धर्म का परगेटरी (वह लोक जिसमें कुछ समय तक रहने से आत्मा के पापों की परिशुद्धि हो जाती है) का सिद्धान्त यह बताता है कि जो लोग अभी तक स्वर्ग के अधिकारी नहीं हुए हैं व इस लोक में जाकर शुद्ध हो सकते हैं। परगेटरी का वास कभी-कभी मृत्यु के बाद भी नैतिक उन्नति का जारी रहना समझा जाता है। धर्म-शास्त्रों में स्वर्ग और नरक की जो कल्पनाएँ की गई हैं उनसे यह ध्वनित होता है कि इस जीवन के बाद एक ऐसा जीवन होता है जो मृत्यु से रहित और अनन्त होता है। यदि स्वर्ग का अर्थ एक ऐसी स्थिति है जिसमें आत्मा अपनी पूर्णता को प्राप्त कर चुकी है और जिसमें सुधार या उन्नति की कोई गुन्जाइश नहीं है तो हममें से महान्-से-महान् व्यक्ति भी स्वर्ग में प्रवेश के अधिकारी नहीं हैं। जिस तरह हममें से श्रेष्ठतम व्यक्ति भी एकाएक स्वर्ग की सम्पदा प्राप्त करने के अधिकारी नहीं हैं उसी तरह हममें से नीचतम व्यक्ति भी इतने नीच नहीं हैं कि वे अनन्त नरक में डाल दिए जाएँ। मृत्यु के बाद स्वर्ग या नरक की अनन्त अवस्थाएँ असम्भव हैं। हमारे वर्तमान शरीरों के बाद भी क्रमिक सुधार की प्रक्रिया

को नष्ट कर सकती है, उसके प्रमाण को नहीं। स्मृति का अभाव आत्मा के सातत्य के वास्तविक प्रश्न को किसी भी तरह प्रभावित नहीं कर सकता। हर व्यक्ति की प्रकृति उसके अतीत के अनुभवों के अनुसार ढाली जाती है। हर अवस्था अपने से पहले की अवस्था पर निर्भर करती है और भावी अवस्था को जन्म देती है। सिर्फ इस आधार पर कि हमें अपने जीवन के पहले समयों की या माता के शरीर (गर्भ) में अपने निवास की स्मृति नहीं है हम उससे इन्कार नहीं कर देते। स्वयं इस जीवन में भी हम बहुत सी बातें भूल जाते हैं।

स्मृति का प्रयोजन यह है कि हम अपने पिछले अनुभवों से सीखें और अधिक समझदार बनें तथा प्रयत्न करके अधिक धर्मात्मा बन जाएँ। बुद्धिमत्ता और सद्गुण स्मृति के भण्डार में तथ्यों के जमा हो जाने से ही पैदा नहीं होते उनके लिए मन और इच्छा-शक्ति को प्रशिक्षित करने की भी आवश्यकता होती है। हो सकता है कि जिन तथ्यों का हमने ज्ञान प्राप्त किया है और जो काम हमने किये हैं उनकी स्मृति नष्ट हो जाए परन्तु संस्कारित मन और संस्कारित इच्छा फिर भी कायम रहते हैं। जो कुछ हमने सीखा है उसके भूल जाने पर भी उसके संस्कार बने रहते हैं और जो कुछ कर्म हमने किये हैं उनकी स्मृति न रहने पर भी उनसे बना चरित्र कायम रहता है। महत्त्व अनुभव का है, हम क्या करते हैं इसका नहीं बल्कि कैसे करते हैं इसका है। हमने जो ज्ञान या सम्पदा प्राप्त की है सम्भव है वह हमारे पास न रहे किन्तु उसे प्राप्त करने के लिए जो हमने धैर्य और सावधानता अपने भीतर विकसित की है वह हममें बनी रहेगी। महत्त्वाकांक्षी स्वार्थसिद्धि में बरबाद किये गए समय की अपेक्षा निष्क्रियता या तपस्या में व्यतीत किया गया समय अधिक उपयोगी और सार्थक है। उपनिषद् में कहा गया है कि जब आत्मा शरीर का त्याग करती है तब उसका ज्ञान कर्म और उसकी पूर्व प्रज्ञा उसके साथ जाते हैं।[1] हेगल का भी कहना है कि 'मृत्यु के समय हम अपने में ही सम्मिलित हो जाते हैं। हमारे समस्त पूर्वानुभव एकत्र होकर हमें एक आकार देते हैं हमारे मन में एक अभिनिवेश पैदा करते हैं और इसे हम अपने जीवन में अपने साथ ले जाते हैं। दूसरे जन्म में वह हमारे साथ रहता है हालाँकि हम यह स्मरण नहीं कर पाते कि हमने इसे उपार्जित कैसे किया।

यदि वर्तमान जीवन अतीत की स्मृति के बिना भी महत्त्वपूर्ण है तो भावी जीवन भी सिर्फ इसीलिए क्यों कम महत्त्वपूर्ण होगा कि उसमें अतीत की स्मृति

१ बृहदारण्यक उपनिषद् ४ ४ २।

और उद् स्य) का किस प्रकार उपयोग करते हैं और यह उपयोग हम अपनी स्वतंत्र इच्छा से चुनते हैं।

मानवीय आत्मा परमाणु, वनस्पति और जीव-जन्तुओं से भिन्न किस्म की यथार्थ सत्ता है। यह एक अधिक सम्मिश्र संरचना है जिसकी एक अपनी अलग विशिष्ट प्रकृति है। यह अपने परिवेश के साथ अधिक आन्तरिकता और घनिष्ठता से बँधी होती है। इसकी दो विशेषताएँ हैं—एक अतीत (कर्म) के साथ सातत्य और दूसरी भविष्य (मुक्ति) की ओर सृजनात्मक प्रगति। यह भी अन्य जीवों की भाँति अपूर्ण है और निरन्तर पूर्णता के लिए आगे की ओर गति करती है। बुद्धि युक्त प्राणियों या उनके विशिष्ट लक्षणों के मूल उद्गम की कोई वैज्ञानिक व्याख्या उपलब्ध नहीं है।

१ विश्वव्यापी आत्मा :

प्राणि-जगत् में पाई जाने वाली चेतना (प्रत्यक्ष ज्ञान और क्रिया) और मानव-जगत् में पाई जाने वाली आत्म चेतना (बुद्धि और इच्छा) के अतिरिक्त एक आध्यात्मिक चेतना या अधि चेतना भी होती है जो अनुभव का एक ऐसा ऊँचा स्तर है जिसमें यथार्थ सत्ता के नये पहलू अपने-आपको अभिव्यक्त करते हैं। चेतना में प्राणी और उसके परिवेश के बीच मानसिक एकता होती है आत्मचेतना में यह एकता बौद्धिक होती है और आध्यात्मिक चेतना में वह आध्यात्मिक एकता होती है। आध्यात्मिक स्तर पर व्यक्ति को आत्मा के द्रव्य का ज्ञान बौद्धिक ज्ञान के विषय के रूप में नहीं बल्कि एक ऐसी अनुभूति के रूप में होता है जिसमें ज्ञाता स्वयं ज्ञेय हो जाता है, जिसमें कालहीन और देशहीन अपने आपको समस्त अनुभव के आधार और उसकी यथार्थता के रूप में जानता है। आत्मा को छोड़कर ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसे हम अपने अनुभव या ज्ञान में निर्विशेष कह सकें। आत्मा के भीतर कोई अन्य वस्तु नहीं है जो उसे विभाजित कर सके और उसके बाहर भी कुछ नहीं है जो उसे सीमित कर सके। केवल वही हमारी समस्त आकांक्षा और समस्त बुद्धि को तृप्त कर सकती है। संसार में जो-कुछ है वही है समस्त मूल्य और समस्त सत्ता सब वही है।

हममें से बहुत-से लोग ऐसे होंगे जिनकी अभिरुचि रहस्यवादी नहीं होगी और उन्हें रहस्यमय आध्यात्मिक अनुभवों में दिलचस्पी नहीं होगी। किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि हमारे मन जिसे ग्रहण नहीं कर सकते वह सर्वथा

जन्म देती है और जीवन मन को उसी प्रकार मनुष्य विश्वात्मा को अपने भीतर से उद्बुद्ध करेगा। यही मनुष्य का परम लक्ष्य है। हमारी तार्किक चेतना सत्य पर पहुँचने का यत्न करती है किन्तु उसे कुछ सीमित सफलता ही मिलती है। हमारी नैतिक इच्छा भी अपने लक्ष्यों को आंशिक रूप में ही प्राप्त कर पाती है। अस्तित्व या जीवन के सुखों को भोगने की हमारी आकांक्षाएँ भी अंशतः ही सफल होती हैं। यदि हमारे अन्दर गहराई में विद्यमान आत्मा सत्य को उद्घाटित और अनावृत रूप में देखती है और सत्ता के आनन्द को मुक्त होकर उपभोग करती है तब वही प्रकृति का मूल लक्ष्य है जो अन्त में प्राप्त और साकार होना चाहिए, चेतन मन वह लक्ष्य नहीं है। जिस प्रकार भौतिक वस्तु के भीतर जीवन निहित है किन्तु वह उद्भूत तभी हो सकता है जबकि उसके लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा हो जाएँ जिस प्रकार जीवन के भीतर मन निहित है किन्तु वह उसके उद्भूत होने के लिए अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार मानवीय चेतना में भी परमात्म तत्त्व या अति-मन निहित है, किन्तु वह उद्बुद्ध और उद्भूत तभी होगा जबकि उसके लिए आवश्यक प्रयत्न और परिस्थितियाँ मौजूद होंगी। मानव-जीवन इस लक्ष्य के लिए तैयार किया जा रहा है और इस तैयारी में वह कभी आगे बढ़ता है कभी पीछे खिसकता है, कभी आगे छलाँग लगाता है और कभी पीछे कदम हटाता है।

हिन्दू विचारकों का कहना है कि नैतिक व्यक्तिवाद से आध्यात्मिक विश्ववाद की ओर ज्ञान या अन्तर्बोध के मार्ग से जाया जा सकता है। नैतिकतावादी व्यक्तिवाद एक अपूर्ण दृष्टिकोण पर आधृत है जो हमारी ससीमता की जड़ है। जब हम अपने-आपको शेष ब्रह्माण्ड से अलग व्यक्ति समझते हैं तो हम अपने आपको उस रूप में देखते हैं जिस रूप में हम वास्तव में नहीं हैं। यद्यपि बहुत्ववादी दृष्टिकोण वैयक्तिक आत्मा द्वारा निर्मित कल्पना नहीं है बल्कि वह बढ़ते हुए विश्व का एक मध्यवर्ती दौर है तथापि हमें इस दौर से ऊपर उठना है। इसी लिए आत्मज्ञान और तत्त्वज्ञान की आवश्यकता और महत्त्व है।

मुक्ति की अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की गई हैं। कोई उसे ईश्वर के साथ तादात्म्य या आध्यात्मिक जगत् का सतत चिन्तन कहता है और कोई उसे मुक्तिदाता ईश्वर का साक्षात्कार या व्यक्तित्व (खुदी) का मिट जाना कहता है। किन्तु इन सब कल्पनाओं में असली प्रश्न यह है कि क्या आत्मा अपनी पृथक् वैयक्तिक सत्ता को कायम रखती है या उसे खो देती है। यह स्वीकार करते हुए

देश और काल में जीवन का एक सम्पूर्ण कार्यक्रम है। पुनर्जन्म काल के अधीन है और जब तक हम वैयक्तिक सत्ता को स्वीकार करते हैं तब तक यह अनिवार्य है। यदि हम वैयक्तिकता से ऊपर उठ जाएँ तो हम काल के प्रपंचों से ऊपर उठ जाएँगे और पुनर्जन्म के चक्कर से छूट जाएँगे। जब हिन्दू विचारक हमें पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति पाने के लिए कहते हैं तब उनका अभिप्राय यह होता है कि हम निरे व्यक्तिवाद के दृष्टिकोण से ऊपर उठ जाएँ और एक अवैयक्तिक विश्वव्यापित्व प्राप्त कर लें। जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाने का अर्थ केवल नैतिक स्तर से ऊपर उठकर आध्यात्मिक स्तर प्राप्त करना ही है। आध्यात्मिक स्तर नैतिक स्तर का ही विस्तार नहीं है यह एक सर्वथा नया आयाम नया स्तर है जिसका सम्बन्ध भिन्न वस्तुओं से है। ईश्वर की उपासना करने वाले सन्त किसी विस्तीर्ण या व्यापक मानव की उपासना नहीं करते उनका ईश्वर मानव से एक बिलकुल भिन्न माना जाता है। [illegible] के मत में विश्व-आत्मा एक बिलकुल नयी चीज है यह मानव की ही नयी अभिव्यक्ति नहीं है।

हिन्दुओं के इस सिद्धान्त से मिलते-जुलते अनेक सिद्धान्त पश्चिम में भी हैं। प्लोटिनस लोगों का कहना है कि समाधि की अवस्था में जीवात्मा ईश्वर में [illegible] लीन हो जाता है व्यक्ति मानो अपनी सीमाओं से ऊपर उठकर विश्वव्यापी ईश्वर के साथ एकात्मता और तदाकार हो जाता है। डायोनीसस के सम्प्रदाय में [illegible]। और धर्मशास्त्रों का मुख्य उद्देश्य पूजा और उपासना करने वाले व्यक्ति का ईश्वर में लीन हो जाना है। प्लेटो ने अपने 'सिम्पोज़ियम' में हमें एक ऐसे सामान्य अस्तित्व का सिद्धान्त दिया है जो काल और आकार से अनवच्छिन्न [illegible] को सभी प्राप्त किया जा सकता है। इस्लाम में सन्तों के परम आनन्द की व्याख्या ईश्वर के साथ तादात्म्य के रूप में एक ऐसी स्थिति के रूप में की है जिसे रहस्यवादी और दरवेश लोग इसी जीवन में प्राप्त कर लेना चाहते हैं। [illegible] और स्पिनोज़ा तथा ईसाई धर्म के रहस्यवादियों ने भी यही दृष्टिकोण अपनाया है।

संसार का इतिहास अपने इस महानतम लक्ष्य की ओर प्रगति कर रहा है। [illegible] आध्यात्मिक जीवन की ओर प्रवृत्त हुए व्यक्ति ने वैसे ही अपनी [illegible] अनन्त की प्रशान्ति को अनुभव कर लिया [illegible] अनन्त जीवन [illegible] जब व्यक्ति की संकीर्णतापूर्ण इच्छा विश्वव्यापी आत्मा के प्रति [illegible] पूर्ण आत्मसमर्पण कर देगी। जिस प्रकार [illegible] जीवन को

साथ तादात्म्य स्थापित करती और उसके मार्ग का अनुसरण करती है। मुक्त जीवन सामान्य जीवन से भिन्न होता है इसलिए मुक्त पुरुष शरीर की चिन्ता नहीं करता। मुक्त आत्माएँ मेघ की रेखा को स्पर्श करती हैं उसके भीतर प्रवेश नहीं करतीं वे प्रकाश में प्रवेश करती हैं किन्तु ज्वाला का स्पर्श नहीं करतीं। व्यक्ति के भीतर संश्लिष्टता एवं संगति और बाह्य परिवेश के साथ सहस्वरता दोनों ही अन्तिम मुक्ति के लिए आवश्यक हैं। यदि हम अपने भीतर ऐक्य और सहस्वरता स्थापित कर लें शरीर और आत्मा के संघर्ष पर विजय पा लें तो हम मुक्ति के लिए एक आवश्यकता पूरी करते हैं। किन्तु परिवेश के साथ हमारा ऐक्य और सहस्वरता तब तक सम्पादित नहीं हो सकते जब तक कि उसमें अन्य अमुक्त आत्माएँ विद्यमान हैं। हम तब तक सही अर्थों में मुक्त नहीं हो सकते जब तक कि हमारी अपनी प्रकृति के मनपरक तत्त्व और अन्य व्यक्तियों की प्रतिस्पर्धी जीवन की एकता और आध्यात्मिक अनुभूति से पराभूत नहीं हो जाती। अपूर्ण संसार में पूर्ण मुक्ति सम्भव नहीं है इसीलिए जिन आत्माओं ने विश्वव्यापी परमात्मा की झाँकी पा ली है वे तब तक संसार में कार्य करती रहती हैं जब तक कि संसार में असत्य अशिव और असुन्दर का पूर्णतः अन्त नहीं हो जाता। जिस व्यक्ति ने अपने अन्तर में एकत्व प्राप्त कर लिया है वह दूसरों को भी उसकी प्राप्ति के लिए प्रेरणा देता है। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि आदर्श व्यक्ति और पूर्ण समाज एक साथ ही पैदा होते हैं।

सभी व्यक्तियाँ को एक दिन अनन्त जीवन (मुक्ति) प्राप्त करनी है, क्योंकि जैसा कि एक हिन्दू शास्त्र में कहा गया है हम सब अमृत के पुत्र हैं। एक धार्मिक उपदेष्टा ने कहा है, 'हम सब अब ईश्वर के पुत्र हैं और हम नहीं जानते कि भविष्य में हम क्या हो जाएँगे। जब यह अवस्था प्राप्त हो जाती है तब एक ब्रह्मलोक स्थापित हो जाता है जिसमें व्यक्ति ईश्वर के प्रणिधान से उस ईश्वर जैसा ही हो जाता है, जिसे वह देखता है। यह एक ऐसा जीवन होता है जिसमें सब व्यक्ति एक मन के दूसरे मन में पूर्ण अनुप्रवेश से ऐक्य को प्राप्त करते हैं। प्लेटो के शब्दों में मुक्ति का अर्थ है 'यथार्थ से पूर्ण हो जाना। पूर्णता या आध्यात्मिक एकता की यह स्थिति ही विश्व का ध्येय है।

यद्यपि मुक्ति की इस अवस्था को हम तार्किक या बौद्धिक भाषा में व्यक्त नहीं कर सकते तो भी यह स्पष्ट है कि यह पूर्ण सन्तोष और तृप्ति की अवस्था है। जैसा कि हम जानते हैं, जीवन पूर्ण समन्वय और समंजन के अभाव के कारण ही

भी कि इस कठिन और परोक्ष विषय पर हमारे विचार की कुछ सीमाएँ हैं, हम कुछ सामान्य और कामचलाऊ विचार प्रस्तुत करते हैं जो शायद पूर्णतः आत्म-संगत न हों।

ईश्वरवादी या आस्तिकतावादी विचारक चाहे वे पूर्व में हों या पश्चिम में यह मानते हैं कि अपूर्ण आनुभविक अवस्था में ईश्वर के साथ जो ऐक्य क्षणिक अस्थायी और कुछ अस्पष्ट होता है पूर्णता की अवस्था में पहुँचकर वही ऐक्य स्थायी और स्पष्ट हो जाता है। उस अवस्था में संघर्ष और प्रगति का स्थान शान्ति और परम आनन्द ले लेते हैं किन्तु वैयक्तिकता का विलोप नहीं होता। व्यक्ति का जीवन ऊपर उठकर परम आत्मा के प्रकाश और विभुत्व में प्रविष्ट हो जाता है। *यह अनवरुद्ध ऊर्जा और क्रिया की स्थिति होती है निष्क्रियता और* गतिहीनता की नहीं। 'वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है सब लोकों में उसका प्रवेश अप्रतिहत होता है।

आम तौर पर शंकराचार्य के बारे में यह माना जाता है कि वह मुक्ति के समय आत्मा के नित्य ब्रह्म में लीन हो जाने के विचार के पक्षपाती हैं। इस धारणा का कारण यह है कि शंकर ने बार-बार नित्यता का अर्थ काल से अनवच्छिन्नता बताया है। यदि कालावच्छिन्नता (कालिकता) ससीम व्यक्तित्व का चिह्न है तो जो भी वस्तु कालातीत या काल से अनवच्छिन्न है वह अवैयक्तिक होगी। किन्तु हमें शंकर के ऐसे अनेक वाक्य मिलते हैं जिनमें उसने यह संकेत किया है कि मुक्त आत्मा यद्यपि मुक्ति के क्षण में ही ब्रह्म का विभुत्व प्राप्त कर लेती है तो भी वह कर्म के केन्द्र के रूप में उस समय तक अपनी पृथक सत्ता भी बनाए रखती है जब तक कि ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया जारी रहती है। व्यक्तित्व का विलोप उस समय होता है जब सारा विश्व मुक्त हो जाता है जब उसमें स्थापित बहुपक्षी मूल्यों की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार विश्व आत्म-विनाश करके ही अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करता है। मुक्त आत्मा उस समय तक विश्व की प्रक्रिया में हिस्सा लेती रहती है, जब तक कि यह प्रक्रिया जारी रहती है और फिर-फिर उसमें जन्म लेती रहती है, किन्तु अपने लिए नहीं विश्व के लिए। उसका सबके साथ सर्वात्म भाव यानी आत्मवत् भाव रहता है। वह विश्व की गति के

१ छान्दोग्य उपनिषद् ७.२५ ११।

२. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य ३ ३ ३२। 'इंडियन फिलासफी' भाग २ दूसरा संस्करण (१९३१) पृष्ठ ६४१ भी देखिए।

बमता रहता है। जैसा कि ह्यूम ने कहा है 'जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ और कल्पना निश्चेष्ट हो गई हैं, वह जैसे जीवित नहीं रह सकता वैसे ही वह भी जीवित नहीं रह सकता जिसकी आकांक्षाओं का अन्त हो गया हो।'[1] जहाँ हर वस्तु निश्चल स्थिति में है गतिमय स्थिति में नहीं है जहाँ हर वस्तु अन्तिम रूप से बनकर विद्यमान है घटित या निर्मित नहीं हो रही वहाँ क्रिया की कल्पना नहीं की जा सकती। जब मति अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेती है तो जीवन एक चलता हुआ कारोबार नहीं होता। ऐतिहासिक प्रक्रिया का वहाँ अन्त हो जाता है और ऐतिहासिक सत्ता के रूप में व्यक्ति का अस्तित्व खत्म हो जाता है। हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि पूर्णता की इस स्थिति में क्रिया कैसे हो सकती है। जिमवर्ग के राजा मामा के दर्शन' (फिलॉसफी) में हमारे लिए एक उपदेश है जिसमें उसने कहा है :

> मोह तब फिर क्या सदाशी मरे और लम्बे नहीं लगते
> जब सब-कुछ ठीक होता है और कुछ गलत नहीं होता
> और क्या तुम्हारा जीवन बिलकुल नीरस नहीं है
> क्योंकि उसमें शिकायत करने को कुछ भी नहीं है ?

स्ट्रिण्डबर्ग के नाटक 'मास्टर ओलफ' में एक जगह जब स्वीडन के महान् सुधारक को यह मालूम होता है कि उसका लक्ष्य उससे नहीं अधिक निकट है जहाँ कि उसने उसकी कल्पना की थी तो उसके मुँह से निकल पड़ता है 'ओह, कितनी भयंकर बात है ! अब और संघर्ष नहीं करना पड़ेगा ? यह तो एकदम मौत है। तब मैं जो कुछ चाह रहा था वह विजय नहीं थी। किसी ऐसी अवस्था की कल्पना करना जिसमें सभी व्यक्ति पूर्ण हो और ईश्वर की कृपा का उपयोग करते हुए स्वर्ग का आनन्द ले रहे हों कठिन है। एक अंग्रेजी कविता में स्वर्ग की कल्पना एक ऐसे स्थान के रूप में की गई है 'जिसमें प्रार्थना-सभाएँ कभी भंग नहीं होती और जहाँ प्रार्थना के लिए विश्राम दिवसों का कभी अन्त नहीं होता।' हम सामान्य व्यक्तियों के लिए स्वर्ग और चाहे जैसा हो धार्मिक पादरियों का स्वर्ग नहीं है। यदि हमें अन्त में अनन्त काल तक खाली बैठकर आराम ही करना हो तो ऐसी मुक्ति हमारे कुछ मतलब की नहीं। हम सभी जानते हैं कि शोतोका के 'सोशायटर स्वर्ग' में पहुँचने के बाद जब विलियम जेम्स एक बार फिर अन्धकार और पाप से भरे स्वर्ग में लौटा तो उसके मुँह से हठात् निकला

१ हैलवाजन अध्याय XI १।

अपेक्षा इस सृष्टि के अनन्त और अगाध भण्डार को अधिक प्राप्त कर सकें'[1] और हरेक को उसकी क्षमता के अनुसार उसकी उपलब्धि हो। किन्तु यथार्थ के अमूर्त बोध और व्यक्ति के मूर्त जीवन में उसकी पूर्ण उपलब्धि दोनों के बीच में बहुत बड़ी दूरी है और इस दूरी को वर्षों की कठोर यात्रा के बाद ही पूरा किया जा सकता है। जब तक यह पूर्ण उपलब्धि नहीं हो जाती तब तक व्यक्ति मुक्त नहीं होता। जो लोग अधिक वेतन पाते हैं वे क्योंकि कम वेतन पाने वालों की सेवा करेंगे इसलिए सेवा का यह तथ्य व्यक्ति में साहसिकता और उद्यम की भावना पैदा करेगा। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य उस समय तक मुक्त होगा भी है जब तक कि उसे ईश्वर का पूर्ण साक्षात्कार न हो जाए। यदि ईश्वर की असीमता के कारण हमारे लिए उसकी पूरी झाँकी पा सकना सम्भव ही नहीं है तो इसका अर्थ यह है कि हम सच्चे अर्थों में मुक्त होते ही नहीं हैं। उस दशा में मुक्ति भी एक आदर्श लक्ष्य तक पहुँचने के प्रयत्न की एक अन्तहीन प्रक्रिया हो जाती है और हम उस तक पहुँच कभी भी नहीं सकते। 'पूर्णता में प्रगति' वास्तव में अपने-आपमें एक समस्या या साध्य है यह समाधान या साध्य को सिद्ध करने वाला साधन नहीं है। वास्तव में इसमें पूर्ण प्रगति और अनन्त प्रक्रिया के बीच समन्वय नहीं होता। पूर्णता उस आयाम (डाइमेन्शन) की चीज ही नहीं है जिस पर नैतिकता रहती है यह अवश्य हो सकता है कि वह अपने-आपको नैतिक स्तर पर भी अभिव्यक्त करे। अपरिवर्तनीय का अनुभव हमें परिवर्तनशील जगत् की ओर से अवश्य आ सकता है किन्तु दोनों बराबर नहीं है।

यह तर्क दिया जा सकता है कि जिसने यह विश्व रचा है उसके लिए यह बिलकुल निरर्थक और बेकार का काम होगा कि वह व्यक्तिगत आत्माओं को पैदा करे, उनकी शिक्षा में असीम परिश्रम व्यय करे और अन्त में उन्हें बिल-कुल खत्म कर दे। क्या मनुष्य की आत्मा को पूर्णता तक इसीलिए पहुँचाना है कि वहाँ पहुँचने पर उसे तोड़-फोड़कर फेंक दिया जाए? क्या आध्यात्मिक प्रणि इसलिए बनाई जाती है कि अन्त में वह राख में परिणत हो जाए? हम यह मानने की जरूरत नहीं है कि यह ब्रह्माण्ड प्रक्रिया अपने-आपमें ही एक उद्देश्य है। जब इसका अन्त आ जाएगा जब इसका नाटक समाप्त हो जाएगा तब परदा गिरेगा और सम्भव है कि उसके बाद नया नाटक प्रारम्भ हो जाए।

इस प्रकार हमने विभिन्न सम्भावनाओं पर संक्षेप में विचार किया है।

१ दि फेथ ऑफ ए मॉरलिस्ट (१९३१), १ पृष्ठ ४ ०-४ ० ।

बाँटने की जरूरत नहीं है। वास्तव में ये सब अलग अलग यथार्थ वस्तुएँ नहीं हैं बल्कि अनुभव की ही विभिन्न श्रेणियाँ हैं। ब्रह्माण्ड का सत्य कोई गणितीय समीकरण या भौतिकविज्ञानीय प्रणाली या जीव विज्ञान का समवाय या मनोवैज्ञानिक अनुभववाद अथवा नैतिक व्यक्तिवाद नहीं है बल्कि वह आध्यात्मिक एकत्व है। जितना हम नीचे उतरते जाएँ, उतना ही हमारा ज्ञान अधिक स्पष्ट होता जाता है। हमारा गणित का ज्ञान एक बन्द ऊर्जा-प्रणाली के रूप में विश्व के हमारे ज्ञान से अधिक स्पष्ट हो सकता है और ऊर्जा प्रणाली का हमारा ज्ञान भी जीवन के परिवेश और इन्द्रियगम्य वस्तु के रूप में विश्व के हमारे ज्ञान से स्पष्टतर हो सकता है। अपने निज के सम्बन्ध में हमारा यह ज्ञान कि हम नैतिक जीव हैं विश्व के सम्बन्ध में हमारे इस ज्ञान की अपेक्षा कि वह आत्मस्वरूप है अधिक स्पष्ट हो सकता है परन्तु विश्व का यह रहस्यमय अस्पष्ट और अपरिमित ज्ञान ही हमें यथार्थ के निकटतम ले जाता है।

यथार्थ सत्ता को एक समग्र अवयवी या ऐक्य के रूप में स्वीकार किया है। चौथा लक्षण यह कि प्रकृति के सतत प्रवाह में न तो विश्राम है और न विराम। प्रकृति अपनी स्थिति से कभी सन्तुष्ट नहीं होती। वह नयी स्थितियाँ पाने का यत्न करती है। कारणों के बाद कार्य आते हैं किन्तु कारणों की पुनरावृत्ति नहीं होगी। हमेशा नये-नये गुण उद्भूत होते रहते हैं जिनके बारे में हम पुराने गुणों को देखकर भविष्यवाणी नहीं कर सकते। ऐसी-ऐसी नवीनताएँ पैदा होती रहती हैं जिनकी पहले से कल्पना नहीं की जा सकती। नवीनताओं के उत्तरोत्तर उत्पादन में एक प्रकार की आकस्मिकता और अप्रातत्य नज़र आता है जैसा कि कला, विज्ञान और नैतिकता की प्रतिभाओं में दीख पड़ता है। उद्भव के सिद्धान्त इस तथ्य को स्वीकार करते हैं हालाँकि वे उसकी कोई व्याख्या नहीं करते। पाँचवाँ लक्षण यह कि संसार में जो परिवर्तन होते हैं वे निरर्थक नहीं होते। भौतिक संसार किसी संघातिक संघर्ष में रत निर्बुद्धि और सचेतनहीन परमाणुओं का निरर्थक मेल नहीं है। परमाणु वस्तुओं का निर्माण कर रहे हैं और उन्हें अपने नियन्त्रण में लाकर हम उनसे अपनी मनचाही वस्तुओं का निर्माण करा सकते हैं। पृथ्वी और उसमें विद्यमान वस्तुओं ने जीवन के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा कीं किन्तु जीवन को भी अपनी अभिवृद्धि के लिए अपने-आपको तदनुकूल बनाना पड़ा। एक ओर कुछ खास रासायनिक तत्त्व और उनके यौगिक शरीर के निर्माण के लिए सामग्री उपलब्ध कराते हैं और दूसरी ओर कुछ खास भौतिक कम्पन जैसे प्रकाश और ध्वनि की तरंगें जीवन को उसके पथ पर निर्देशित करने के लिए आवश्यक उद्दीपन का काम करते हैं ताकि वह अपने चारों ओर की वस्तुओं को देख सुन सूंघ और छू सके और अपने ही ढंग से उनके प्रति कुछ प्रतिक्रिया या अनुक्रिया कर सके। जब बाद की एक मंज़िल में जीवन को अपने मित्र के प्रयत्नों से अपने आत्म-निर्माण और उन्नति के लिए उद्योग करने की आवश्यकता आ पड़ी तो चेतना और मानवीय तर्कबुद्धि का जन्म हुआ। केवल शून्य आकाश या काल (अप्रवर्त-मानित्व) से इस सब संसार का उद्भव हुआ और अब वह एक गहन सहकारी और आध्यात्मिक राज्य की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है जिसके मुख्य चिह्न स्वतन्त्रता और क्षमा शक्ति। थोड़े-बहुत उतार-चढ़ाव के बावजूद ऐसा प्रतीत होता है कि संसार अनिवार्यतः उन्नति की ओर आगे बढ़ रहा है। संसार न कभी अपने पथ पर एक जगह स्थिर खड़ा रहा है और न कभी पीछे हटता है।

१ मार्केस् लॉ ।

कर दी है। उसके अनुसार बिलियर्ड की छोटी-छोटी गेंदों-जैसे कण ही बिना किसी क्रम या तरतीब के गति करके ही विश्व की रचना कर सकते हैं। उस समय विश्व की व्याख्या करने में एक कठिनाई प्रतीत होती थी कि जीवन की और जीवन के उद्देश्य तथा पथ-प्रदर्शन की व्याख्या कैसे की जाए। किन्तु डार्विन और स्पेन्सर के हाथों विकासवाद ने इस कठिनाई को हल करने में भी काफ़ी हद तक प्रगति की। आज स्थिति बिलकुल भिन्न है। भौतिक विज्ञान के अनुसार किया गया पुराना पदार्थ-भेद आज स्वयं भौतिक जगत् में भी पर्याप्त नहीं रहा और सरलतम जीवित प्राणियों की विशुद्ध यान्त्रिकवाद से व्याख्या करना भी सम्भव नहीं है। प्राकृतिकवाद की प्रासंगिकता पर विचार करते हुए जब हम यह देखते हैं कि विश्व के सामान्य लक्षणों पर उसका क्या प्रभाव है तब हमारे सामने उसकी अपर्याप्तता और अपूर्णता एकदम स्पष्ट हो उठती है। संसार की व्यवस्था और क्रम विशुद्ध यान्त्रिक नहीं है। विज्ञान के नियम कामचलाऊ प्राक्कल्पनाएँ हैं; प्रकृति के मूर्त तथ्यों को समझने के लिए अमूर्त सिद्धान्त हैं। वे प्रकृति पर कोई नियम लादते या उसे आदेश देकर किसी विशेष दिशा में परिचालित नहीं करते।[1] यान्त्रिकवादी दृष्टिकोण में यह स्वीकार किया जाता है कि कार्य में उससे अधिक तत्त्व या अन्तर्वस्तु सम्भव नहीं है जितनी कि कारण में है। सम्बन्ध केवल पुनरावृत्ति या बुनियादी तौर पर घड़ी की तरह की आवर्त गति-मात्र है। किन्तु संसार में हम जो अत्यधिक विविधता और ऐसी नयी-नयी घटनाएँ देखते हैं जो पुनरावृत्ति-मात्र नहीं हैं उनके

१ एडिंग्टन ने तीन प्रकार के नियम बताए हैं: सारतत्त्वपूर्ण (आइडेंटिकल), सांख्यिकीय और अनियत। सारतत्त्वपूर्ण नियम, जो गणित के समीकरणों में पाए जाते हैं सही अर्थों में नियम नहीं हैं। समीकरण परिवर्तनशील होते हैं किन्तु सारतत्त्वपूर्ण नियमों में 'न तो परिवर्तनशीलता होती है और न परिवर्तनशीलता की बाधा ही।' इनका सम्बन्ध हमारे अपने द्वारा बनायी गई गणित की पद्धतियों से होता है। सांख्यिकीय (स्टैटिस्टिकल) नियम भी मन के उस प्रयत्न के ही परिणाम हैं जिसके द्वारा वह कुछ चुने हुए अवलोकित तथ्यों के सम्बन्ध और समन्वय के लिए कुछ ढाँचे बिठाने की कोशिश करता है। ये नियम आनुभविक हैं और आँकड़ों पर आधृत हैं। कार्य-कारण नियम इसी अर्थ के नियम हैं और सांख्यिकीय मानों से अनुमित किए जाते हैं। जीवन का सिद्धान्त गणित में पाए जाने वाले नियम के अतिरिक्त के साथ अनुरूप नहीं है। हम भविष्य के बारे में केवल सिर्फ़ इसलिए कह सकते हैं कि आत्मा के कौशलों का अनुमान बिना इस बात के विचार के सम्भव है कि उन आत्माओं में कितनी शक्तियाँ अन्तर्निहित हैं। यदि वास्तव में ही भौतिक जगत् का निर्माण और नियमन करनेवाले कोई नियम हैं तो वे अनियत (अन्प्रेडिक्टेबल) नियम ही हैं। (दि नेचर ऑफ़ दि फ़िज़िकल वर्ल्ड (१९२), पृष्ठ २४४-२४५)।

सकता। उसकी प्रक्रिया को उल्टी दिशा में भी चलाना सम्भव नहीं है। यान्त्रिक वाद का यह दृष्टिकोण कि विश्व अपने-आप बन गया और जैसा यह है वैसा ही रहेगा उसके पीछे कोई बुद्धि तर्क या प्रयोजन नहीं है, सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होता। यदि विश्व एक यन्त्र है तो भी यह प्रश्न बना ही रहता है कि इस यन्त्र को चलाता कौन है? किसने इसे बनाया? इसके अतिरिक्त यन्त्र किसी उद्देश्य से बनाये जाते हैं और उनकी रचना को हम उद्देश्यों से पृथक करके हम नहीं समझ सकते। विश्व की प्रक्रिया में हर वस्तु किसी दूसरी वस्तु पर निर्भर है कोई भी वस्तु आत्मपूर्ण नहीं है। जो वस्तु जैसी है, उसके वैसी होने का कारण कुछ अन्य घटनाओं के साथ उसका सम्बन्ध है। हम संसार में किसी ऐसी वस्तु की तलाश करते हैं जो स्वयं ही अपनी व्याख्या हो किसी अन्य वस्तु पर निर्भर न हो अन्तिम हम ऐसी वस्तु कहीं नहीं पाते। संसार परस्पर-सम्बद्ध और अन्योन्याश्रित घटनाओं की एक अनन्त शृंखला है किन्तु विज्ञान यह नहीं बता सकता कि कोई घटना या वस्तु जैसी है उसके वैसी होने का कारण क्या है। कार्य-कारण के तर्क का महत्त्व ही इस बात में है कि वह यह माँग करता है कि इस सान्त जगत् से ऊपर कोई ऐसा सिद्धान्त होना चाहिए जो उसकी व्याख्या कर सके। विज्ञान गौण कारणों की एक प्रणाली है जो संसार का पूर्ण और पर्याप्त रूप में वर्णन भी नहीं कर सकती उसकी व्याख्या करना तो दूर की बात है।

काल में अवस्थित समस्त सत्ता का रहस्य विज्ञान से सुलझने के बजाय और उलझता है और प्राकृतिकवाद उसे सुलझाने में कोई सहायता नहीं देता।

३ स्मट्स का पूर्णताभिमुख विकासवाद (होलिस्टिक एवोल्यूशन)

जनरल स्मट्स ने अपनी पुस्तक 'होलिज़म एण्ड एवोल्यूशन' में इस बात पर बल दिया है कि भौतिक विज्ञान जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान आदि समस्त विभिन्न विज्ञानों पर लागू होने वाला एक सार्वभौम सिद्धान्त 'होलिज़्म' अर्थात् ब्रह्माण्ड में बृहत् और बृहत्तर पूर्णों (अवयवियों) के निर्माण की प्रवृत्ति है। प्रत्येक अवयवी में चाहे वह परमाणु हो या अमीबा या मानव एक उपयुक्त योजना या संगठन होता है जिसे सब अवयव पूरा करते हैं। प्रत्येक अवयवी का एक अपना विशिष्ट स्वरूप और लक्षण होता है संरचना और कार्य की एक आन्तरिकता होती है। उसके हिस्सों और अंगों को ऐसी इकाइयाँ नहीं समझा जाना चाहिए

१९२६।

पूर्णाभिमुख विकास की शक्ति की यथार्थता पर बल देने के बावजूद उसे ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया में अवयवियों का निर्माण करने वाली शक्ति से कोई भिन्न वस्तु मानने को तैयार नहीं हैं।

यदि स्मट्स इससे आगे बढ़ने को तैयार नहीं है तो वह जिज्ञासु मन को सन्तुष्ट नहीं कर सकते। (१) ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने विश्व की प्रक्रिया के सामान्य लक्षणों के वर्णनात्मक कथन और समस्त प्रकृति में विश्वव्यापी रूप से सक्रिय सृजनात्मक शक्ति में अन्तर की उपेक्षा कर दी है। इनमें से पहली चीज विज्ञान की समस्या है जबकि दूसरी चीज दर्शन का पूर्व-स्वीकृत सिद्धान्त है। स्मट्स ने एक आनुभविक चीज को एक दार्शनिक व्याख्या में परिणत कर दिया है इसी से दार्शनिक व्याख्या की आवश्यकता सिद्ध होती है। ब्रह्माण्ड के तथ्यों का तकाजा है कि उनकी व्याख्या की जाए। (२) एक प्रश्न यह उठता है कि विभिन्न पूर्णों (अवयवियों) का एक-दूसरे के साथ क्या सम्बन्ध है? स्मट्स का कहना है कि 'यथार्थ सत्ता की चार महान् शृंखलाएं भौतिक वस्तु, जीवन मन और व्यक्तित्व एक ही आधारभूत चीज के क्रमिक विकास की सीढ़ियां हैं जिसका मार्ग हमारे भीतर और हमारे इर्द-गिर्द विद्यमान ब्रह्माण्ड है। पूर्णाभिमुख विकास की प्रवृत्ति ही उन्हें बनाती है उन्हें परस्पर जोड़ती है और जहां तक सम्भव होता है उन सबकी व्याख्या करती है।'[1] यह शृंखला केवल क्रमिक ही नहीं है बल्कि एक-दूसरे के साथ सतत रूप से जुड़ी हुई भी है। एक प्रश्न यह है कि उस पूर्ण का स्वरूप क्या है जिसमें अन्य सब पूर्णों का समावेश है और उसका उनके साथ सम्बन्ध क्या है? (३) यदि सत्य, शिव और सुन्दर के आदर्श अन्ततः उद्भूत होते हैं और ब्रह्माण्ड की एक नयी व्यवस्था की नींव डालते हैं तो उनका मूल आदि-स्रोत क्या है और इस बात की गारण्टी क्या है कि वे स्थायी आधार होंगे और नयी व्यवस्था में उनकी उपलब्धि और रक्षा हो सकेगी? प्लेटो के सुप्रसिद्ध शब्दों में आदर्शवादी यह तो मानते ही हैं कि काल में हम जो व्यवस्था और क्रम देखते हैं वह एक ऐसी व्यवस्था और क्रम का बिम्ब है जो काल में अवस्थित नहीं है। काल क्रम की शृंखला एक ऐसी योजना है जिसके द्वारा नित्य मूल्य अपने-आपको अभिव्यक्त करते हैं। (४) यह सत्य है कि ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया में भौतिक वस्तु, जीवन चेतना और मूल्य उत्तरोत्तर क्रमशः प्रकट होते हैं। मन ब्रह्माण्ड में बहुत बाद में आया है, उसके उद्भूत होने से लाखों वर्ष पूर्व से ही यह ब्रह्माण्ड विद्यमान है। प्रत्ययवादी दर्शन विकास के

१ होलिज्म एण्ड एवोल्यूशन पृ० ११।

तथ्य से इन्कार नहीं करता। वह यह नहीं कहता कि मानव पृथ्वी के उत्पन्न होने से पहले ही विद्यमान था। प्रत्ययवादी जब यह कहता है कि मन आद्य और सर्वप्रथम वस्तु है तो उसका अभिप्राय इस या उस व्यक्ति के मन से नहीं बल्कि सर्वोच्च मन (ईश्वरीय मन) से होता है। यदि हम ऐसा न मानें तो हमारे लिए एक ऐसे स्थूल प्राकृतिकवाद के सिवाय और कोई विकल्प नहीं रह जाएगा जो यह मानता है कि विश्व प्रक्रिया न जो जाहिरा तौर पर अन्धी है, किसी आकस्मिक संयोग से विकास के द्वारा मानव-प्राणियों का निर्माण किया जो अन्य मानव से एक आध्यात्मिक व्यवस्था के लिए संघर्ष कर रहे हैं। यह आध्यात्मिक व्यवस्था एक एकीकृत पूर्ण है। यदि हम ईश्वर को एक प्रकृति की धारा स्वीकार कर लें तो चाहे वह कितनी ही पूर्ण विकासाभिमुख हो हम प्राकृतिकवाद से बच नहीं सकते। स्मट्स का यह कथन बिलकुल सही है कि यदि हम सर्वोच्च सत्ता की मन या व्यक्तित्व के सदृश कल्पना करें जिस रूप में कि हम उन्हें जानते हैं तो वह उसका सही वर्णन नहीं होगा। (२) स्मट्स ने हमें यह नहीं बताया कि पूर्ण का सृजन करने वाले इस ब्रह्माण्ड का उद्देश्य और उसका सम्भावित रूप क्या है। (६) यह प्रश्न अनिवार्य है कि क्या काल ही सब कुछ है या वह सिर्फ एक माध्यम है जिसके द्वारा एक उच्चतर उद्देश्य अपनी योजनाओं को क्रियान्वित कर रहा है। यदि ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया पूर्ण के निर्माण की प्रक्रिया है तो यह सम्भव है कि वह एक ऐसी योजना हो जिसके द्वारा एक नित्य परमात्मा अपनी योजनाओं को क्रियान्वित कर रहा हो। यह बहुत सम्भव है कि वह योजना ऐसी हो कि उसमें आकस्मिकता की भी गुंजाइश हो और साथ ही वह नित्य सत्ता के उपक्रम और उसके ऊपर में होने वाली प्रकृति की प्रतिक्रियात्मक शक्ति पर भी निर्भर हो। (७) यदि हम इस मान्यता का पूर्णतः परित्याग कर दें कि एक आध्यात्मिक शक्ति विश्व का निर्देशन करती है और स्मट्स की पूर्णाभिमुख विकास की प्रवृत्ति को ही विश्व की रचना के लिए उत्तरदायी मान लें तो यह प्रश्न उठता है कि क्या पूर्णाभिमुख विकास-प्रवृत्ति का वह सिद्धान्त भी विकास की प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है या नहीं। यदि यह सिद्धान्त स्वयं विकास की प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है तो वह विश्व की व्याख्या नहीं कर सकता। यदि वह उसके अन्तर्गत नहीं आता तो वह किसी भी अन्य दृष्टिकोण की भाँति काल में प्रगति का एक वस्तुतः अकाल तत्त्व है।

४. अलेक्जेंडर और लॉयड मॉर्गन का उद्भूयमान विकास का सिद्धान्त :

अलेक्जेंडर हमारे सामने प्रवर्धमान ब्रह्माण्ड की एक ऐसी तस्वीर उपस्थित करते हैं जिसमें भौतिक वस्तु, जीवन चेतना आदि आहिस्ता-आहिस्ता देश काल या विशुद्ध घटनाओं से उद्भूत होते हैं। उनके अनुसार ब्रह्माण्ड एक देश काल प्रणाली है जो क्रमशः उस अन्तिम पूर्णता की ओर बढ़ रही है जिसे उन्होंने देवता की संज्ञा दी है। देश-काल वह निर्माण-सामग्री है जिससे समस्त सद् वस्तुएँ उद्भूत होती हैं। यह ब्रह्माण्ड का प्राण तत्व है। काल देश का मन है। सत्ता के प्रारम्भिकतम स्तर पर आकृति और सख्या आदि प्रारम्भिक गुण देश-काल संरचना के भीतर पैदा होते हैं। जब इन देश-कालावच्छिन्न विन्यासों में कुछ मिश्रितता या जटिलता आ जाती है तो उनसे हम भौतिक वस्तु (मैटर) या उपवस्तु (सब मैटर) की प्राप्ति होती है। सम्मिश्रता के एक उच्चतर स्तर पर कुछ भौतिक रचना-विन्यास उद्भूत होते हैं जैसे कि ऐसी भावनाएँ या शारीरिक परिस्थितियाँ जिन्हें हम रंग स्वाद आदि के रूप में जानते हैं। देश-कालावच्छिन्न जगत् के विकास में कुछ अवान्तर-स्थलों पर कुछ नये लक्षण प्रकट होते हैं जो अनुभवों के निम्न स्तर पर आवृत होते हैं और फिर भी नये गुणों से युक्त होते हैं। जब कुछ भौतिक और रासायनिक प्रक्रियाओं का एक खास सम्मिश्रण होता है तब उसमें जीवन का गुण उद्भूत होता है। अलेक्जेंडर ने उद्भव शब्द का प्रयोग बड़ी और सृजनात्मक नवीनताओं के लिए किया है किन्तु लॉयड मॉर्गन ने इस शब्द का व्यवहार किसी भी ऐसे परिवर्तन के लिए खुलकर किया है जिसे स्वरूप या लक्षण का परिवर्तन कहा जा सकता है। अलेक्जेंडर का कहना है कि ब्रह्माण्ड की सारी प्रक्रिया देश-काल के क्रम से होनेवाली एक ऐतिहासिक अभिवृद्धि है। 'काल क्रम में जोकि प्रमुख शक्ति है देश-काल का ढाँचा निरन्तर प्रवर्धमान सम्मिश्रता वाली सान्त वस्तुओं में विभाजित हो जाता है। वस्तुओं के इतिहास में एक स्थल ऐसा आता है जबकि सान्त वस्तुओं में कुछ नये आनुभविक गुण पैदा हो जाते हैं जिनमें अनुभव के स्तर अलग अलग होते हैं। इनमें मुख्य गुण होता है भौतिक वस्तु और गौण गुण होते हैं जीवन और मन।[1] ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया इसी कालक्रम में मानवीय स्तर तक पहुँच चुकी है और मनुष्य अब देवता के और भी उच्चतर नये स्तर तक पहुँचने की प्रतीक्षा कर रहा है। धार्मिक प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति हमें विकास की इस अगली मंजिल के लिए तैयार कर रहे हैं। अलेक्जेंडर की दृष्टि में

१. स्पेस टाइम एण्ड डीटी पृ. ३४५।

तथ्य से इनकार नहीं करता। वह यह नहीं कहता कि मानव पृथ्वी के उत्पन्न होने से पहले ही विद्यमान था। प्रत्ययवादी जब यह कहता है कि मन आद्य और सर्वप्रथम वस्तु है तो उसका अभिप्राय इस या उस व्यक्ति के मन में नहीं बल्कि सर्वोच्च मन (ईश्वरीय मन) में होता है। यदि हम ऐसा न मानें तो हमारे लिए एक ऐसे स्वतः प्राकृतिकवाद के सिवाय और कोई विकल्प नहीं रह जाएगा जो यह मानता है कि विश्व-प्रक्रिया ने जो जाहिरा तौर पर अन्धी है किसी आकस्मिक संयोग से विकास के द्वारा मानव-प्राणियों का निर्माण किया जो अन्य भाव से एक आध्यात्मिक व्यवस्था के लिए संघर्ष कर रहे हैं। यह आध्यात्मिक व्यवस्था एक व्यक्तीकृत पूर्ण है। यदि हम ईश्वर का एक प्रवृत्ति की धारा स्वीकार कर लें तो चाहे वह कितनी ही पूर्ण विकासाभिमुख हो हम प्राकृतिकवाद से बच नहीं सकते। स्मट्स का यह कथन बिलकुल सही है कि यदि हम सर्वोच्च सत्ता की मन या व्यक्तित्व के सदृश कल्पना करें जिस रूप में कि हम उन्हें जानते हैं तो वह उसका सही वर्णन नहीं होगा। (६) स्मट्स ने हमें यह नहीं बताया कि पूर्ण का सृजन करने वाले इस ब्रह्माण्ड का उद्देश्य और उसका सम्भावित रूप क्या है। (५) यह प्रश्न अनिवार्य है कि क्या काल ही सब कुछ है या वह सिर्फ एक माध्यम है जिसके द्वारा एक उच्चतर उद्देश्य अपनी योजनाओं को क्रियान्वित कर रहा है। यदि ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया पूर्ण के निर्माण की प्रक्रिया है तो यह संभव है कि वह एक ऐसी योजना हो जिसके द्वारा एक नित्य परमात्मा अपनी योजनाओं को क्रियान्वित कर रहा हो। यह बहुत सम्भव है कि यह योजना ऐसी हो कि उसमें आकस्मिकता की भी गुन्जाइश हो और साथ ही यह नित्य सत्ता के उपक्रम और उसके उत्तर में होने वाली प्रकृति की प्रतिक्रियात्मक गति पर भी निर्भर हो। (७) यदि हम इस मान्यता का पूर्णतः परित्याग कर दें कि एक आध्यात्मिक शक्ति विश्व का निर्देशन करती है और स्मट्स की पूर्णाभिमुख विकास की प्रवृत्ति को ही विश्व की रचना के लिए उत्तरदायी मान लें तो यह प्रश्न उठेगा कि क्या पूर्णाभिमुख विकास प्रवृत्ति का यह सिद्धान्त भी विकास की प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है या नहीं। यदि यह सिद्धान्त स्वयं विकास की प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है तो वह विश्व की व्याख्या नहीं कर सकता। यदि वह उसके अन्तर्गत नहीं आता तो वह किसी भी अन्य दृष्टिकोण की भाँति काल में प्रगति का एक वस्तुतः नवीन तत्त्व है।

४ अलेक्जेंडर और लॉयड मॉर्गन का उद्भूयमान विकास का सिद्धान्त :

अलेक्जेंडर हमारे सामने उद्भवमान ब्रह्माण्ड की एक ऐसी तस्वीर उप-स्थित करते हैं जिसमें भौतिक वस्तु जीवन चेतना आदि आहिस्ता-आहिस्ता देश-काल या विशुद्ध घटनाओं से उद्भूत होते हैं। उनके अनुसार ब्रह्माण्ड एक देश-काल प्रणाली है जो क्रमशः उस अन्तिम पूर्णता की ओर बढ़ रही है जिसे उन्होंने देवता की संज्ञा दी है। देश-काल वह निर्माण-सामग्री है जिससे समस्त सत् वस्तुएँ उद्भूत होती हैं। यह ब्रह्माण्ड का प्राण तत्त्व है। काल देश का मन है। सत्ता के प्रारम्भिकतम स्तर पर आकृति और संख्या आदि प्रारम्भिक गुण देश-काल मर-चना के भीतर पैदा होते हैं। जब इन देश-कालावच्छिन्न विन्यासों में कुछ मिश्रितता या जटिलता आ जाती है तो उससे हम भौतिक वस्तु (मैटर) या उपवस्तु (सब मैटर) की प्राप्ति होती है। सम्मिश्रता के एक उच्चतर स्तर पर कुछ भौतिक रचना-विन्यास उद्भूत होते हैं जैसे कि ऐसी भावनाएँ या शारीरिक परिस्थितियाँ जिन्हें हम रंग स्वाद आदि के रूप में जानते हैं। देश-कालावच्छिन्न जगत् के विकास में कुछ सम्मिश्रता-स्तरों पर कुछ नये लक्षण प्रकट होते हैं जो अनुभवों के निम्न स्तर पर आवृत होते हैं और फिर भी नये गुणों से युक्त होते हैं। जब कुछ भौतिक और रासायनिक प्रक्रियाओं का एक खास सम्मिश्रण होता है तब उसमें जीवन का गुण उद्भूत होता है। अलेक्जेंडर ने उद्भव शब्द का प्रयोग नयी और सम्भवात्मक नवीनताओं के लिए किया है किन्तु लॉयड मॉर्गन ने इस शब्द का व्यवहार किसी भी ऐसे परिवर्तन के लिए जानकर किया है जिसे स्वरूप या लक्षण का परिवर्तन कहा जा सकता है। अलेक्जेंडर का कहना है कि ब्रह्माण्ड की सारी प्रक्रिया देश-काल के क्रम से होनेवाली एक ऐतिहासिक अभिवृद्धि है। 'काल क्रम में जोकि प्रमुख गति है देश-काल का ढाँचा निरन्तर प्रवर्धमान सम्मिश्रता वाली सान्त वस्तुओं में विभाजित हो जाता है। वस्तुओं के इतिहास में एक स्थल ऐसा आता है जबकि सान्त वस्तुओं में कुछ नये आनुभविक गुण पैदा हो जाते हैं जिनमें अनुभव के स्तर अलग-अलग होते हैं। इनमें मुख्य गुण होता है भौतिक वस्तु और गौण गुण होते हैं जीवन और मन।'[१] ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया इसी कालक्रम में मान-वीय स्तर तक पहुँच चुकी है और मनुष्य अब देवता के और भी उच्चतर नये स्तर तक पहुँचने की प्रतीक्षा कर रहा है। धार्मिक प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति हमें विकास की इस अगली मंजिल के लिए तैयार कर रहे हैं। अलेक्जेंडर की दृष्टि में

१ स्पेस टाइम एण्ड डीटी, २ पृ ३४५।

धर्म इस अन्तिम अविरत की चाह ही है। दिव्य पुरुष या देवता मानव के बाद की काल की मंज़िल है। सारा संसार इस समय देवताओं के सृजन में व्यस्त है। काल क्योंकि समस्त सत्ता का सार है अतः किसी भी सत्ता के लिए भविष्य का अन्त नहीं हो सकता। यहाँ तक कि ईश्वर भी काल की ही सृष्टि है।

अलेग्जेंडर ने आधुनिक वैज्ञानिक विचार के अनुरूप सामान्य दार्शनिक रूपरेखा तैयार करने का जो प्रयत्न किया है वह बड़ा प्रतिभापूर्ण है, किन्तु उसमें कुछ बुनियादी कमजोरियाँ हैं। उसके इस सारे प्रयत्न में एक धर्म-विरोधी रुख रहता है हालाँकि यह हमारे युग का सबसे अधिक प्रभावकारी दार्शनिक प्रयत्न है। अलेग्जेंडर के दर्शन में देश-काल की स्थिति कुछ अस्पष्ट और संदिग्धार्थक है। उसमें देश-काल एक अमूर्तीकरण है एक संकल्पना है जिससे मूर्त सत्ता की व्याख्या की जाती है वह अपने-आपमें मूर्त सत्ता नहीं है। फिर भी उसमें इसे (देश-काल को) ही वह सामग्री कहा गया है जिससे सब सत् वस्तुएँ बनती हैं। इस दर्शन के अनुसार देश-काल किसी समय अनवच्छिन्न रूप में केवल अपनी ही सत्ता में विद्यमान था किन्तु बाद में धीरे-धीरे आकार रंग ध्वनि सौन्दर्य और अच्छाई आदि गुणों के उद्भव से वह समृद्ध हो गया। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यह सत्ता का निम्नतम स्तर है। अलेग्जेंडर की दृष्टि में देश-काल एक पूर्ण निरपेक्ष वस्तु है क्योंकि अन्य सभी वस्तुएँ उसी से उद्भूत होती हैं। यह समस्त सान्त और अनन्त वस्तुओं से बड़ा है क्योंकि यह उनका जनक है। किन्तु इसमें देश-काल मात्र होने के कारण इन वस्तुओं के अन्य गुणों की सम्पदा नहीं है और वह बिल्कुल प्रारम्भिक मूल तत्त्व है इसलिए वह उस सीमा तक उनसे छोटा भी है। किसी दशा में यह एक पूर्णव्यापी अमूर्तीकरण है और हमें इसका ज्ञान उसी रूप में होता है जिस रूप में कि वह सान्त विद्यमान वस्तुओं में जिनका कि वह जनक माना जाता है अभिव्यक्त होता है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि प्रारम्भ में देश-काल की एक ऐसी आदिम अवस्था थी जिसमें पूर्ण अनुभव की तत्त्वगत प्रवृत्ति का अभाव था और जिसमें किसी-न-किसी रूप में उसका उद्भव हुआ है। यदि देश-काल अन्तिम तत्त्व है तो हम नहीं जानते कि उसका रूप क्या है।

देश-काल से भौतिक वस्तु का उद्भव कैसे हो सकता है यह समझना कठिन है। भौतिक वस्तु (मैटर) विस्तार-कालावधि का नाम नहीं है।

१ स्पेस टाइम एंड डीटी १ १ ११

अलेग्जेंडर जब यह कहते हैं कि हर सत् पदार्थ की उत्पत्ति उससे निम्न श्रेणी के सत् पदार्थ से पूर्ण रूप में बताई जा सकती है और उसकी इस प्रकार की व्याख्या के बाद अव्याख्येय कुछ नहीं बचता तब उनके कथन में पूर्ण संगति नहीं होती। उस दशा में उनका दर्शन स्थूल प्राकृतिकवादी दर्शन बन जाएगा और उन्होंने 'उद्भव' का जो विचार स्वीकार किया है उसीका इससे विरोध होगा। भौतिक वस्तु देश-काल से एक भिन्न चीज है। यही बात अन्य चीजों के बारे में भी है। जब भौतिक संरचना में कुछ सम्मिश्रता या जटिलता आती है तो उसमें जीवन का एक सर्वथा नयी वस्तु के रूप में 'उद्भव' होता है। यह 'उद्भव' ही असली समस्या है। जब भौतिक संरचना की सम्मिश्रता में और भी परिवर्तन होता है जैसा कि अन्तर्वर्ती स्नायु-संस्थान की उत्पत्ति के समय हम देखते हैं तब 'मन' का उद्भव होता है और इस प्रकार यह समझा जाता है कि जीवन और चेतन व्यवहार के बीच का अन्तर पूरा हो गया है। अलेग्जेंडर इसकी व्याख्या करने के लिए विश्व में उच्चतर स्तर की ओर बढ़ने की एक प्रवृत्ति (नाइसस) की कल्पना करते हैं। यह प्रवृत्ति सृजनात्मक है, यह ब्रह्माण्ड की उच्चतर स्तर पर पहुँचने की पिपासा को तृप्त करती है। ओल्ड टेस्टामेंट में शून्य और ईश्वर को जो स्थान दिया गया है वह अलेग्जेंडर ने आदिम देश-काल और उच्चतर स्तर की ओर इस प्रवृत्ति को दिया है। यदि हम उच्चतर स्तर की ओर जाने की इस प्रवृत्ति को एक ऐसी आध्यात्मिक शक्ति न मानें जो अपने मूल स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण करती है और क्रमशः नए नये आकारों को अभिव्यक्त करती है तो अले-ग्जेंडर की सारी व्याख्या ही असन्तोषजनक हो जाएगी। यह प्रवृत्ति (नाइसस) कोई ऐसी अचेतन प्रेरक-शक्ति नहीं हो सकती जो आहिस्ता-आहिस्ता बढ़कर मानव में चेतना का रूप धारण कर ले। इस प्रवृत्ति के लिए उत्तरदायी सृजनात्मक भावना ब्रह्माण्ड का परिणाम नहीं हो सकती जैसा कि अलेग्जेंडर या दूसरे लोग कल्पना करते हैं बल्कि वह उसका मूल स्रोत भी है जैसा कि महान् धर्मों और दर्शनों में कहा गया है। यदि ईश्वर का अभी अस्तित्व नहीं है और वह एक भावी सम्भावना ही है तो ईश्वर की पूजा के सार्वभौम अनुभव के रूप में धर्म केवल एक काल्पनिक वस्तु की पूजा-मात्र रह जाएगा। यदि हम उच्चतर की ओर इस प्रवृत्ति (नाइसस) को मूलतः एक अचेतन वस्तु मानकर चलें और यह कल्पना करें कि ब्रह्माण्ड के विकास के परिणामस्वरूप वह एकाएक चेतन बन

स्पेस टाइम एण्ड डीटी २, पृष्ठ ७५ फुटनोट।

जाती है तो उसका अर्थ यह होगा कि हमने अपने देवता के क्रम को मूल से अस्तित्व का क्रम मान लिया है। हम सब सर्वोच्च परम सत्ता को जानते नहीं हैं इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उसका अस्तित्व ही नहीं है। पहला अध्याय दूसरे अध्याय की सिर्फ इसीलिए व्याख्या नहीं कर सकता कि उसका स्थान पहले है। लेखक का मन ही वास्तव में उनकी सही व्याख्या कर सकता है।

ऐसे स्थल भी हैं जिनमें कि प्रोफेसर ने यह अनुभव किया है कि देवता सिर्फ कोई ऐसा गुण ही नहीं है जो ब्रह्माण्ड के इस अस्तित्वम्य और सूक्ष्म मात्र में पैदा हो गया हो। उन्होंने कहा है "ईश्वर यह सारा संसार है जिसमें देवता का गुण है। वह एक ऐसी चीज है जिसका 'शरीर' यह सारा संसार है और जिसका 'मन' देवता है।[1] किन्तु देवता को धारण करनेवाला ईश्वर वास्तविक नहीं है केवल आत्यन्तिक आदर्श-मात्र है। वास्तविक ईश्वर तो यह असीम संसार है जिसमें देवता की ओर उठने की प्रवृत्ति है और बाइबलिस्ट के शब्दों में कहा जाए तो हम यह कह सकते हैं कि यह देवता के समान बना है या यह गर्भ में देवता को धारण किये प्रसव-वेदना सह रहा है।[2] क्या यह सम्भव नहीं है कि देश-काल के विस्तीर्ण क्षेत्र में कहीं अन्यत्र भी देवता का गुण उपलब्ध कर लिया गया हो और क्या यह भी सम्भव नहीं है कि हमारी इस पृथ्वी के जन्म और मानव-सृष्टि के उद्भव से पूर्व ही एक ऐसा ईश्वर साकार हो गया हो जो हमारी कल्पना से परे हो। हमारा ज्ञान जिस क्रम से है वह ब्रह्माण्ड भी उसी क्रम से हो यह आवश्यक नहीं है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व पहले है और ईश्वर उसके बाद में उद्भूत हुआ है। किन्तु हो सकता है कि ईश्वर ही यथार्थ सत्ता हो और यह संसार उसकी अभिव्यक्ति-मात्र हो। हमारी दृष्टि में जो वस्तु अन्तिम है यथार्थ में भी वही अन्तिम हो ऐसी बात नहीं है। सृजन-प्रक्रिया में प्रत्यय पहले होता है और अनुभव पीछे। यदि हम यह मानते हैं कि आनुभविक शृंखला की जड़ किसी ऐसी शृंखला में है जो आनुभविक से कुछ अधिक है तो हमें यह मानना होगा कि ईश्वर संसार से पहले है। यदि काल ही अन्तिम सत्ता है तो जिन मूल्यों के प्रति हमारी इतनी आस्था है और जिनके द्वारा हम वास्तविक तथ्यों का मूल्यांकन करते हैं वे ऐसी क्षणिक कल्पना या परिवर्तनशील विचार या आदर्श बन रह जाएँगे जिनमें विश्व की प्रक्रिया के कुछ अंश मौजूद हैं। ऐसे कोई निरपेक्ष या पूर्ण पैमाने नहीं हैं जिनसे हम अनुभव का सापेक्ष-मूल्य निर्धारित कर सकें। यदि मूल्य वास्तविक

१ स्पेस टाइम एण्ड डीइटी २ पृष्ठ ३५३।

और यथार्थ है तो उसकी यथार्थता परिवर्तमान वस्तुओं की यथार्थता नहीं है। उसका सम्बन्ध एक ऐसे क्षेत्र से है जो समस्त आकस्मिकता और परिवर्तनों से ऊपर है। जिस हद तक वे हमारे संसार में प्रकट होते हैं उस हद तक हमारा संसार वास्तविक है और हमारे मूल्यांकनों का क्रियात्मक महत्त्व है। भौतिक वस्तु के दबाव के भीतर हम जीवन की प्रचेष्टा की आकांक्षा देखते हैं और जीवन की गति के भीतर हम मन की उद्भव की गहरी आकांक्षा पाते हैं और हमारा चेतन अनुभव अमर सत्ता को प्राप्त करने का एक सुदीर्घ प्रयत्न है।

लॉयड मॉर्गन का[1] जिन्होंने आनुभविक ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में अलग्जैण्डर के समान ही विचार और रुख अपनाया है, कहना है कि इतिहास का घटनाक्रम केवल कालिक अनुक्रम के द्वारा ठीक-ठीक समझाया नहीं जा सकता। उनका कहना है कि एक नयी किस्म की आमिक वस्तुओं का एक ऐसा श्रेणी-बद्ध क्रम है जिसमें अतीत के विकास के गुण भी हैं और जिसमें भविष्य में भी प्रकृति के क्रम बद्ध विकास में ऐसे नये ऊर्ध्वमुख चरण आ सकते हैं हालांकि हम उनके स्वरूप और लक्षणों को पहले से नहीं जान सकते। संसार निर्माण की प्रक्रिया में से निरन्तर गुजर रहा है। प्रगति के हर चरण में हम निर्माण-सामग्री में अधिका धिक सम्मिश्रता और पदार्थ में अधिकाधिक समृद्धता देखते हैं। इस प्रक्रिया की व्याख्या करने के लिए लॉयड मॉर्गन बहुत सी धारणाओं की कल्पना करने के बजाय एक ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। वह 'एक ऐसी सत्ता को स्वीकार करते हैं जो यथार्थ भी है और निदेशक क्रिया से युक्त भी। आवर्तित सम्बद्धता और निदेशन-सम्बन्धी अन्य अभिमत परिवर्तन (जिनके साथ विज्ञान का सम्बन्ध है) उसकी अभिव्यक्ति है।'[2] 'अच्छा हो या बुरा मैं ईश्वर को एक ऐसी उत्प्रवृत्ति (नाइसस) मानता हूँ जिसकी महत् क्रिया के द्वारा उद्भूत पदार्थों का उद्भव और उद्भव-सम्बन्धी विकास की सारी प्रक्रिया का निदेशन होता है। ईश्वर स्वयं एक उद्भूत गुण नहीं है बल्कि वह एक महत्क्रिया है जिसके भीतर गुण उद्भूत होते हैं। ईश्वर समस्त गति का प्राण है वह एक गहरी जड़ है जो सारे वृक्ष को पुष्ट करती है। वह समस्त जीवन का मूल तत्त्व है वह इस कालावच्छिन्न संसार की पृष्ठभूमि में बल्कि उसके भीतर विद्यमान एक अपरिवर्तनीय शिव है हालांकि यह बिलकुल सच है हम इस सृजनकारी परमात्मा तक न पहुँच सकते

१ इमर्जेण्ट इवोल्यूशन (१९२३), लाइफ, माइण्ड एण्ड स्पिरिट (१९२६)।
२ कण्टेम्पोरेरी ब्रिटिश फिलॉसफी, प्रथम सीरीज (१९२), पृष्ठ ३ १ १ ४।

यदि हमने इस आनुभविक संसार का न देखा होता जो कि उसके अस्तित्व को सिद्ध करता है। इतिहास का क्रम ईश्वर की क्रमिक आत्माभिव्यक्ति है। लॉयड मॉर्गन ने हमें यह नहीं बताया कि क्या उनकी राय में यह उद्भव किसी निर्धारित नियम के अनुसार होता है या वह स्वतन्त्र सृजन की प्रक्रिया है। स्पिनोज़ा के प्रति उनकी आस्था को देखकर यह सन्देह होता है कि शायद वह निर्धारित नियम के अनुसार उद्भव मानते हैं और उनके मत में उसमें स्वतन्त्रता-जैसी चीज़ नहीं है। यह सही है कि लॉयड मॉर्गन के मत में उद्भव के विकास का प्राक्कथन नहीं किया जा सकता। फिर भी बेर्गसां ने सृजनात्मक विकास को जिस प्रकार अनिर्धारित और स्वच्छन्द माना है वैसा अनिर्धारित और स्वच्छन्द लॉयड मॉर्गन औद्भविक विकास को नहीं मानते हैं। किन्तु साथ ही केवल मानव-मन ही नहीं कोई भी मन उसका प्राक्कथन नहीं कर सकता। लॉयड मॉर्गन स्पिनोज़ा के दार्शनिक दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं अतः उनके लिए सही मानों में उद्भव को स्वीकार करना कठिन है।

किन्तु लॉयड मॉर्गन ब्रह्माण्ड के योरेखन निदेशन से मनुष्य में दिव्यता के आगमन का अनुमान लगाते हैं। किन्तु उन्होंने अपने ईश्वर को नित्य और विभु माना है। उनका कहना है कि सत्ता का क्षेत्र एक ही है जो प्राकृतिक भी है और आध्यात्मिक भी। वह दो प्रकार की अलग-अलग सत्ताओं के विचार के विरोधी हैं। 'घटनाओं का समस्त क्रम जो विकास के अन्तर्गत आ जाता है ईश्वर में उद्भव की अभिव्यक्ति है।' उद्भव को ब्रह्माण्ड से अलग करने से उनका अभिप्राय यह है कि उद्भव एक प्रकार से हमारे ज्ञान से अतीत है। ह्वाइटहेड की विचार धारा में हम ज्ञानातीतता के तत्त्व की स्पष्ट स्वीकृति पाते हैं।

४. ह्वाइटहेड का आन्तरिक विकासवाद

ह्वाइटहेड ने तमाम प्राकृतिकवादी विचारधाराओं की व्यर्थता को स्पष्ट रूप से अनुभव किया है और इसीलिए उन्होंने ब्रह्माण्ड प्रक्रिया के सम्बन्ध में प्लेटो के विचार का आश्रय लिया है। उन्होंने अलेक्ज़ेंडर के इस विचार से असंतोष प्रकट किया है कि ब्रह्माण्ड में जो कुछ है हम उससे कुछ अधिक ही प्राप्त करते हैं और फिर भी किसी भी वस्तु का तब तक उद्भव नहीं हो सकता जब तक कि उसके घटक तत्त्व पहले से मौजूद न हों। अलेक्ज़ेंडर का मत है कि जब समूचे देश-काल

१ लाइफ एंड दि सस्पेंड तूमिका।

के भीतर घटनाओं के ताने-बाने का विन्यास एक निश्चित सम्मिश्रता और जटिलता से युक्त हो जाता है तब काल-क्रम में उसमें कुछ गुण उद्भूत हो जाते हैं। किन्तु ह्वाइटहेड का कहना है कि ये गुण कोई नयी उद्भूत होने वाली वस्तु नहीं हैं बल्कि प्रारम्भ से ही उसमें बीज-रूप में विद्यमान रहते हैं। नित्य वस्तुओं का घटनाओं में पहले से ही बीज-रूप में उपस्थित होना ही इतिहास के क्रम में घटनाओं के घटित होने की व्याख्या कर सकता है। ब्रह्माण्ड घटनाओं की एक विकासमान शृंखला है, जिसमें विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ और मूल्य होते हैं। हर कदम पर हम एक ऐसी वस्तु का उद्भव देखते हैं जो सही अर्थों में नहीं होती है जो प्रगति की शृंखला के पहले चरणों में नहीं थी। परिवर्तन का अर्थ पहले से भीतर विद्यमान वस्तु की बाह्य अभिव्यक्ति-मात्र नहीं है और न ही यह वस्तु का निर्माण करने वाले घटकों का क्रम-परिवर्तन ही है बल्कि परिवर्तन से जो समग्र वस्तु बनती है वह कुछ नहीं होती है। उच्चतर वस्तु की हम निम्न वस्तु के रूप में समुचित व्याख्या नहीं कर सकते। प्रत्येक घटना एक चमत्कार है, एक सर्वथा नयी घटना है। यह एक प्रत्यय को जो हम ब्रह्माण्ड से परे की चीज है मूर्त करती है और एक सत्तापरक ब्रह्माण्ड घटनाक्रम उसकी व्याख्या के लिए होना चाहिए। ह्वाइटहेड का कहना है कि संसार में एक नित्य क्रम और एक मूल्यात्मक यथार्थ सत्ता है। ब्रह्माण्ड के घटनाक्रम में उस नित्य व्यवस्था की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति है, जो उसके परे है फिर भी ब्रह्माण्ड के घटना-क्रम में अधिकाधिक साकार होती है। उच्चतम घटनाएँ भी ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनमें लाल रंग और मधुर स्वाद आदि नित्य वस्तुएँ, जो घटना नहीं हैं अन्तःप्रविष्ट हो जाती हैं। ह्वाइटहेड का कहना है कि एक स्वतन्त्र सम्भावना केवल कुछ सीमाओं और मर्यादाओं के कारण ही एक निश्चित वास्तविकता बनती है। वास्तविक ब्रह्माण्ड के नियमों का पालन करके ही एक तत्त्व सत्ता बनता है और एक वस्तु घटना बनती है। एक वास्तविक घटना एक मिलन-बिन्दु है जहाँ वास्तविकताओं का संसार और आदर्श या अव्यक्त सम्भावनाओं का संसार आकर मिलते हैं। नित्य वस्तुएँ सृजनात्मक प्रवाह के साथ पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया में वास्तविकता का रूप धारण करती हैं किन्तु देश-काल मर्यादाएँ अतीत का कारणिक दबाव या खिंचाव और वह अन्तिम सत्ता जिसे हम ईश्वर कह सकते हैं उन्हें एक नियम और सीमा में बाँधती हैं जिसका उन्हें पालन करना पड़ता है। ईश्वर ही सम्भावनाओं के राज्य और निश्चित तथ्यों के संसार की पूर्व-कल्पना

करता है ताकि वे नयी वस्तु के सृजन के लिए एक मिलन-बिन्दु पर कल्पित हो सकें। वही अपनी प्रकृति को ऊपर से प्रयुक्त कर सम्भावनाओं की आदर्श योजनाएँ निर्धारित करता है। इस ईश्वरीय नियन्त्रण के बिना आदर्श आकारों के असीम भंडार और असमाधित क्रिया के मेल से कोई निश्चित वस्तु प्राप्त नहीं की जा सकती। ह्वाइटहैड का कहना है कि ब्रह्माण्ड में हमें ऐसी सृजनात्मकता दिखायी पड़ती है जिसमें असीम स्वतन्त्रता है और असीम आकारों की सम्भावना का एक असीम क्षेत्र है, किन्तु यह सृजनात्मकता और ये असीम आकार तब तक वास्तविकता का रूप धारण नहीं कर सकते जब तक कि आदर्श ऐक्य और सहस्वरता न हो और वही ईश्वर है। ईश्वर ही ब्रह्माण्डव्यापी असीम वस्तुओं का और आदर्श ऐक्य तथा सहस्वरता का आधार है।

ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया में धीरे-धीरे नित्य क्रम व्यवस्था भी जो ईश्वर के स्वरूप में निहित है समाविष्ट होती जाती है। ईश्वर की 'आद्य' प्रकृति जिससे ह्वाइटहैड का अभिप्राय एक ऐसे ईश्वर से है जो काल से पूर्व नहीं बल्कि काल से असीम है उन सम्भावनाओं की अदृश्यनात्मक चेतना है जो एक ही समय में परस्पर सामञ्जस्य के साथ साकार हो सकती हैं। ये सम्भावनाएँ 'नित्य सत्य' कहलाती हैं। प्लेटो के प्रत्यय जहाँ पदार्थ हैं वहाँ ये नित्य सत्य पदार्थ नहीं हैं, केवल आकार हैं। जब हम यह मानते हैं कि आकार सम्भवनात्मक रूप में ईश्वर में निहित रहते हैं तब हम स्वतन्त्र अस्तित्व और पार्थक्य की सम्भावना की उपेक्षा कर देते हैं। इन नित्य सत्यों की सत्ता वास्तविकता की छायानुकृति नहीं है, बल्कि केवल सम्भावना-मात्र है। ये कोई ऐसी प्रतिग्राहक शक्तियाँ नहीं हैं जो इस सारे जगत् का निर्माण करती हों न ये ऐसी कोई गतिशील शक्तियाँ हैं जो घटनाओं और वस्तुओं को अपनी ओर आकृष्ट करती हों। ये अपने वास्तविक अस्तित्व के प्रति उदासीन हैं और यह सम्भव है कि उनमें से बहुत से सत्य कभी अस्तित्व में आये ही न हों। ये नित्य और कालानवच्छिन्न हैं। जब और सब-कुछ नष्ट हो जाता है तब भी ये नष्ट नहीं होते। ये काल्पनिक या अमूर्त नहीं हैं बल्कि ये एक ठोस और वैयक्तिक पूर्ववर्ती पर अवलम्बित हैं। इनमें से कुछ सत्यों का बोध हमें उनकी अभिव्यक्ति से पूर्व तार्किक सम्भावना के रूप में होता है और कुछ को हम ऐसे सूक्ष्म के अभीष्ट के रूप में जानते हैं जिसे प्राप्त करने का हम प्रयत्न करते हैं। फिर भी ये उत्पादक कारण नहीं हैं क्योंकि उनका सम्बन्ध विशुद्ध सत्ता के राज्य

'रिलिजन इन दि मेकिंग', पृ० ९० ।

से है। आकार और इस कालावच्छिन्न संसार का सम्बन्ध वही है जो सम्भावनाओं का वास्तविकताओं के साथ है। आकार और कालिक प्रक्रिया दोनों को एक-दूसरे की जरूरत है। प्रक्रिया एक क्रम और निर्धारित नियम के अनुसार तभी चल सकती है जबकि वह आकारों में भाग ले और आकारों का अस्तित्व तभी रह सकता है जबकि वे घटना की प्रक्रिया में वास्तविक रूप धारण कर सकें। कालावच्छिन्न संसार में घटित वास्तविकताओं को उत्पत्ति की ऐसी प्रक्रियाओं के रूप में वर्णित करने की आवश्यकता नहीं है जिनके द्वारा एकाकी सृजनात्मकता वस्तुओं के पूर्व निर्धारित स्वरूप और क्रम को नियमित करती है। एक ओर वास्तविकता का उद्भव अन्य सब वास्तविकताओं की पृष्ठभूमि में होता है और ये वास्तविकताएँ उसे अनुकूलित भी करती हैं और दूसरी ओर यह वास्तविकता आत्म-निर्माण की एक प्रक्रिया भी है। उसके सामने जो सामग्री प्रस्तुत होती है, उसे वह उद्देश्यों या प्रयोजनों की रोशनी में संघटित रूप प्रदान करती है। ईश्वर के स्वरूप में जो सम्भावनाएँ हम देखते हैं उन्हें कालावस्थायी वास्तविकताएँ साकार करती हैं। इस प्रकार हम दो चीजें देखते हैं—एक सृजनात्मकता और दूसरी ईश्वर की आद्य प्रकृति जो कालिक क्रम में पूर्व वस्तुओं की सम्भावनाओं की एक कल्पना है। ईश्वर 'वास्तविक किन्तु अकालावच्छिन्न सत्ता है जिसके द्वारा निरी सृजनात्मकता की अनिर्धारितता एक निर्धारक स्वतन्त्रता में परिणत हो जाती है।

व्हाइटहेड की दृष्टि में ईश्वर और संसार का सम्बन्ध सर्वव्यापित्व और परस्पर-व्यापित्व का सम्बन्ध है। सभी सम्बन्ध क्योंकि अन्योन्य-सम्बन्ध होते हैं इसलिए ईश्वर संसार-व्यापी है और संसार ईश्वर-व्यापी। क्योंकि ईश्वर संसार से भी परे है इसलिए संसार भी ईश्वर से परे है। संसार में हम जो क्रम और प्रयोजन देखते हैं वह वास्तविकता द्वारा अपने सम्मुख उपस्थित उच्चतम सम्भावनाओं की पूर्ति का परिणाम है। यह उच्चतम सम्भावना ईश्वर की तत्सम्बन्धी कल्पना है। परिणत (कौन्सिक्वेंट) ईश्वर आद्य ईश्वर से भिन्न है। विश्व की क्रमबद्धता और सौन्दर्यपूर्ण सहस्वरता ईश्वर की प्रकृति का अंग बन जाती है क्योंकि वह नित्य है और इसीलिए मूल्यांकन के कालातीत पक्ष में वह नित्य वस्तु के रूप में उस (ईश्वर) में सुरक्षित हो जाती है। व्हाइटहेड का कहना है कि ईश्वर संसार का स्रष्टा उतना नहीं है जितना कि ज्ञाता। ईश्वर सम्भावनाओं

१ रिलिजन इन दि मेकिंग, पृष्ठ ९०।

को एक आश्चर्यजनक सम्पदा अपनी दृष्टि में रखता है जिस पर संसार ने अभी नजर डालना भी मुश्किल से शुरू किया है इसलिए स्वभावतः ईश्वर संसार से अतीत है। लेकिन इसी कारण से संसार भी ईश्वर से अतीत है। संसार में क्रम और व्यवस्था पूर्ण तथा सर्वव्यापी नहीं है। वस्तुतः विकमान और भद्दर संघिष्ठपूर्ण तथा आत्म-केन्द्रित उद्देश्यों के कारण हम संसार में अव्यवस्था और भूल देखते हैं और इन उद्देश्यों से ही बुराई और पाप का उदय होता है।[1] ईश्वर क्रम की एक ऐसी कल्पना है जिसे संसार को साकार करना है इसलिए वह संसार से ऊपर है और वह संसार द्वारा उपलब्ध की गई क्रम-व्यवस्था का मूल है इसलिए वह संसार में व्यापी भी है।

व्हाइटहेड ने अन्तिम सत्ता और ईश्वर में भेद किया है। उसकी दृष्टि में अन्तिम सत्ता सृजनात्मकता है जो अपने अतात्विक गुणों के कारण वास्तविक है और ईश्वर मात्र अकालावच्छिन्न अतात्विक गुण है।[2] ईश्वर निरपेक्ष नहीं है बल्कि निरपेक्ष के अतात्विकगुणी वास्तविकीकरणों में से एक है। यह कल्पना करना कठिन है कि यह अन्तिम सृजनात्मकता जो अपने निज के किसी भी स्वरूप या लक्षण से रहित विशुद्ध अनिर्धारित बताई जाती है वास्तव में क्या है? जो सीमा या मर्यादा इस विशुद्ध अनिर्धारित सृजनात्मकता को एक निर्धारित स्वतः सत्ता में परिणत करती है उसका स्रोत क्या है? क्योंकि ईश्वर स्वयं अतात्विक गुणों में से एक है इसलिए वह अतात्विक गुणों का स्रोत नहीं हो सकता। वह कारण और कार्य दोनों नहीं हो सकता। जब तक हम अन्तिम सत्ता की एक ऐसे निरपेक्ष मन की भाँति जिसमें प्राथमिक सत्ता और स्वतन्त्र सृजनात्मकता दोनों लक्षण हों सन्तोषजनक रूप में कल्पना न करें तब तक वह निरा तार्किक अमूर्तकरण ही रहेगी। 'सृजनात्मकता भी ठीक उसी तरह से अपने निज के किसी स्वरूप या लक्षण से रहित है जिस तरह अरस्तू के दर्शन में स्वीकृत 'पदार्थ'। 'वह हमेशा कुछ उपाधियों से युक्त पाई जाती है और उसे कुछ उपाधियों से युक्त रूप में वर्णित किया जाता है। क्योंकि वह केवल अपने कुछ अतात्विक गुणों के कारण ही वास्तविक है इसलिए वह एक अन्तर्निहित तत्त्वपरक अमूर्तकरण है।' वह केवल ईश्वर में निहित है। ठीक-ठीक कहा जाए तो ईश्वर उच्चतम यथार्थता

1 साइन्स एण्ड दि मॉडर्न वर्ल्ड पृष्ठ २६६।
प्रोसेस एण्ड रियेलिटी (१९२६), पृष्ठ ८।
2 प्रोसेस एण्ड रियेलिटी (१९२६), पृष्ठ ८८ ४१।

या निरपेक्षरूप है। यह ब्रह्माण्ड प्रक्रिया का तार्किक पूर्वाधार है। यह ब्रह्माण्ड प्रक्रिया तभी चल सकती है जबकि कोई आद्य प्रकृति हो किन्तु इस आद्य प्रकृति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उससे पहले कोई ब्रह्माण्ड प्रक्रिया भी हो ही। यही कारण है कि विशुद्ध अव्यवस्था स्वभावतः ही असम्भव है। सृजनात्मक प्रगति हमें अपनी संकल्पनात्मक योजना की पूर्ति की दिशा में ले जाती है। ब्रह्माण्ड की सारी योजना ईश्वर की प्रकृति में पर्याप्त रूप से विद्यमान है क्योंकि वह ईश्वर की आद्य संकल्पनात्मक प्रकृति की ही नित्य पूर्ति है। ईश्वर की 'परिणत' (कौन्सिक्वेंट) प्रकृति विकासशील जगत् के सम्बन्ध की अपेक्षा से ही विकसित होती है। ह्वाइटहेड का कहना है कि ईश्वर एक आनुभविक घटना है क्योंकि 'ईश्वर एक वास्तविक सत्ता है और इसीलिए वह सुदूर-विस्तीर्ण शून्य देश में सत्ता का एक अत्यन्त तुच्छ निश्वास है। यहाँ तक कि ईश्वर की 'आद्य प्रकृति' जो नित्य वस्तुओं का सम्पूर्ण ताना-बाना है एक सृष्ट तथ्य है।'[1] यदि ईश्वर 'आद्य सृष्टि' न हो तो ऐसी नित्य वस्तुएँ, जो साकार नहीं हो सकीं सत्ता-हीन रहेंगी। किन्तु क्योंकि ईश्वर 'परिणत' प्रकृति भी है इसलिए वह आदि भी है और अन्त भी। वह वस्तु को मूर्त रूप देने वाला एक ऐसा तत्त्व है जिसके द्वारा उसकी संकल्पनात्मक योजना तथ्य का रूप धारण करती है। 'ईश्वर की परिणत प्रकृति विश्व के सम्बन्धों में उसका निर्णय है।'[2] ह्वाइटहेड के अनुसार वास्तविक विश्व प्रक्रिया की व्याख्या के लिए ईश्वर के त्रिविध स्वरूप की आवश्यकता है (१) ज्ञानमय ईश्वर अर्थात् आद्य प्रकृति (२) प्रेममय ईश्वर, और (३) क्रियात्मक ईश्वर। उसकी यह कल्पना हिन्दू विचारधारा में ब्रह्मा विष्णु और शिव के रूप में ईश्वर की त्रिविध कल्पना का स्मरण कराती है। ब्रह्माण्ड में तीन प्रकार का सृजनात्मक कार्य शामिल है (१) ब्रह्माण्ड को एक अनन्त संकल्पनात्मक आकार देना (२) कालावच्छिन्न संसार में स्वतन्त्र भौतिक आकार प्रदान कर उसमें विविधता स्थापित करना[3] और (३) वास्तविक तथ्य के अनेकत्व का आद्य संकल्पनात्मक तथ्य के साथ एकत्व स्थापित करना। ईश्वर समस्त विकास-योजना

१ प्रोसेस एण्ड रियेलिटी, पृष्ठ ५४।
२ प्रोसेस एण्ड रियेलिटी, पृष्ठ ४१।
३ 'जिस काल्पनिक चित्र के रूप में ईश्वर की प्रकृति की इस त्रिगुणात्मक दृष्टि की सर्वोत्तम कल्पना की जा सकती है, वह इस बात की चिन्ता का चित्र है कि कुछ भी नष्ट न हो—किन्तु वह काल्पनिक चित्र-मात्र ही है।
४ प्रोसेस एण्ड रियेलिटी, पृष्ठ ४६।

की आधारभूमि भी है और लक्ष्य भी। व्हाइटहैड का दृष्टिकोण विशुद्ध दार्शनिक है और उसने जिन प्रेम और वात्सल्य शब्दों का प्रयोग किया है, वे बहुधा धर्मीय तत्त्वों के लिए ठीक उपयुक्त नहीं हैं। इसके अलावा व्हाइटहैड की विचार धारा के अनुसार ईश्वर पर यथार्थता की प्रक्रिया का भी प्रभाव पड़ता है। उसकी प्रकृति विश्व-प्रक्रिया के रूप में ही पूर्णतः साकार होती है। हर अवस्था मे उसके दो पहलू होते हैं। एक अतीत होता है जो फिर से लौटाया नहीं जा सकता और साथ ही एक भविष्य भी होता है जो अभी तक विद्यमान नहीं है। जब ईश्वर की योजना पूर्ण हो जाती है जब मात्र प्रकृति परिणत प्रकृति बन जाती है स्पिनोज़ा के शब्दों में जब 'नेचुरा नेचुरन्स' और 'नेचुरा नेचुरैटा' एक ही हो जाते हैं तब ईश्वर का क्या होता है यह स्पष्ट रूप से नहीं बताया गया है।

९ ईश्वर

घटनाओं के ऐतिहासिक संसार की व्याख्या हम उसके अपने भीतर से नहीं कर सकते। ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे दिए जाने वाले प्रसिद्ध प्रमाणों से यही तथ्य हमारे सामने आता है। हो सकता है कि ये प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व को तर्क से सिद्ध न कर सकते हों किन्तु जब अन्य उपायों से हमारे मन में ईश्वर के अस्तित्व का निश्चय हो जाता है तो ये प्रमाण हमे उसकी तर्क-सगतता को समझने मे सहायता अवश्य देते हैं। तर्क का कार्य प्रमाण देना उतना नहीं है जितना कि अनिर्णीत वस्तु के सम्बन्ध में निर्णय करना है। रहस्यवादी लोग ईश्वर की यथार्थता को जिस रूप मे अनुभव करते हैं वह वैज्ञानिक तथ्यों और उन पर आधृत तर्क के साथ बहुत सगत है।

प्राकृतिकवाद की अपर्याप्तता यह सिद्ध करती है कि विश्व की प्रक्रिया की जिसमे क्रम-व्यवस्था भी है और सृजनात्मकता भी व्याख्या के लिए एक सृजनात्मक शक्ति का होना अनिवार्य है। क्योंकि विश्व की प्रक्रिया के मूल उद्गम की खोज मे हम चाहे कितना भी पीछे जाएँ हम देश या काल से बाहर नहीं जा सकते और न हम देश-काल की संरचना की ही कोई ठीक-ठीक व्याख्या कर सकते हैं। ब्रह्माण्ड की तर्कयुक्तता हम यह बताती है कि उसका सृजन करने वाली सृजनात्मक शक्ति मन या आत्मा है। इस सृजनात्मक शक्ति को प्राण-शक्ति या जीवन मानना था जैसा कि बर्गसाँ का कहना है कोई कारण नहीं है। हम उसे आत्मा भी नहीं मान सकते क्योंकि आत्मा उन वस्तुओं में उच्चतम है जिन्हें

हों। यदि मनुष्य का जीवन उतना ही है जितना कि हम देखते हैं यदि जन्म से पूर्व और मृत्यु के बाद उसका कोई जीवन नहीं है तो शायद हमारे लिए यह सिद्ध करना सम्भव नहीं होगा कि विकट कष्ट-सहन और असह्य वेदना की कीमत चुकाकर अन्ततः विश्व में अच्छाई और कल्याण का ही प्राधान्य होता है। धर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त हमें यह बताते हैं कि विश्व के मूल्य पर असत्य अशिव और असुन्दर की वास्तविकता का कोई असर नहीं पड़ता। ब्रह्माण्ड एक है और उसमें से तत्त्व क्रमिक प्रक्रिया से अपने विपरीत तत्त्वों में परिणत होते जाते हैं।

आध्यात्मिक अनुभव और धर्म के कार्य की यथार्थता से हम स्वभावतः उस परिवेश की यथार्थता का अनुमान कर सकते हैं जिसमें कि इस कार्य का उपयोग होता है। हमने यह देखा है कि वस्तु और उसका परिवेश साथ-साथ रहते हैं और दोनों को एक बृहत्तर समष्टि की जिसमें दोनों शामिल हैं अभिव्यक्ति माना जा सकता है। मनुष्य की धार्मिक प्रवृत्तियाँ केवल उसके कालिक परिवेश तक ही सीमित नहीं रह सकतीं। उन्हें एक ऐसी अकालावच्छिन्न अच्छाई (शिव) की आवश्यकता है जो कालिक संसार की वस्तु नहीं है। आत्मा और ब्रह्माण्ड की पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया ने इन प्रवृत्तियों की आकांक्षाओं को जन्म दिया है जो इन दोनों (ब्रह्माण्ड और आत्मा) की संयुक्त उपज हैं। संसार में जो दावे और जवाबी दावे किये जाते हैं वे नैतिक भावना को सन्तुष्ट नहीं कर सकते। कालावच्छिन्न संसार ही एकमात्र और अन्तिम संसार नहीं है। ब्रह्माण्ड का तर्कमुक्त और स्रोत रूप स्वरूप हमें यह मानने के लिए पर्याप्त औचित्य और आधार प्रदान करता है कि संसार का एक आध्यात्मिक परिवेश भी है।

एक ऐसा ईश्वर, जो एक चेतन उद्देश्य से काम करने वाला सर्वव्यापी मन है जो विश्व का आदि उसके क्रम और व्यवस्था का रचयिता उसकी प्रगति का मूल तत्त्व और साथ ही उसके विकास का उद्देश्य भी है तब तक धर्म का ईश्वर नहीं हो सकता जब तक कि हम धार्मिक चेतना के तथ्यों को दृष्टि में न रखें। हमारा नैतिक जीवन हमें बताता है कि ईश्वर केवल नैतिक प्रयत्न का बढ़ाव ही नहीं है बल्कि वह उसका आदि-स्रोत और सम्पादक भी है। हमारा आध्यात्मिक अनुभव हमें बताता है कि एक सर्वोच्च और सर्वसमावेशी सत्ता भी है। विश्व की संरचना और मानव के मन में एक सम्बन्ध है। हमारे ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष ज्ञान हमारी तार्किक अवधारणाएँ, हमारे अन्तर्ज्ञानात्मक बोध यथार्थता पर ऊपर से थोप हुए आकार नहीं हैं बल्कि स्वयं यथार्थता के अपने निर्धारित आकार

अपूर्णताओं को भाड़ फेंकने के लिए सफल करती है और ईश्वरीय मन में विद्यमान जगत के आकारों को प्रतिबिम्बित करती है। ईश्वर इस प्रक्रिया में व्यापक होता है इसलिए वह प्रगति का आधार भी होता है और पथ-निदेशक भी। वह केवल रक्षक ही नहीं होता बल्कि विश्व की प्रसव-वेदना में हिस्सा भी बँटाता है। ईश्वर का विष्णु रूप एक प्रकार से बलिदान है। वह सतत रूप से ब्रह्माण्ड की उन सब परिस्थितियों का विरोध करता रहता है जो असत्य अशिव और असुन्दर का कारण है जो केवल अमूर्त सम्भावना-मात्र नहीं है बल्कि ब्रह्माण्ड के वास्तविक सघर्ष को यथार्थ बनाने वाली मूर्त शक्तियाँ हैं। ईश्वर हमारे लिए अपनी इच्छाओं को साकार करने के लिए अपनी प्रेम की समस्त सम्पदा को उँडेल देता है। वह असत्य अशिव और असुन्दर की शक्तियों का प्रतिरोध करने और उन्हें सत्य शिव और सुन्दर में परिणत करने मे हमारी सहायता का भार वहन करता है। ऋग्वेद मे कहा गया है 'जो कुछ नग्न है उसे वह आवृत करता है जो कुछ रोग ग्रस्त है उसे वह नीरोग करता है। उसकी कृपा से अन्धे को दृष्टि प्राप्त होती है और लगडा चलने लगता है। 'ईश्वर सब प्राणियों का आश्रय और मित्र है। ऋग्वेद का कहना है कि 'तू हमारा है और हम तेरे हैं। ईश्वर हमें जगत में ले जाकर अकेला भटकने और स्वय अपना मार्ग खोजकर वापस लौटने के लिए नहीं छोड देता। हिन्दू पुराणों मे ईश्वर की एक ऐसे नित्य याचक के रूप मे कल्पना की गई है जो इस बात की प्रतीक्षा में रहता है कि द्वार खुले तो वह अन्धकार मे विद्युत् की तरह घुस जाए और हमारी समस्त सत्ता के विस्तीर्ण क्षितिज को आलोकित कर दे। इस कल्पना के अनुसार मानव ईश्वर की उतनी खोज नहीं करता जितनी कि ईश्वर मानव की खोज करता है। वह हमें क्लिष्ट अरण्य के सकटो से बाहर निकालने के लिए स्वयं उसमें प्रवेश करता है। ईश्वर ससार को इतना प्यार करता है कि वह अपने-आपको उसके हाथों में सौंप देता है। अपनी प्रकृति को हममे सचारित करने के लिए वह हमें अपनी सृजनात्मक शक्ति मे हिस्सेदार बनाता है। वह हमसे यह आशा करता है कि हम उसकी पुकार को पहचान और सुन और उसके साथ सहयोग करें। वह चाहता है कि हम उसे अपना मित्र प्रेमी और सखा समझे। ईश्वर पर विश्वास न करना उसके उद्देश्य को

ऋ् २ ४ ।
श्वेताश्वतर उपनिषद भगवद्गीता ६ भी देखिए।
१ ११ ११।

उसके प्रेम का आदर बन्द कर देते हैं और स्थिति को गम्भीर बना देते हैं। जब संसार पर ईश्वर का प्रभाव संकटग्रस्त हो जाता है तब उसका सतत प्रेम अपने आपको एक अद्भुत और आश्चर्यजनक रूप मे अभिव्यक्त करता है। ईसाई धर्म के अनुसार ऐसा कहा जाता है कि जब परिस्थितियाँ अत्यन्त गम्भीर और संकटापन्न बन गई तब एक बार तो ईश्वर ने ऐसा जल-प्रलय भेज दिया जिसने लगभग समूचे मानव-समाज को नष्ट कर दिया और दूसरी बार ऐसे ही अवसर पर उसने अपने एकमात्र पुत्र को पृथ्वी पर भेजा। इसका अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर का प्रेम एक अतात्विक गुण है जो मनुष्य के पतन के समय ही अभिव्यक्त होता है। हमें यह सोचने की आवश्यकता नहीं है कि ईश्वर सिर्फ इसलिए हमारी रक्षा या परित्राण के लिए आता है कि यह सृष्टि अपने पथ से भ्रष्ट हो गई है। प्रेम ईश्वर के अन्तरतम में व्याप्त है। पूर्ण और समग्र आत्मार्पण ईश्वरीय क्रिया का स्वरूप है हालांकि उससे लाभ उठाने की शक्ति उन लोगों की क्षमता पर निर्भर है जिन्हें यह प्राप्त होता है।

ईश्वर का उद्धार-कार्य उसकी एक सतत् और अनवरत क्रिया है, हालांकि हम उस पर बल उस समय देते हैं जबकि नैतिक व्यवस्था किसी प्रकार विपर्यस्त होती है। ईश्वर अपने-आपको आश्चर्यजनक अद्भुत रूपों में उस समय अभिव्यक्त करता है जबकि नयी व्यवस्थाएँ और नये रूपाकार आवश्यक होते हैं। हिन्दू पुराणों में ईश्वर के इन विशिष्ट रूपों को अवतार कहा जाता है। सामान्य प्रचलित विश्वास यह है कि जब अन्धकार घिर आता है समुद्र और अधिक गहरे हो जाते हैं और उथल-पुथल उलटने-पुलटने को होता है उस समय ईश्वर स्वयं एक अद्भुत रूप में शरीर धारण करके पृथ्वी पर अवतीर्ण होता है। किन्तु आध्यात्मिक जीवन की सतत् प्रेरणा ऐसे उद्देश्यों की बढ़ती हुई अभिव्यक्ति जिसमें कि ईश्वरीय जीवन अपने रूप मे प्रकट होता है और सर्वव्यापी नियम-व्यवस्था जिसके कारण यह सारा संसार एक है और जो अपने विभिन्न तत्त्वों की पारस्परिक अनुक्रियाओं को एक विशेष दिशा मे डालता है—ये सभी चीज़ें सम्पूर्ण ईश्वर के अवतारी रूप धारण करने की करने की कल्पना के साथ संगत नहीं हैं। संसार में निहित सम्भाव्यताओं की पूर्ति और साकारता की दिशा में चल रही समस्त प्रगति ईश्वर का सतत् अवतारी रूप ही है। किन्तु यह सही है कि आध्यात्मिक मूल्यों की अभिव्यक्ति को हम ईश्वर की अभिव्यक्ति या मानवीय क्षमताओं की पूर्ति के रूप मे देख सकते हैं। ईश्वर की अभिव्यक्ति और मानव के ध्येय की पूर्ति ये दोनों

जहाँ तक संसार का सम्बन्ध है ईश्वर उसके साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। ईश्वर को संसार से अलग नहीं किया जा सकता। हिन्दू दार्शनिक रामानुज ने संसार के साथ ईश्वर का वही अनुरागी सम्बन्ध माना है। उसका कहना है कि विश्व का ईश्वर के साथ शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है, वह पूर्णतः उसी पर निर्भर है। ईश्वर विश्व-रूपी इस शरीर का पोषक और आन्तरिक नियंत्रक दोनों है। ईश्वर के जीवन में संघर्ष और वृद्धि दोनों यथार्थ हैं। काल ब्रह्माण्ड प्रक्रिया का जिसमें नैतिक जीवन भी शामिल है एक अनिवार्य तात्त्विक आकार है और ईश्वर के लिए भी उसकी सार्थकता है। नित्य जीवन जो हमें काल के भीतर वृद्धि की सीमाओं से परे ले जाता है हमें परम ब्रह्म की ओर से आ सकता है किन्तु ईश्वर तत्त्वतः कालावच्छिन्न जीवन से बँधा हुआ है। पूर्ण ब्रह्म की दृष्टि से प्रगति अवांछनीय हो सकती है किन्तु ईश्वर के लिए वह अवांछनीय नहीं है बल्कि उसकी उसमें गहरी दिलचस्पी रहती है। विश्व की प्रक्रिया अवश्य ही एक उद्भव है किन्तु वैसा उद्भव नहीं जिसका उल्लेख अलेक्जेण्डर ने किया है। यह ईश्वर के पथ-प्रदर्शन में होने वाला उद्भव है और वह उस सारी प्रक्रिया में व्याप्त रहता है हालाँकि उसका लक्ष्य उस (प्रक्रिया) से परे होता है। विश्व की प्रक्रिया का अर्थ प्रारम्भ से विद्यमान वस्तु का अनावरण-मात्र नहीं है। यह निरे पूर्व-निर्माण का प्रश्न नहीं है। विश्व का अन्त प्रारम्भ से ही उसके आदि में ऐसा निहित नहीं है कि ईश्वर इस सारी प्रक्रिया के लिए सर्वथा अनावश्यक हो जाए। जो लोग विकास के इस तथ्य का जरा भी मूल्यांकन करते हैं वे संसार का अन्त पहले से ही उसके आदि में निहित होने का सिद्धान्त स्वीकार नहीं कर सकते हालाँकि बेर्गसाँ-जैसे लेखक का भी जो विकास की सृजनात्मकता पर बल देता है, विचार यह प्रतीत होता है कि जीवन का समूचा विकास और उसकी संरचना के समस्त क्रमिक रूप पहले से ही जीवन के भीतर प्रसुप्त रूप में विद्यमान हैं। उसका कहना है 'जीवन किन्हीं तत्त्वों को बाहर से आत्मसात् करके या अपने भीतर बनाकर आगे नहीं बढ़ता बल्कि वह अपने-आपको ही विभक्त और विघटित करके आगे बढ़ता है। किन्तु यह दृष्टिकोण बेर्गसाँ की शिक्षाओं के मध्य अभिप्राय के साथ संगत नहीं है। विश्व हमेशा निर्माण की दशा में है

और निरन्तर उसका सृजन होता रहता है और परिवर्तन की यथार्थता यह सिद्ध करती है कि यह संसार समाप्त तो है ही एक ऐसी निर्माण-सामग्री भी है जो हर समय अपना अर्थात् संसार का निर्माण करती रहती है। यह संसार पहले से पका बना-बनाया संसार नहीं है। सृजनात्मक आवेग पहले से ही विद्यमान रहता है, किन्तु सृजन के फलस्वरूप बनने वाले आकार ब्रह्माण्ड के दबाव के कारण बनते हैं। केवल इसी दृष्टिकोण के आधार पर हम विभिन्न प्रवृत्तियों वाले इस संसार के व्यवस्थित और क्रमबद्ध स्वरूप की व्याख्या कर सकते हैं। यदि भौतिक वस्तु, जीवन, चेतना और मूल्य इन सबका समग्र रूप से स्वतन्त्र विकास होता है तो उसमें जो एकत्व हम देखते हैं उसकी कोई-न-कोई व्याख्या हमें करनी होगी। उस दशा में हमें सम्पूर्ण सामंजस्य के संसार में पहले से ही स्थापित सहस्वरता और समन्वय के सिद्धान्त-जैसा कोई सिद्धान्त स्वीकार करना होगा। विश्व की यथार्थ सत्ता एक है और वह एक पूर्ण सत्ता के रूप में ही आगे बढ़ता है। अंशों की वृद्धि में पूर्ण सत्ता का नियन्त्रण विद्यमान रहता है फिर चाहे वह रासायनिक जैविक हो या सांस्कृतिक आन्दोलन। विश्व की प्रक्रिया एक सृजनात्मक अग्रगमन है जिसमें निर्माणात्मक ऊर्जा, स्थानीय स्थिति और ब्रह्माण्डीय नियन्त्रण उत्पादक कारण के रूप में विद्यमान रहते हैं। वस्तु का अन्तिम सत्य उसके आदि में निहित नहीं होता। किन्तु अन्तिम सत्य की ओर अभिरुचि और उसकी वास्तविकता का हम उस प्रक्रिया में पता नहीं कर सकते जो हमें उसकी ओर ले जाती है। ऐसा ईश्वर जिसने विश्व के प्रारम्भ में ही सब-कुछ पहले से व्यवस्थित कर दिया है और जो बाद में न उसमें परिवर्तन कर सकता है और न कोई नया सृजन, ईश्वर ही नहीं है। यदि ब्रह्माण्ड वस्तुतः रचनात्मक है, तो ईश्वर संसार में उसी प्रकार काम करता है जैसे कोई सृजनात्मक प्रतिभा वाला व्यक्ति करता है। अन्तिम सत्य निर्माण की प्रक्रिया में बढ़ता है और प्रक्रिया के अंगों के माध्यम से एक निश्चित आकार धारण करता है। इस प्रकार संसार की प्रक्रिया में आदि से अन्त तक एक अनिवार्यता बनी रहती है किन्तु जैसे-जैसे वास्तविकता की मात्रा बढ़ती जाती है वैसे-वैसे यह अनिश्चितता कम होती जाती है। सर्जनकर्ता ईश्वर (ब्रह्मा) कागज पर निर्दिष्ट नमूने वाले पर कलाकार की प्रतिभा के साथ कार्य करता है।

यद्यपि ईश्वर संसार में व्याप्त है फिर भी जब तक अन्तिम सिद्धि वस्तुतः न हो जाए तब तक ईश्वर और संसार एक नहीं हैं। अन्यथा इतिहास के

ईश्वर में कुछ ऐसा अंश बना रहता है जिसकी पूर्ति (पूर्ण साकारता) नहीं हो सकी किन्तु जब हम अन्तिम सत्य पर पहुँच जाते हैं तब यह अपूर्णता खत्म हो जाती है। तब पूर्ण ब्रह्म का राज्य आ जाता है। ईश्वर, जो इस ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप से संयुक्त रहता है यह अवस्था आ जाने पर ब्रह्म की पृष्ठभूमि में चला जाता है। आदि और अन्त ऐसी संकल्पनाएँ हैं जो हर वस्तु को सीमित और मर्यादित करती हैं और संसार की सबसे बड़ी दिलचस्पी इन दोनों की मध्यवर्ती प्रक्रिया पर केन्द्रित रहती है। ईश्वर स्रष्टा और अन्तिम निर्णायक की अपेक्षा पालक और समुद्धर्ता अधिक है। धर्म तत्त्वतः मनुष्य की ही रचना है और इस प्रकार वह इस बात का आग्रह करता है कि ईश्वर मनुष्य से 'भिन्न' है। यदि ईश्वर मनुष्य से भिन्न न हो तो उसकी पूजा उसका प्रेम और मनुष्य का पश्चात्ताप सब अर्थहीन हो जाएँ। हम ईश्वर के साथ एकत्व स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, उसकी इच्छा को अपनी इच्छा बनाने और उसके साथ सखा और मित्र का भाव पैदा करने की चेष्टा करते हैं। ईश्वर एक यथार्थ जीवन्त सत्ता है जो हममें विश्वास प्रेम भक्ति और आत्मार्पण की भावनाएँ पैदा करती है। मुक्ति ईश्वर की कृपा से भक्ति और ईश्वर-विश्वास तथा ईश्वरार्पण के द्वारा प्राप्त होती है। हर सच्चे धर्म में हम ईश्वर के प्रति आस्था और एक ऐसे जीवन्त ईश्वर की अनुभूति पाते हैं जो हमें पापों से बचाता और मुक्त करता है। ईश्वर का प्रेममय रूप उसके ज्ञानमय और प्रभु रूप से अधिक प्रबल है। उसके ज्ञानमय और प्रभु रूप ही यदि अधिक प्रबल और प्रधान माने जाएँ तो उससे उन सिद्धान्तों को अधिक बल मिलेगा जिनमें यह माना जाता है कि ईश्वर ने सब-कुछ पहले से ही नियत और निर्धारित कर दिया है। उस दशा में विश्व की यह प्रक्रिया अर्थहीन हो जाएगी और मनुष्य की स्वतन्त्रता और ईश्वर का प्रेम भ्रम-मात्र रह जाएँगे। यदि यह सत्य है कि ईश्वर ने पहले से ही सब-कुछ निर्धारित और निश्चित कर रखा है तो नवीनताओं की सृष्टि मनुष्य का ईश्वर के प्रति प्रेम, विश्वास और आश्रय तथा ईश्वर की कृपा सब निरर्थक भ्रम ही होंगे। प्राचीन महाकाव्य महाभारत में युधिष्ठिर की पत्नी द्रौपदी अपने भाग्य को कोसती है और कहती है कि शायद मनुष्य के भाग्य में जो कुछ बदा होता है वही होकर रहता है। उसे संसार में नैतिकता का शासन निरी कपोल-कल्पना प्रतीत होता है। वह अपने शब्दों की पुष्टि में एक प्राचीन कथा का प्रमाण उपस्थित करती है। अपने सिंहासन के अधिकार से वंचित और वन-वन में भटकते अभाव और विपत्ति से

पूरी नहीं हो जाती तब तक व्यक्ति अपना केन्द्र अपने भीतर ही रखता है और क्योंकि प्रक्रिया की पूर्णता उससे ऊपर और अतीत होती है इसलिए ईश्वर उससे भिन्न होता है और वह उसमें अपनी आवश्यकता की भावना पैदा करता है। ईश्वर एक व्यक्तिगत सत्ता के रूप में माना जाता है और उसके साथ मनुष्य का सम्बन्ध सहयोग और निर्भरता का सम्बन्ध होता है। ईश्वर ही मनुष्य की अन्तिम सन्तुष्टि है, उसी में वह अपनी आत्मपूर्णता पाता है। वह अपने आपको ईश्वर के स्वरूप के अनुसार बनाना चाहता है—उसके समान पूर्ण शक्ति और पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति की चेष्टा करता है।

७ ब्रह्म

यद्यपि ईश्वर के वैयक्तिक प्रेममय स्वरूप में धर्म की कुछ आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं फिर भी कुछ ऐसी आवश्यकताएँ भी रह जाती हैं जिनकी इससे पूर्ति नहीं होती। उच्चतम आध्यात्मिक अनुभव में हमें एक सन्तोष विश्रान्ति नित्यता और पूर्णता की अनुभूति होती है। इन आवश्यकताओं ने मानव के विमर्श और चिन्तन के प्रारम्भ से ही उसके मन में एक ऐसी निर्विकार और निरभिनिविष्ट पूर्ण सत्ता (ब्रह्म) की कल्पना पैदा की है जो ब्रह्माण्ड के जीवन के अविश्राम कोलाहल से ऊपर है। यदि ईश्वर संसार के साथ बँधा हुआ है यदि वह काल से अविच्छिन्न है, यदि मनुष्य की स्वतन्त्रता और सत्ता की परिस्थितियाँ उसके कार्य को मर्यादित करती हैं तो वह अपने जीवन के गुण शक्ति ज्ञान और न्याय्यता में चाहे कितना ही अपार और असीम हो वह पूर्ण नहीं है बल्कि पूर्ण की एक अभिव्यक्ति एक रूप-मात्र है। किन्तु मनुष्य चाहता है संसार के अपने सच्चे रूप को जानना उस आदि सत्ता को जो समय और संख्या से भी पहले विद्यमान अकालावच्छिन्न और अद्वितीय सत्ता को ऋग्वेद के शब्दों में उस प्राणवान् अप्राण को विशुद्ध एकमात्र और नाम-रूपहीन निराकार सत्ता को जो कुछ भी नहीं है और फिर भी सब-कुछ है जो सब आकारिक अभिव्यक्तियों से अतीत है और फिर भी समस्त अभिव्यक्तियों और आकारों का आधार है जिसमें सब-कुछ विद्यमान है और फिर भी सब-कुछ विलीन हो जाता है। धर्म के दर्शन की एक बड़ी समस्या हमेशा यह रही है कि ब्रह्म का जो एक तरह से नित्य पूर्ण है ईश्वर के स्वरूप के साथ समन्वय किया जाए, जो कि एक आत्मनिर्णायक तत्त्व के रूप में एक कालावच्छिन्न विकास में जिसमें

है। ससीम वस्तुओं की असीम शृंखला असम्भव नहीं है। पूर्ण ब्रह्म में उससे अधिक तत्त्व समाविष्ट है जितना कि इस विश्व से प्रकट होता है।

यदि हमसे यह प्रश्न किया जाए कि इसी सम्भावना को वास्तविक आकार क्यों प्रदान किया गया तो इसके उत्तर में हम केवल यही कह सकते हैं कि रंगमंच की दर्शक-मंडली में बैठकर हम यह कैसे जान सकते हैं कि परदे के पीछे नेपथ्य में क्या हो रहा है। यह माया है और हमें आदर एवं श्रद्धा के साथ उसे स्वीकार करना है।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि पूर्ण ब्रह्म की प्रकृति ही ऐसी है कि वह अतिप्रवाही हो और सम्भावनाओं को साकार करे। हिन्दू शास्त्रों, प्लेटो के ग्रन्थों और पारसी पौराणिक गाथाओं में सूर्य को भी एक महान् प्रतीक के रूप में माना जाता है वह ब्रह्म के उदार आत्मार्पण और आनन्दमय रूप को प्रकट करता है और ब्रह्म अपने अन्तर में निहित सम्पदा से लबालब भरा है और सभी को उदारता से अपना दान कर रहा है। प्लेटो के ग्रन्थ में टाइमेयस कहता है कि यह सृष्टि इसलिए बनी है कि परम शिव चाहता है कि उसकी अच्छाई उसके ऊपर प्रवाहित होती रहे। भारतीय ग्रन्थों में सृष्टि को जो ईश्वर की लीला माना गया है उसका अर्थ ही यह है कि ब्रह्माण्ड की रचना एक खेल और विनोद की चीज है। खेल या लीला शब्द का व्यवहार आम तौर पर आदर्श सम्भावनाओं के लिए किया जाता है। लीला अपना उद्देश्य स्वयं है और यही अपना सतत पुरस्कार भी है। पूर्ण सत् में आदर्श सत्ता का एक पूर्ण राज्य विद्यमान है और साथ ही वह स्वतन्त्र सृजनात्मकता भी है। यद्यपि संसार का सर्जन ब्रह्म की कभी समाप्त न होने वाली क्रियाशीलता में एक घटना-मात्र है, तथापि वह ईश्वर में एक अभाव और आकांक्षा को पूरा करता है। संसार ईश्वर के लिए उसी तरह अनिवार्य है जैसे ईश्वर संसार के लिए है।

इस संसार का सृजन, पालन और लय करने वाला ईश्वर अर्थात् ब्रह्म से सर्वथा व्यतिरिक्त और सम्बद्ध नहीं है। मानवीय पक्ष से देखा जाए तो ईश्वर ही पूर्ण ब्रह्म को वास्तविक सम्भावना के साथ उसके सम्बन्ध तक सीमित कर देते हैं तब वह ज्ञानमय, प्रेममय और कल्याणमय प्रतीत होता है। विश्व सत्ता ही प्रथम और अन्तिम बन जाती है। विश्व 'मैं हूँ' की भावना परिवर्तनहीन केन्द्र और सब परिवर्तनों के कारण ब्रह्म को हम प्रकृति के क्रम में आदि और अन्त

१ ११ ई ।